बगड़ी मारवाड़ से प्राप्त हुए हैं। उदार सज्जनो की कृपा के कारण हम इस बार भी पुस्तक की लागत ॥) होते हुए भी अर्द्ध मूल्य ।) में वितरण करने में समर्थ हो सके हैं। इन सज्जनों की उदारता सराहनीय एवं अनुकरणीय है।

यद्यपि दूसरी आवृत्ति छापने के लिए पुस्तक को हम गत-चातुर्मास में ही प्रेस के हवाले कर चुके थे और पुस्तक का बहुत भाग चातुर्मास समाप्त होने तक छप भी चुका था, लेकिन प्रेस पर सरकार की कृपा होने से पुस्तक का कार्य डेढ़-दो मास के लिए रुक गया। यही कारण है कि ग्राहकों की माँग होने पर भी हम पुस्तक को यथासमय प्रकाशित करने में असमर्थ रहे।

हम पहली आवृत्ति में यह निवेदन कर ही चुके हैं कि 'पूज्य श्री का व्याख्यान साधु-भाषा में शास्त्र-सम्मत ही होता है, लेकिन कार्यकर्त्ताओं से गल्ती होना सम्भव है।' यही बात हम फिर दुहराते हैं और पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि किसी त्रुटि के दृष्टिगोचर होने पर सूचित करने की कृपा करें। इत्यलम्

श्री सा० जैन पू०
हु० म० के सं०
का हितेच्छु श्रावक
मण्डल आफिस
रतलाम
चैत्र पूर्णिमा १९८९

बालचन्द श्रीश्रीमाल, वर्द्धमान पीतलिया
सेक्रेटरी प्रेसीडेण्ट

प्रथमावृत्ति की समालोचनाओं का

सिंहावलोकन ।

"...... पुस्तक का कथानक जैन-ढङ्ग का होने पर भी उसमें चरित्र-चित्रण की सफलता देखी जाती है। भावों का बारीक-से-बारीक विश्लेषण करने में आचार्य महोदय को काफ़ी सफलता मिली है। पुस्तक में आद्योपान्त अहिंसा के साथ-ही-साथ शुद्ध राष्ट्रीयता का पुट भी पाया जाता है। धार्मिक पुस्तकों में इस तरह राष्ट्रीयता का मिश्रण अन्यत्र कम मिलता है।..."

—'त्यागभूमि' अजमेर

× × ×

"......शिक्षा की दृष्टि से यह निःसंकोच कहा जा सकता है, कि यह पुस्तक, इस विषय पर लिखी गई अन्य अनेक पुस्तकों से बहुत अच्छी है। वक्ता महोदय ने यथासाध्य हरिश्चन्द्र के जीवन के प्रत्येक पहलू को शिक्षाप्रद बनाने की चेष्टा की है और इसमें वे काफ़ी सफल हुए हैं।..."

—'राजस्थान-सन्देश' अजमेर

× × ×

"......जैन धर्म के ग्रन्थों मे वर्णित कथानक के आधार पर इसकी रचना की जाने से, पुराण-कथित हरिश्चन्द्र से प्रस्तुत हरि-

अन्द्र कुछ भिन्न रूप में दिखलाये गये हैं। उनके प्रारम्भिक जीवन की कई घटनाएँ, जो आज तक हिन्दी-साहित्य के किसी भी ग्रन्थ में देखने में नहीं आतीं, इसमें वर्णित हैं।

× × कथानक के साथ-साथ नीति, धर्म का और सदाचार के धार्मिक उपदेशों के कारण पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।..."

—'स्वराज्य' खण्डवा

× × ×

"...इस (पृ. ७-८) कथन में मोह को प्रेम से विपरीत सिद्ध किया गया है, लेकिन जैनसिद्धान्त से यह बात विपरीत है। उसमें प्रेम को मोहनीय कर्म का ही भेद माना गया है।

× × पुस्तक उच्चभावों और उपमाओं से ओत-प्रोत है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष पाठक को पठनीय है।..."

—'जैन-ग्रन्थ-प्रदर्शक' आगरा

इस समालोचना के द्वारा पुस्तक में प्रेम और मोह भिन्न-भिन्न होने की त्रुटि बतलाई गई है। यद्यपि समालोचक महाशय ने पुस्तक को देखकर समालोचना करने का कष्ट किया है—'जैन-प्रकाश' की तरह दो ही लाइन में समालोचना समाप्त नहीं करदी है—इसके लिए हम समालोचक महाशय को धन्यवाद देते हैं, लेकिन उनके उक्त कथन से—अर्थात् मोह और प्रेम एकही है

इससे—हम असहमत हैं। हाँ, प्रेम है सरागावस्था में ही—वीत-रागावस्था में नहीं—लेकिन सरागावस्था के राग के भी अनेक भेद हैं, जिनमें से एक धर्म राग है और दूसरा अधर्म राग। धर्मराग को 'प्रेम' और अधर्म राग को मोह रूप अज्ञान कहते हैं। इस बात के प्रमाण शास्त्र में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। जैसे—'धम्मेन-रागेण प्रेमानुरागरत्ता', 'अट्ठिमिंजा पेमानुराग रत्ता' 'धम्माडियाणं अनुरागेणं' आदि। ये प्रमाण धर्म राग के है और ऐसे राग को ही 'प्रेम' कहते हैं। इसी प्रकार अधर्म राग के भी प्रमाण शास्त्र में मिलते हैं, जैसे—'राग मोहियामयो', इस प्रकार के राग को ही 'मोह' कहते हैं, इसीलिए प्रेम और मोह को भिन्न-भिन्न मानना और प्रेम को मोह से तथा मोह को प्रेम से भिन्न और विपरीत बताना, ठीक ही है।

× × ×

"...शिक्षा की दृष्टि से सर्व-साधारण के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।..."

'जैन प्रकाश' बम्बई

× × ×

कलकत्ता से निकलने वाले 'ओसवाल नव-युवक मासिक' पत्र ने अपने ज्येष्ठ सं० १९८८ के अंक में 'सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र-तारा, की जो समालोचना प्रकाशित की है, उसे देख कर हमें 'ओसवाल नवयुवक' के उभय सम्पादक की बुद्धि पर दया आती है। सम्पा-

और सब विद्वानों ने साँप को सरीसृप जीवों में ही माना है। ऐसी दशा में सम्पादकों ने साँप को पशु-पक्षी और वृक्ष या उसके फल का अधिकारी किस आधार पर माना, यह समझ में नहीं आता।

साँप, न तो फल ही खाता है, न वृक्ष पर ही रहता है। उसका निवास स्थान 'बाँबी' और भोजन 'वायु' तथा 'जीव' प्रसिद्ध है। इसलिए, साँप, किसी भी दशा में वृक्ष या उसके फल का अधिकारी नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि जिस प्रकार मनुष्य, भूमि पर रहने वाले होते हुए भी नाविक लोग जल पर भी रहते हैं, इसी प्रकार सर्प बाँबी के रहने वाले होते हुए भी, कोई सर्प वृक्ष पर भी रहता हो। लेकिन इस अपवाद स्वरूप वृक्ष पर रहने से 'साँप, वृक्ष निवासी है,' यह उसी प्रकार नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार नाविकों को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि 'मनुष्य जल पर निवास करने वाला है'।

वृक्ष या फल पर, साँप का कोई अधिकार नहीं है, यह बात सिद्ध है। इसके सिवा रोहित ने यह भलीप्रकार विवेचन किया है, कि इस वृक्ष और इसके फलों का मैं किस प्रकार अधिकारी हूँ। उसने साँप से स्पष्ट कहा है कि "तू फल तो खाता नहीं है, मैं भूखा हूँ, और यह वृक्ष मेरी प्रार्थना पर ही ईश्वर ने भेजा है।" इस प्रकार कहकर रोहित ने साँप को, वृक्ष या फल का अनधिकारी और अपने-आपको अधिकारी सिद्ध किया है। यह बात दूसरी

है कि रोहित ने उस वृक्ष को ईश्वर का भेजा हुआ समझा, लेकिन रोहित की इस ग़ल्ती के कारण उस वृक्ष या उसके फल पर साँप का अधिकार नहीं हो सकता; न फलाहारी मनुष्य होते हुए भी, रोहित, फल का अनधिकारी ही हो सकता है।

अपना अधिकार सिद्ध करके भी रोहित ने, अनाधिकारी सर्प को हिंसात्मक उपायों से भगाने की चेष्टा नहीं की है। फिर भी सम्पादकगण लिखते हैं कि "...सर्प को भगाने का प्रयत्न हिंसा अथवा दुराग्रह ही कहा जायगा।..." इससे जान पड़ता है, कि सम्पादकगण किसी दूसरे आवेश में वास्तविकता को भी भूल गये हैं। यदि ऐसा न होता तो, वे उक्त बात लिखकर यह बताने की चेष्टा न करते कि 'सर्प को भगाने का प्रयत्न किया गया'। रोहित ने न तो सर्प को भगाने के लिये ढेला कंकर या लकड़ी ही फेंकी, न उसके लिए किन्हीं कटु-शब्दों का ही प्रयोग किया। हाँ, मार्ग छोड़ने के लिए अवश्य कहा। यदि इस प्रकार अहिंसात्मक उपायों द्वारा अपने अधिकारों को प्राप्त करने की चेष्टा का नाम भी 'सर्प को भगाने का प्रयत्न' और 'हिंसा अथवा दुराग्रह' होगा, तो फिर सम्पादक गण 'अहिंसा अथवा सत्याग्रह' में किन कार्यों की गणना करेंगे? और रोहित के क्या करने पर वे यह मानते कि 'रोहित ने अहिंसात्मक सत्याग्रह किया।'

अपने अधिकार की वस्तु को अहिंसात्मक रीति से प्राप्त

करने की चेष्टा को भी 'ओसवाल नवयुवक' के सम्पादकगण 'हिंसा अथवा दुराग्रह' कहेंगे और इसकी पुष्टि में जैन धर्म के सिद्धान्तों की दुहाई देंगे, तो फिर इससे विपरीत उपाय को अहिंसा अथवा सत्याग्रह में मानना पड़ेगा; जो जैन धर्म के सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष ही विरुद्ध होगा। ऐसा होने पर तो महात्मा गाँधी द्वारा चलाये हुए राजनैतिक अहिंसात्मक आन्दोलन को भी 'हिंसा अथवा दुराग्रह' ही मानना होगा। क्योंकि, जिस प्रकार सम्पादकगण साँप का उस वृक्ष पर अधिकार मान कर रोहित द्वारा की गई मार्ग देने की प्रार्थना को 'भगाने का प्रयत्न' और 'हिंसा अथवा दुराग्रह' मानते हैं, उसी प्रकार भारत पर अंग्रेजों का अधिकार मानकर महात्माजी द्वारा संचालित आन्दोलन के लिए भी सम्पादकों द्वारा यह कहा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु स्वाभाविक है, कि 'महात्माजी अंग्रेजों को भारत से भगाने का प्रयत्न करते हैं', जो हिंसा अथवा दुराग्रह है।'

आगे चलकर सम्पादकों ने पुस्तक में आये हुए स्त्री-आदर्श को संकीर्ण बताया है। इस विषय में हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं, कि मनुष्य के बुद्धि-चक्षु पर जब किसी मत-विशेष का चश्मा चढ़ा होता है, तब वह उस मत के विरुद्ध आई हुई वास्तविक बात को भी ठीक नहीं समझता। यही कारण है कि सम्पादकों ने पुस्तक में आये हुए स्त्री-आदर्श को संकीर्ण, एक-

पक्षीय, एवं भ्रान्त बताया है। सम्पादकों के विचारों पर से हम विश्वास कर सकते हैं, कि सम्पादकगण तेरह-पन्थ-मतानुयायी हैं। और इस कारण उन्हें पुस्तक में आया हुआ स्त्री-आदर्श, खटकना स्वाभाविक है। सम्पादकगण, पुस्तक के स्त्री-आदर्श, को तब संकीर्ण न मानते, जब तेरह-पन्थ-सम्प्रदाय की मान्यतानुसार पुस्तक में स्त्रियों के लिए, पति को कुपात्र, ज़हर का प्याला एवं पापी मानना, धर्म-गुरु की सेवा के आगे पति की अवहेलना करना, पति यदि कष्ट में है तो उसे अपना कर्म-फल भोगने के लिए छोड़ देना, उसकी सहायता न करना और पति-सेवा, पति-आज्ञा-पालन को पाप समझना आदि आदर्श बताया जाता। स्त्री-आदर्श का रूप यदि उक्त प्रकार से होता, तो शायद सम्पादकगण प्रसन्न होते, लेकिन इस प्रकार का आदर्श रखने का साहस, श्वेताम्बर तेरह-पन्थ-सम्प्रदाय के सिवा और कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार का आदर्श न रखने के कारण ही यदि सम्पादकगण पुस्तक को दूषित मानते हैं, तो इस दोष को मिटाने में हम असमर्थ हैं। 'ओसवाल नवयुवक' के सम्पादकों की दृष्टि में पुस्तक दूषित न रहे, इस अभिप्राय से, स्त्री-आदर्श को तेरह-पन्थ की मान्यतानुसार नहीं किया जा सकता। तेरह-पन्थ-सम्प्रदाय, कैसा स्त्री-आदर्श चाहता है, इस ओर हम पहले ही पुस्तक के प्राक्कथन में संकेत कर चुके हैं।

सम्पादकों को, येन-केन-प्रकारेण पुस्तक दूषित बताना ही अभीष्ट था। यदि ऐसा न होता तो सम्पादकगण, पुस्तक से उद्धृत अंशों से सम्बन्ध रखने वाली-पहले और पश्चात् आई हुई बातों को न छोड़ देते। उदाहरण के लिए पृ० ६५ में आये हुए दूसरी अप्सरा के कथन के पहले अंश को, इसी प्रकार चौथी अप्सरा के कथन के बीच के अंश को सम्पादकोंने उद्धृत नहीं किया है। सम्पादकोंने इन अंशो को अपने उद्देश्य में बाधक समझ कर ही छोड़ा है। छूटे हुए अंशो मे अप्सराओं ने इन्द्र के इस कथन पर कि—हरिश्चन्द्र, सत्य से कदापि विचलित नहीं हो सकता—विश्वास प्रकट किया है और इसी विश्वास के आधार पर, वे पति के कहे हुए काम में प्रवृत्त हुई थीं। अप्सराएँ केवल पति के भय से, या पति-आज्ञापालन के कर्त्तव्य वश ही हरिश्चन्द्र को सत्य से डिगाने के उपाय में सहायक नहीं हुई थी, किन्तु इनके साथ ही उन्हें यह भी विश्वास था कि 'जीव-अजीव, लोक-अलोक आदि होने पर भी हरिश्चन्द्र सत्य से विचलित नहीं होसकता'। सम्पादकों द्वारा इस अंश का उड़ाया जाना, उनकी दूषित मनोवृत्ति का परिचायक है।

पति की वह अनुचित आज्ञा, जो लौकिक नीति के भी विरुद्ध है,—जैसे दुराचार करने की आज्ञा देना—मानना, पत्नी का कर्त्तव्य नहीं माना जा सकता; न ऐसी आज्ञा देने वाला पति,

पति कहलाने योग्य ही रह सकता है; लेकिन जो आज्ञा, लौकिक नीति के विरुद्ध नहीं है, उसे न मानना, पतिव्रत-धर्म को ठुकराना है। हाँ, 'ओसवाल-नवयुवक' के सम्पादकगण इस बात से अवश्य असहमत होंगे—क्योंकि तेरह-पन्थ-मतानुसार तो, पत्नी के लिए पति ही पापी है, पति की, लौकिक कार्यों की आज्ञा मानना तो महान्-पाप—नर्क का द्वार—है; लेकिन पतिव्रता का कर्त्तव्य पति-आज्ञा-पालन ही है और यह बात जैन शास्त्र ही में नहीं, किन्तु सर्व-सम्मत है।

शंकरप्रसाद दीक्षित
(पुस्तक–सम्पादक)

विषय-सूची ।



॥ ॐ ॥

प्राक्कथन



जिन हरिश्चन्द्र और तारा के चरित्र को, पढ़-सुनकर भारतीय ही नहीं, बल्कि विदेशी भी मुग्ध होते सुने जाते है, मुसलमान, मज़हबी भेद-भाव को छोड़, आँखो से अविरल अश्रुधारा बहाते सुने जाते है, उन्हीं दानी-शिरोमणि, सत्य-धीर महाराजा हरिश्चन्द्र और उनकी पतिव्रता, शिक्षादात्री, पतिहितेच्छु, पतिसेवा के लिए सांसारिक-सुखो को लात मारनेवाली, महान से महान कष्ट मे भी धर्म और पतिसेवा को न त्यागनेवाली धर्मपत्नी, महारानी तारा का चरित्र चित्रण करने के पहले यह विचारना आवश्यक है, कि इनकी कथा क्यो गाई और सुनाई जाती है। और इनके गुण गाने या श्रवण करने से मनुष्य को क्या लाभ होता है।

ससार का यह नियम है कि जिसके आचार-विचार मे क्रूरता भरी हुई होती है, जो धर्म की अपेक्षा अधर्म को महत्व देता है, जो सत्य को ठुकराता और असत्य को अपनाता है, जिसके कार्य नियम-विरुद्ध, दूसरो को हानिप्रद और प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध होते हैं, उस मनुष्य का नाम सुनकर हृदय काँप उठता है, रोमांच हो आता है, उसका नाम लेने और सुनने

से लोग घृणा करते हैं। उसके जीवित न रहने पर लोगों को कोई दुःख नहीं होता, वरन् प्रसन्नता होती है। उसके मरणोपरान्त, कोई उसका नाम भी नहीं लेता और यदि कोई लेता भी है, तो बहुत घृणा के साथ। ऐसे मनुष्यों से, केवल वे ही लोग प्रसन्न रहते हैं, जिनकी प्रकृति इनकी प्रकृति से मिलती-जुलती होती है। इसके विरुद्ध, जो मनुष्य दूसरों के दुःख से दुःखी होकर उनकी सहायता करनेवाला, समदृष्टि, सदाचारी, धर्मभीरु और परोपकारी होता है, वह जीवितावस्था में तो सब को प्रसन्न रखता ही है, परन्तु मरने पर—उसकी मृत्यु का हजारों या लाखों वर्ष बीत जाने पर—भी लोग उसके नाम को बड़े आदर से स्मरण करते हैं। उसके चरित्र को पढ़ते-सुनते और उसे आदर्श-पुरुष मानते हैं। राम और रावण, दुर्योधन और युधिष्ठिर, कंस और कृष्ण, इस संसार में अब नहीं हैं, लेकिन इनके नाम उसी अन्तर से लिये जाते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है। स्वभाव के दोष के कारण कुछ लोग, दूसरी तरह के बताये हुए उत्तम-मनुष्यों को भी बुरा चाहे कहे, लेकिन इसमें न तो उन उत्तम मनुष्यों का दोष ही है और न ऐसे अल्प-संख्यक लोगों के कहने से वे बुरे ही हो सकते हैं। इसमें यदि दोष है, तो ऐसा कहनेवाले लोगों की प्रकृति का। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से संसार के सब जीवों को प्रकाश प्राप्त होता है, परन्तु उल्लू के लिये वही सूर्य अन्धकार फैलाने वाला हो जाता है, उसी प्रकार ऐसे उत्तम-पुरुष सब को तो प्रिय होते हैं, परन्तु उल्लू की तरह जिसकी प्रकृति ही उल्टी है, उसके लिये वे ही उत्तम-पुरुष बुरे हो जाते हैं। लेकिन जिस प्रकार सूर्योदय होने से उल्लू के लिये अँधेरा हो जाने में

सूर्य का दोष नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार यदि उल्टी-प्रकृति के लोगों को वे श्रेष्ठ-पुरुष सदोष दिखाई दें, तो इसमें उन उत्तम-पुरुषों को भी कोई दोषी नहीं कह सकता।

चरित्र-वर्णन, पठन या श्रवण, यद्यपि दोनों ही प्रकार के मनुष्यों का किया जाता है, लेकिन एक को बुरा समझकर और दूसरे को भला समझकर। एक के चरित्र को आदर्श मानकर, तदनुसार आचरण करने के लिए और दूसरे के चरित्र को त्याज्य मानकर, वैसे आचरण से बचने के लिए। सदाचारी के चरित्र ग्राह्य माने जाते हैं और दुराचारी के त्याज्य।

हरिश्चन्द्र के चरित्र से, सत्य में अटल, दान में वीर, कष्ट में धीर और गम्भीर रहने आदि का आदर्श प्राप्त होता है और तारा के चरित्र से स्त्री-धर्म, पति-प्रेम, पति-सेवा, धर्म-रक्षा, तथा गृह-कार्य में दक्षता आदि बातों का। रोहित के चरित्र से भी बहुत कुछ शिक्षा मिलती है, जिसका वर्णन यथास्थान है।

संसार में जितने भी दानी हुए हैं, जितने भी सत्यवादी और सत्यपालक हुए हैं, हरिश्चन्द्र का उन सब में विशेष-स्थान माना जाता है। सब लोग कहते हैं कि धन्य है हरिश्चन्द्र को, जिसने खाने के लिये एक समय का भोजन भी पास न रखा और शरीर पर केवल आवश्यक वस्त्र रख, अपनी और अपने पुत्र तथा स्त्री के भविष्य की चिन्ता न कर, राज्य-पाट आदि सब कुछ दान कर दिया। इतना ही नहीं, बल्कि वचन द्वारा स्वीकार की हुई दक्षिणा निश्चित समय पर देने की प्रतिज्ञा पर—पास में एक भी पैसा न होते हुए—दृढ़ रहे और स्त्री को बेंच तथा स्वयं-बिककर, अपने वचनों का पालन किया। इसपर भी अपनी

स्वामिनी (मल्लिन) के कटु-शब्दों को प्रसन्नतापूर्वक सहते रहे और उस समय का स्मरण करके, किसका कठोर हृदय करुणा से द्रवित न हो उठेगा, जब इतनी विपत्ति सहने पर भी श्मशान में आधी-रात के समय अपने एकमात्र-पुत्र के शव को देखकर, एवम् अपनी अर्द्धांगिनी के विलाप को सुनकर भी सत्य से विचलित न हुए तथा विना कर लिये, अपने पुत्र का अग्नि-संस्कार न होने दिया।

हरिश्चन्द्र की तरह तारा भी संसार की पतिव्रता-स्त्रियों में एक थी। जो अपने पति को कर्त्तव्य से पराङ्मुख और विलास-मग्न होते देख, सांसारिक-सुखों को तिलाञ्जलि दे, उन्हें अपने कर्त्तव्य-पथ पर लाने तथा विलासिता के समुद्र में डूबने से बचाने में संलग्न हो गई। एक समय का भोजन मिलने की आशा न रहने की परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी, राज्य सुख को भुला, पति के साथ-साथ वन के दुःसह दुःख सहने—और स्वयं हज़ारों सेविकाओं से सेवित थी, इस बात का ध्यान न कर—पति के साथ मजदूरी करने में ही आनन्द मानने लगी। इतना ही नहीं, वरन् पति के वचन की रक्षा के लिए पहले स्वयं बिकी। एक मनुष्य का पेट भरने के लिए जो पर्याप्त नहीं है, इतने भोजन में पुत्र को भी भोजन कराया और उसी से स्वयं भी निर्वाह किया। इतना कष्ट सहकर भी, लोभ पर किंचित आसक्त न हुई। विशेष-समय से बिछुड़े हुए पति के मिलने पर भी, अपने क्रयी की आज्ञा बिना उन्हें गला न लगाया। अन्त में, पुत्र वियोग के दुःख से दुःखी अवस्था में भी जिन्हें स्वामी के कार्य की चिन्ता रही।

रोहित भी, संसार के बालकों में एक था। जो, बाल्यावस्था

मे भी माता-पिता के दु:ख को समझता था, उन्हे विशेष दु.ख न हो, इस बात का ध्यान रखता था और निर्लोभिता, वीरता तथा स्वतन्त्रता जिसकी रग-रग में भरी थी।

ऐसे आदर्श-साहित्य का जो गौरव भारत को प्राप्त है, वह अन्य-देशो को शायद ही प्राप्त हो। जहाँ अन्य देशो का साहित्य, झूठ, चोरी, विश्वासघात आदि जघन्य-कार्यों का आदर्श स्थापित करता है, वहाँ भारत का साहित्य दान, त्याग, सत्य, स्वामिभक्ति विश्वप्रेम आदि के उच्चतम आदर्श सिखाता है। लेकिन इसके साथ ही भारत का यह दुर्भाग्य भी है, कि जहाँ एक ओर अन्य देशो का साहित्य वृद्धि करता जा रहा है, वहाँ भारत से मुसलमानो की अग्निलीला से बचे हुए साहित्य को भारतीय ही कलंकित बना रहे हैं। जिन हरिश्चन्द्र और तारा का चरित्र, संसार मे अद्वितीय माना जाता है, उन्ही हरिश्चन्द्र के दान तथा तारा की पतिभक्ति को, कुछ लोग पाप बताकर अपने देश और धर्म के उत्कृष्ट साहित्य को निकृष्ट बना रहे हैं। ऐसे लोग, स्वयं तो दान कर नही सकते—करें भी कहाँ से, क्योकि इसमे भी वीरता की आवश्यकता होती है—अत दान को ही पाप बता, उसकी पुष्टि हरिश्चन्द्र के कष्टो का उदाहरण देकर करते है। स्त्रियाँ, स्वयं तो पतिभक्ता होती नहीं—वे तो स्वर्ण-भक्ता होती हैं—अत. तारा की निष्काम-पतिभक्ति को पाप बतलाकर सन्तोष कर लेती हैं। सारांश यह, कि भारत के ऐसे निर्मल-साहित्य को भी कुछ लोग, नि संकोच मलीन बना रहे है।

जिस भारत की भूमि को हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित ऐसे रत्न उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिस अयोध्या मे इनका

जन्म हुआ, जिस काल में ये हुए, जिस वंश को इन्होंने जन्म लेकर गौरवान्वित किया, उन सबको आजकल के लोग धन्य मानते हैं।

जिस प्रकार गौ में कामधेनु आदर्श मानी जाती है, उसी प्रकार कथाओं में हरिश्चन्द्र की कथा आदर्श है। इसे आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करनेवालों से, पाप सदा दूर ही रहा करते हैं और उन्नति दिन-प्रतिदिन समीप आती जाती है।

सत्यमूर्ति—

हरिश्चन्द्र-तारा



"आधुनिक उपन्यासकार, अपने कथानक का अन्त, पात्रों को विषय-भोग में प्रवृत्त कराकर ही कर देते हैं, यह अनुचित है। वास्तव में उचित तो यह है कि उपन्यासों का अन्त पात्रों को त्याग-वैराग्य की स्थिति में लाकर किया जाय।"

—काउण्ट-टॉल्स्टॉय।



राजा का मोह



सरयू नदी के किनारे, अयोध्या नामक नगरी, कथा-नायक हरिश्चन्द्र की जन्मभूमि और राजधानी मानी जाती है। जल की अधिकतावाले प्रदेशों में, एक तो वैसे ही नैसर्गिक-सौंदर्य होता है, फिर उसमें भी अयोध्या! जिसकी प्राकृतिक सुन्दरता और महत्व के वर्णन में ग्रंथ के पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। अयोध्या ही को, भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, अनन्तनाथ आदि तीर्थंकर और श्रीरामचन्द्र ऐसे महापुरुषों को उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

अयोध्या नगर, सरयू नदी के तट पर उपवन की तरह शोभा दे रहा था। इस अयोध्या के निवासी, सुन्दरता और स्वभाव में ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे उस उपवन के पुष्प हों। पुष्पों में जहाँ सुगन्धि का गुण है, वहीं वे अपनी कोमलता के लिये भी प्रसिद्ध हैं। लेकिन उनकी यह कोमलता और सुगन्ध, कठोरता पर अवलम्बित है। अर्थात, उनकी स्थिति उस कठोर-वस्तु पर है, जिसे डाली कहते हैं। इसी के अनुसार, अवध के निवासियों में, जहाँ नम्रता, कोमलता और परोपकाररूपी सुगन्ध थी, वहीं, इन गुणों की स्थिति के लिये, उनमें वीरता-रूपी कठोरता भी थी।

यदि, मनुष्य केवल नम्र ही नम्र रहे, या केवल कठोर ही कठोर रहे, तो संसार-व्यवहार में वह उच्चतम योग्य नहीं माना जाता। जो मनुष्य, मिश्री की तरह होते हैं, अर्थात्—जिस प्रकार मिश्री मुँह में रखने पर तो मिठास देती है, लेकिन शरीर पर मारने से चोट पहुँचाती है, इसी प्रकार जो मनुष्य सद्गुणों के साथ तो नम्र, लेकिन दुर्गुणों के साथ कठोर रहते हैं, वे ही संसार-व्यवहार में कुशल माने जाते हैं। अस्तु।

इस अयोध्यारूपी फुलवारी में एक फूल ऐसा था, जो स्वयं भी सुगन्धित था और अपनी सुगन्ध से दूसरे फूलों को भी सुगंधित कर रहा था। सारा संसार, इस फूल को उत्तम मानता और उसकी प्रशंसा करता। इसी फूल का नाम था, राजा हरिश्चन्द्र। हरिश्चन्द्र, जहाँ अवध के निवासियों में उत्कृष्ट माने जाते थे, वहीं उनमें सुगन्ध, कोमलता और कठोरता के गुण भी विशेष थे।

फूल यदि यह समझ ले, कि मैं स्वतन्त्र हूँ, डाली के आश्रित नहीं हूँ, अत डाली किसी कार्य को वस्तु नहीं है; तथा डाली यदि यह समझले, कि फूल मेरे पर केवल बोझ-रूप है, इससे मेरा कोई लाभ नहीं है, तो दोनो ही की शोभा नष्ट होजायगी। फूल की शोभा तभी तक है, जबतक वह डाली पर है और डाली की शोभा भी तभी तक है, जब तक कि उस पर फूल है। इसी के अनुसार, बड़े के यह समझने पर कि 'मैं बड़ा हूँ और अन्य लोग तुच्छ हैं,' और छोटों के यह समझने पर कि 'यह बड़ा हमारा कुछ भी बना बिगाड़-नहीं सकता, हम स्वतंत्र हैं' काम नहीं चलता। ऐसा होने पर दोनों ही को हानि पहुँचने की सम्भावना हो जाती है। जब अपने-अपने धर्म को जानकर, बड़ा तो

यह समझे कि मैं छोटों के होने पर ही बड़ा हूँ, तथा इन्होंने ही मुझे बड़ा बनाया है और छोटा यह समझे कि बड़े से मेरी शोभा है और उन्हीं से मेरी रक्षा है, तभी सुचारु-रूप से कार्य चलता है। राजा और प्रजा में इन विचारों के रहने पर, कदापि अशान्ति नहीं हो सकती, न आपस में वैमनस्य ही हो सकता है।

हरिश्चन्द्र को प्रजा और प्रजा को हरिश्चन्द्र, प्राणों के समान प्रिय थे। सदा एक दूसरे की कल्याण-चिन्ता करते थे। परस्पर, किसी को दुःख में डालने के कभी विचार भी न होते थे।

हरिश्चन्द्र के लिये कहा जाता है, कि ये श्री रामचन्द्रजी से २७ पीढ़ी पूर्व, उसी कुल में उत्पन्न हुए थे। वैज्ञानिकों का कथन है, कि सन्तान अपनी पैतृक-सम्पत्ति के साथ ही, अपने पूर्वजों के गुण, स्वभाव, स्वास्थ्य आदि को भी प्राप्त करती है। उसके अनुसार, हरिश्चन्द्र के त्यागादि को देखते हुए, यदि रामचन्द्र में राज्यत्याग का गुण हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। आम के वृक्ष में यदि आम लगें, तो क्या विशेषता है!

हरिश्चन्द्र, यद्यपि एक अच्छे-कुल में उत्पन्न हुए थे, बुद्धिमान थे, प्रजा की रक्षा में तन, मन, धन, से संलग्न रहते थे, परन्तु संसार में ऐसे विरले ही मनुष्य निकलेंगे; जो युवावस्था के झोंके में न आये हों, युवावस्था को पाकर, जो उन्मत्त न बन गये हों। युवावस्था के साथ ही, यदि कहीं धन-वैभव भी प्राप्त हो गया, तो मानों बन्दर को शराब पिला दी गई हो। और यदि योगायोग से राज-सत्ता भी मिल गई, तब तो कहना ही क्या है। ऐसी अवस्था के लिए तो तुलसीदासजी की यह युक्ति —

अह ग्रहीत पुनि वात वश, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय वारुणी, कहहु कवन उपचार॥

कह देना ही पर्याप्त है! एक और कवि ने कहा है —

यौवन धन सम्पत्ति: प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमुयत्र चतुष्टयम्॥

अर्थात्—जवानी, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अज्ञानता, इनमें से प्रत्येक अनर्थकारी है। जहाँ ये चारों एकत्र हों, वहाँ की तो बात ही न पूछिये।

युवावस्था में मत्त-मनुष्य, प्राय: काम-भोग में विशेष रत रहता है। कर्तव्याकर्तव्य का उसे बहुत कम ध्यान रहता है। उसका ध्यान तो केवल स्त्रियों के सौन्दर्य, उनके हाव-भाव आदि मे ही रहता है और उसके समय का विशेष भाग इन्हीं कार्यों में व्यतीत होता है। पुरुष की ऐसी अवस्था में, यदि स्त्री भी इसी प्रकार की प्राप्त हो गई, वह भी युवावस्थावश काम-भोग की चेरी बन गई, तब तो पुरुष के साथ वह स्वयं भी विलास के भारी गड्ढे मे जा गिरती है और अपना तथा अपने पति का नाश कर लेती है। किन्तु, यदि कहीं सावधान तथा विवेकवान स्त्री हुई, तो वह पति को भी विलास में डूबने से बचा लेती है और आप स्वयं भी बच जाती है।

इस युवावस्था रूपी पिशाचिनी ने, हरिश्चन्द्र को भी धर दबाया। यद्यपि उसने हरिश्चन्द्र को विलास-प्रिय बना दिया, परन्तु वह पर-स्त्री की ओर उनका ध्यान ले जाने में असमर्थ रही। हाँ, अपनी नव-विवाहिता परमसुन्दरी रानी तारा के मोहपाश मे

हरिश्चन्द्र अवश्य ऐसे बँध गये, कि उन्हें बिना तारा के, सारा संसार सूना दिखाई देने लगा। तारा, उनकी आँखों का तारा बन गई और बिना तारा के उन्हें एक घड़ी भी कटनी मुश्किल जान पड़ने लगी। इस समय, महाराजा-हरिश्चन्द्र, केवल स्त्री-सुख को ही सुख मान बैठे। उठते-बैठते, खाते-पीते, उन्हें तारा ही तारा की धुन लगी रहती। देश और राज्य में क्या होता है, कर्मचारी-गण प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, प्रजा सुखी है या दुखी, आदि बातों की उन्हें किंचित भी चिन्ता न रही।

राजा, जब स्वयं प्रजा की ओर से उदासीन होकर विलास में डूब जाता है, तब प्रजा और देश की क्या दशा होती है, इसके इतिहास में अनेकों प्रमाण मौजूद हैं। यहाँ पर भारत-सम्राट पृथ्वीराज चौहान और महाराणा उदयसिंह का नाम ले लेना ही पर्याप्त है। हरिश्चन्द्र के विलासी बन जाने और राज्यकार्य न देखने से भी यही दशा होने लगी। प्रजा का धन शोषण करके, कर्मचारीगण अपना हित-साधन करने लगे और प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता करनेवाला कोई न रहा।

महाराजा हरिश्चन्द्र, जैसे-जैसे विलास-मग्न होते जाते, वैसे ही वैसे उनकी कान्ति, सुन्दरता, वीरता, धीरता, बुद्धि, बल, आदि का भी नाश होता जाता था। किसी कवि ने कहा है—

कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग मीनाः हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी सकथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पंच॥

अर्थात—हरिण श्रवण के विषय सुख-से, हाथी उपस्थेन्द्रिय के विषय-सुख से, पतङ्ग नेत्र के विषय-सुख से, भौंरा नाक के

विषय-सुख मे और मछली जीभ के विषय सुख मे नाश हो जाती है। तो, जो एक ही मनुष्य, इन पाँचों विषयों का सेवन करता होगा, वह बेमौत क्यों न मरता होगा ?

इसीके अनुसार, महाराजा-हरिश्चन्द्र, सब प्रकार से पतन के गहरे गढ्ढे की ओर जा रहे थे। उनको, इसका किंचित भी ध्यान न था, कि मैं नीचे की ओर जा रहा हूँ। वे तो यही सोचते थे कि ससार में ऐसा आनन्द, दूसरा है ही नहीं। अर्थात्—इस पतन को ही वे आनन्द समझ रहे थे।

यद्यपि, राजा स्वयं विलासप्रिय बन चुके थे, लेकिन रानी तारा चतुर और विवेकवान थी। अतः उनपर विलासिता का वैसा प्रभाव न पड़ा। पति की दशा को देख, तथा दासियों के मुख से प्रजा के दु ख, कर्मचारियों के अन्याय और राज्यकार्य न देखने के कारण, प्रजा द्वारा अपने पति की निन्दा को सुन, रानी को विचार हुआ कि जिस प्रजा के पीछे पति राजा और मैं रानी कहलाती हूँ, जिस प्रजा के धन को हम अपने उपयोग में लाते हैं, जिस प्रजा के दु ख को मिटा उसकी रक्षा करना पति का और उनके साथ ही मेरा कर्त्तव्य है, उस प्रजा के सुख-दु ख की चिन्ता न कर, अपने मौज-मजे में पड़े रहना, नर्क को लेजानेवाली बात है। पति, मेरे ही कारण महल से बाहर नहीं जाते हैं, मेरे ही सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो रहे हैं। अत मुझे और मेरे रूप-यौवन को शतशः धिक्कार है, जो मेरे पति को इस प्रकार चक्कर में डालकर, कर्त्तव्य-भ्रष्ट कर रहा है, तथा उन्हें इस लोक में कलंकित और परलोक में दण्डनीय बना रहा है। 'मेरे सिर पर किस कार्य का बोझ है, मैं राजा कैसे कहाता हूँ' आदि बातों का उन्हें ध्यान न रहने का कारण

में ही हूँ। मेरे ही कारण, आज सूर्यवंश की अखण्ड यश-कीर्ति में कलंक लग रहा है। जिन पति की आकृति देखते ही बन आती थी, जिनका चेहरा गुलाब के पुष्प की तरह सदा विकसित रहता था, जिनका शरीर हृष्ट-पुष्ट और सुडौल था, उन पति की आज क्या दशा है! इस समय वे केवल शृंगार ही शृंगार से सुन्दर दीखते हैं, वास्तविक सुन्दरता तो उन्हे छोड़ गई है और इसका कारण मै ही हूँ। मेरे ही प्रेम ने, पति के चन्द्र के समान सुखदायक-सौन्दर्य को दाग लगाया है। लेकिन, क्या प्रेम ऐसी निकृष्ट वस्तु है? क्या प्रेम पतन की ओर ले जाता है? क्या प्रेम सौन्दर्य का इस प्रकार घातक है? क्या प्रेमी मनुष्य कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर नहीं रहता! नहीं-नहीं, ऐसा नहीं है! यदि प्रेम ऐसा होता, तो संसार में कोई इसका नाम ही न लेता। प्रेम! प्रेम तो वह वस्तु है, जो उन्नति की ओर अग्रसर करता है, तेज, उत्साह और ज्ञान की वृद्धि करता है, बल-वीर्य की रक्षा करता है, उदारता और गम्भीरता को बढ़ाता है, तथा अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी विचलित नहीं होने देता।

यह विचारते-विचारते, रानी गम्भीर चिन्ता-सागर में निमग्न हो गईं। वे विचारने लगीं, कि जब प्रेम बुरा नहीं है, तब पति की यह दशा होने का क्या कारण है! क्या स्त्री-प्रेम बुरा है? क्या स्त्रियों का प्रेम इतना निकृष्ट है? क्या स्त्रियों का जीवन इतना अधम है, कि उनसे प्रेम करनेवाला मनुष्य पतित हो जाता है? क्या स्त्रियों का प्रेम, अपने पति के यश-रूपी चन्द्रमा के लिये राहु के सदृश है? लेकिन यदि ऐसा होता, तो संसार मे कोई स्त्रियों का नाम भी न लेता। स्त्रियो से सदा दूर रहा जाता

और उन्हें विष के सदृश त्याज्य समझा जाना। फिर, मेरे पति के गौरव और सौन्दर्य पर कलङ्क लगने का क्या कारण है?

विचारते-विचारते रानी को ध्यान हुआ, कि इस कलङ्क से प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका सम्बन्ध तो मोह से है। जिस प्रेम के लिये पति-पत्नी सम्बन्ध स्थापित होता है, वह प्रेम, तेज, उत्साह आदि का नाशक नहीं, अपितु वर्द्धक है। जो, तेज, उत्साह आदि का नाश करे, अज्ञानता, अकर्मण्यता आदि की वृद्धि करे, जिसके होने पर मनुष्य किसी एक वस्तु-विशेष के सिवाय संसार के दूसरे सद्कार्यों से दूर हो जाय, जो मनुष्य की मनुष्यता का ही लोप कर दे, उसका नाम मोह है, प्रेम नहीं। मुझ पर पति का प्रेम नहीं, वरन् मोह है। लेकिन मैं अबतक इस बात को न समझ सकी और मेरी यह भूल ही, मेरे पति के यश-चन्द्र में कलङ्क लगानेवाली सिद्ध हुई है। मुझे, अब उचित ही नहीं है, बल्कि मेरा कर्त्तव्य है, कि मैं पति के मोह को दूर कर, उन्हें कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर करूँ और उनके, अपने तथा कुल के कलङ्क को धो डालूँ।

स्त्री, जिस प्रकार पति की सेविका होती है, उसी प्रकार वह पति की शिक्षिका भी हो सकती है। अच्छे-कार्यों में पति की सहायता करना और उन्हें बुरे कामों से बचाना, पत्नी का कर्त्तव्य है। इसी कारण पत्नी, पति की धर्म-सहायिका मानी गई है। कर्त्तव्य पर स्थिर रहना ही धर्म है और उसमें सहायता देना पत्नी का मुख्य-कर्त्तव्य है। यदि, पति अपने कर्त्तव्य से हटकर अकर्त्तव्य में तल्लीन हो रहा हो, तो उसे उचित-उपायों द्वारा कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर करने का दायित्व पत्नी पर है। इसी

प्रकार, पुरुष भी अपनी पत्नी को सुमार्ग पर लाने का जिम्मेदार है। ऐसी परिस्थिति में किन और कैसे उपायो से काम लिया जा सकता है, आदि बातें तारा के चरित्र से प्रकट होगी। अस्तु।

रानी को यह मालूम होते ही, कि मेरे पति मुझपर मोहित हैं, और इसी से, वे प्रजा के सुख-दुःख आदि की ओर से बेखबर हैं, वे प्रजा की दशा जानने के लिये विह्वल हो उठी। उनने गुप्त-रीति से प्रजा के सुख-दुःख और राजा के विषय मे प्रजा के विचार जानने के लिये, दासियो को नगर में भेजा।

नगर में चारो ओर राज्य की दुर्व्यवस्था की निन्दा हो रही थी। लोग कहते थे, कि रानी के प्राप्त होने पर राजा को राज्य की दशा सुधारनी चाहिए थी और प्रजा का दुःख दूर करके उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए था; परन्तु रानी के मिल जाने पर राजा स्वयं भी कामुक बन गया। वह, राज्य-कार्य की ओर तो दृष्टिपात भी नहीं करता। राज्यका कार्य तो नौकरो के भरोसे छोड़ रखा है। उसकी दृष्टि तो केवल रानी के नेत्रो की ओर रहती है।

प्रजा और राजा में, पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध होता है। पुत्र, यदि अनीति करता हो, अपने कर्तव्य से पतित होता हो, तो पिता उसे शिक्षा द्वारा ऐसा करने से रोकता है। इसी प्रकार, पिता यदि कर्तव्य से पराङ्मुख और अनीति मे प्रवृत्त होता हो, तो नीति, पिता के भी ऐसे कार्यों का विरोध करने की आज्ञा देती है। उस समय की प्रजा, अपने और राजा के कर्त्तव्य को भली प्रकार जानती थी। अतः उसे राजा के विरुद्ध, ऐसा कहने में किंचित भी भय न हुआ। जहाँ आज की प्रजा, राजा के

अनेक अन्यायों का भी विरोध नहीं करती, यहाँ तक कि प्रजा की पुत्रियों और कुलवधुओं के सतीत्व हरण करने पर भी, राजा को अन्यायी कहने का साहस नहीं कर सकती, वहाँ उस समय की प्रजा को, अपनी ही स्त्री के मोहजाल में फँसे हुए राजा की, कटु-आलोचना करने में कुछ भी भय न था। इस अन्तर का कारण अपने कर्त्तव्य को न समझना और उस पर स्थिर न रहना है। मनुष्य, जब तक स्वयं सच्चरित्र न हो, स्वयं नीति और धर्म का पालन न करता हो, तब तक दूसरे के दुराचार, अनीति और अधर्म का विरोध नहीं कर सकता।

दासियों ने प्रजा के मुख से जो कुछ सुना था, वह रानी को आ सुनाया। रानी, प्रजा की बातों को सुनकर, प्रजा की प्रशंसा करने लगीं, तथा अपने पति का मोह दूर करने के लिये और भी अधीर हो उठीं। लेकिन, इसके साथ ही उन्हें यह चिन्ता और हो गई, कि पति का मोह किस प्रकार दूर किया जाय।

बड़े आदमियों को कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना उतना ही कठिन है, जितना कठिन सूखी लकड़ी को झुकाना। उसमें भी फिर राजाओं का सुधारना, कि जिनकी हठ प्रसिद्ध है। लेकिन, उद्योगी-मनुष्य के लिये कोई कार्य असम्भव नहीं है। असम्भव, किस वस्तु का नाम है, इसे उद्योगी मनुष्य जानते ही नहीं। उनका तो सिद्धान्त रहता है—

"देहं पातयामि वा कार्यं साधयामि"

अर्थात्—या तो कार्य सिद्ध करके ही छोड़ेंगे, अथवा उसी पर मर मिटेंगे।

रानी विचारने लगी, कि मैं पति को किस प्रकार सुमार्ग पर लाऊँ ! अन्त में उन्होंने पति का मोह मिटाने के लिये उपाय विचार लिया और उस उपाय को कार्यरूप में परिणत करने के लिये उद्यत होगई ।



मोहनाश का उपाय



उत्तम मनुष्य, दूसरो को सुमार्ग पर लाने के लिये—दूसरों को सुधारने के लिये—स्वय कष्ट सहन किया करते हैं। जितने भी महापुरुप हुए हैं, उनके जीवन-चरित्रो से यह बात भली प्रकार सिद्ध है, कि उन महापुरुपो ने जो दु:ख उठाया है, वह दूसरों को सुधारने के लिये, दूसरो को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने के लिये। स्वयं कष्ट सहकर, त्याग दिखलाकर एवं स्वयं आचरण करके जो उपदेश दिया जाता है, जो आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसका प्रभाव अचूक और स्थायी होता है। जो लोग केवल दूसरो को उपदेश देने मे कुशल हैं, लेकिन अपने आपको उन उपदेशो से अकारण ही मुक्त समझते हैं, ऐसे लोगो के उपदेश निरर्थक सिद्ध होते हैं, तथा उनसे कोई लाभ नहीं होता। आज के अधिकांश उपदेशक, शिक्षक, अधिकारी और नेताओ में यह दोष सुना जाता है, यही कारण है कि वे अपने उपदेशो द्वारा सुधार करने में, तथा जनता को कुमार्ग से हटा सुमार्ग पर लाने में असफल होते हैं।

बहुत से लोग, दूसरो के दुर्गुण मिटाने के लिये स्वयं भी

दुर्गुणों से काम लेते हैं। लेकिन दुर्गुण से दुर्गुण मिटते नहीं, वरन् बढ़ते हैं। जैसे—किसी मे क्रोध का दुर्गुण है। अब इस क्रोध के दुर्गुण को दूर करने के लिये-यदि क्रोध से ही काम लिया जाय, और उस क्रोधी-मनुष्य को ताड़नादि दण्ड दिये जायँ, तो उसका यह दुर्गुण, घटने की जगह बढ़ेगा, नाश होने की जगह वृद्धि प्राप्त करेगा और निर्मूल होने के बदले विशाल रूप धारण करेगा। उसके नाश के लिये तो क्षमा और शान्ति का प्रयोग करना ही उचित है।

आज के अधिकांश पति-पत्नी भी, एक दूसरे के दुर्गुण को दूर करने के लिये किसी न किसी दुर्गुण से ही काम लेते सुने जाते हैं। लेकिन ऐसा करने पर वे असफल ही नहीं रहते, बल्कि उसके दुर्गुण की वृद्धि में सहायक बन जाते हैं। अतः दुर्गुण के प्रतिपक्षी सद्गुण ही दुर्गुणों का नाश करने में समर्थ हैं। सद्-गुणों का आदर्श उपस्थित करने पर ही दुर्गुण नाश होते हैं और सद्गुणों की सहायता से ही मनुष्य दुर्गुण छुडाने के कार्य में सफल हो सकता है।

रानी विचार करती है, कि प्राणनाथ को मोह मे फँसाने, उन्हें अपने कर्त्तव्य से पतित करने, उनके शरीरिक सौन्दर्य और नैसर्गिक-गुणो को नाश करने का कारण, मैं ही हूँ। मेरी ही हँसी, मेरा ही शृंगार, मेरा ही राग-रंग, पति के लिये घातक हुआ है। इन्होने मेरे पति को मोहावस्था मे डाल रक्खा है। मोह को नाश करने का उपाय त्याग है। त्याग का आदर्श उपस्थित करने से ही मोह का नाश हो सकता है। अतः मैं इस त्याग को ही अपनाऊँगी और हँसी शृंगार, राग-रंग आदि विलासवृद्धिकारक कार्यों को छोड़, अपने

जीवनधन, अपने हृदयेश्वर, अपने प्राणाधार को मोह के दलदल से निकाल, ससार को दिखला दूंगी, कि स्त्री-प्रेम कैसा होता है! स्त्रिये क्या कर सकती हैं और स्त्रियों का कर्तव्य क्या है। मैं, स्वयं विलासिता को त्याग, विलासिता उत्पन्न करनेवाली वस्तुओ तथा ऐसे कार्यों को तिलांजलि दे, अपने पति को मोहावस्था से जागृत करूँगी। मैं, वैरागिन नहीं बनूँगी, परन्तु उस शृङ्गार को, उन आभूषणो को, उस हँसी-कटाक्ष आदि को, जो मेरे पति के मस्तक पर, मेरे श्वसुर के निर्मल वंश पर, जो एक राजा के कर्तव्य पर, जो पुरुष के पुरुषार्थ पर कलङ्क लगा रहे हैं, अवश्य त्याग दूँगी। मैं, पति की दासी हूँ पति मुझे प्राणों के समान प्रिय हैं, वे मेरे ईश्वर के समान पूज्य हैं, अत उनसे प्रेम नहीं त्याग सकती, न रूठ ही सकती हूँ। परन्तु उन्हें मोहावस्था से सचेत करने के लिये, उनकी मोह-निद्रा को भङ्ग करने के लिये, उन पर लगे हुए कलङ्क को धो डालने के लिये, मैं प्रकट में वह रूप धारण करूँगी, जो रूठने के अन्तर्गत कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, मैं मरणान्तक कष्ट-सहकर भी अपने पति को कर्तव्य-परायण बनाऊँगी। उन्हें अपनी भूल दर्शाऊँगी, और उन्हे सुधारकर उनकी गणना नीतिज्ञ तथा प्रजा-वत्सल नरेशो में कराऊँगी। साथ ही, स्त्री-जाति के लिये आदर्श भी उपस्थित कर दूँगी, कि अपने आराध्य-देव पति को किस प्रकार नम्रता, त्याग और तपस्या से सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। मैं, अपने पति की हित-कामना से उनकी शिक्षिका बनूँगी। उन्हें ताड़ना से नहीं, त्याग से, प्रत्यक्ष में नहीं, परोक्ष मे, और अस्थायी नहीं, बलिक वह स्थायी शिक्षा दूँगी, कि कुछ ही समय पश्चात् वे स्वयं मेरी प्रशंसा करे।

कहाँ तो आज की वे स्त्रिये, जो पति को अपने मोह-पाश में आवद्ध रखने के लिये अनेक उपाय करती है। देवी-देवताओं की मिन्नतें लेती हैं—जादू-टोना कराकर पति को वश में रखने की चेष्टा करती हैं—और पति को अपने वश में पाकर—पति को अपना आज्ञाकारी सेवक जानकर—प्रसन्न होती हैं, अपना गौरव समझती हैं और उनके तथा अपने सर्वनाश का कुछ भी ध्यान नहीं रखतीं। और कहाँ तारा, जो पति को अपने मोहपाश से छुड़ाने-उन्हें कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर करने और कलङ्क से बचाने-का उपाय कर रही हैं। तारा के समान स्त्रियों के चरित्र ने ही, आज भारतीय स्त्री समाज को गौरवान्वित कर रखा है।

देखते ही देखते, रानी ने उन वस्त्राभूषणों को, जिसे वे शृङ्गार के निमित्त बड़े चाव से पहनती थीं—जिनके धारण करने पर उनकी सुन्दरता, सोने में सुगन्ध की तरह बढ़ जाती थी, जो उन्हें अब तक विशेष प्रिय थे, जिन्हे वे अपने रूप-लावण्य की वृद्धि में सहायक मानती थीं—एक दम फेंक दिये और ऐसे साधारण वस्त्राभूषण धारण किये, कि जो आवश्यक थे, तथा जिनसे वे कभी प्रेम न करती थीं। उन्होंने, यह कार्य उसी प्रकार कर डाला, जैसे सांप एक केंचुल को त्यागकर दूसरी को धारण किया करता है। उन्होंने, अपने चेहरे की हँसी और प्रफुल्लता को भी एक दम गम्भीरता में परिवर्तित कर दिया।

रानी को, शरीर के उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण त्यागते देख, दासियाँ घबरा उठीं। रानी के गम्भीर चेहरे को देखकर तो, उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे, रानी से सविनय पूछने लगीं, कि आज आप यह क्या कर रही हैं? वस्त्राभूषण क्यों फेंक

रही हैं और आपके स्वभाव तथा आकृति के इस अचानक-परिवर्तन का कारण क्या है? रानी से इसका कोई उत्तर न पा, वे फिर कहने लगीं, कि आप इन्हें धारण कीजिये और अपनी गम्भीरता का कारण बताइये। लेकिन रानी आज वस्त्राभूपणों की दासी रहनेवाली—कृत्रिम-उपायों द्वारा अपने सौंदर्य को बढ़ानेवाली—हंसी-खुशी द्वारा अपने पति को पतनावस्था में ढकेलनेवाली न रही थीं। बल्कि आज उनके विचार इसके विपरीत थे। उनने दासियों पर कृत्रिम-क्रोध प्रकट करते हुए उन्हें झिड़ककर कहा, कि मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है और भविष्य के लिये भी मैं तुम लोगों को सचेत किये देती हूँ, कि मेरे पास ऐसी कोई वस्तु न लाई जाय।

जो रानी, सदा राग-रंग में मत्त रहती थीं, जिनका चेहरा सदा प्रसन्न रहता था, गम्भीरता या चिन्ता के चिन्ह जिनके चेहरे पर कभी न देखे जाते थे, वस्त्राभूपणादि शृङ्गार जिन्हें बहुत प्रिय थे, उन रानी के स्वभाव में एक दम ऐसा परिवर्त्तन देख और उनका यह उत्तर सुन, दासियों की घबराहट और भी बढ़ गई। वे, रानी के ऐसा करने के कारण का अनुमान भी न कर सकीं और विचारने लगीं, कि आज रानी को क्या हो गया, जो उनने योगिनियों की तरह वैराग्य दशा धारण की है और इस प्रकार गम्भीर बनगई हैं। दासियों ने दौड़कर, रानी के स्वभाव-परिवर्त्तन की सूचना, राजा को दी। यह संवाद पाते ही, राजा अपनी सुखदात्री रानी की चिन्ता में अधीर हो उठे और तत्क्षण रानी के महल में आये। रानी की ऐसी दशा देख राजा की चिन्ता और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। रानी की मुख-मुद्रा

देख, राजा विचारनेलगे कि, आज जैसा चेहरा तो मैंने कभी न देखा था, आज चेहरे में इतना परिवर्त्तन होने का कारण क्या है?

तुलसीदासजी ने कहा है —

सुरपति वसहिं बाहुबल जाके, नरपति सकल रेहहिं रुख ताके ॥
सो सुनि तियरिसि गयउ सुखाई, देखहु काम प्रताप बड़ाई ॥
शूल, कुलिश, असि, अँगवनिहारे, ते रतिनाथ सुमन-शर मारे ॥

अर्थात्—जिसकी भुजाओं के बल की सहायता से इन्द्र बसे हुए हैं, सारे राजा जिसका रुख देखते रहते हैं, वह स्त्री के क्रोध को सुनकर सूख गया, यह कामदेव के प्रताप की बड़ाई है। जिस शरीर के छेदने में शूल, वज्र और तलवार हार मान गई, वह शरीर कामदेव के पुष्प-बाण से मारा जा रहा है।

तात्पर्य यह, कि कितना ही वीर पुरुष क्यो न हो, किन्तु यदि वह कामी है, तो अपनी प्रिय-स्त्री को रुष्ट जान, अवश्य ही घबरा जाता है और उसका धैर्य छूट जाता है। किसी कवि ने कहा है:—

व्याकीर्ण केशर करालमुखा मृगेन्द्रा,
नागाश्च भूरि मदराजिविराजमानाः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः,
स्त्री सान्निधौ परम कापुरुषा भवन्ति ॥

अर्थात्—गर्दन पर बिखरे हुए बालोंवाला करालमुखी सिंह, अत्यन्त मतवाला हाथी और बुद्धिमान समर शूर पुरुष भी स्त्रियो के आगे परम-कायर हो जाते हैं।

इसीके अनुसार राजा हरिश्चन्द्र भी रानी की इस दशा

को देखकर सहम उठे। राजा ने, कामी-पुरुषों के स्वभावानुसार, डरते हुए रानी से पूछा—आज तुम्हें क्या हुआ है?

तारा—क्या हुआ नाथ! आप यह प्रश्न किस बात को देखकर कर रहे हैं?

हरिश्चन्द्र—जिस शरीर पर, तुम सदा शृंगार सजाये रहती थीं, जो अंग-प्रत्यंग आभूषणों से लदे रहते थे, वे आज शृंगार और आभूषण से विहीन क्यों हैं? तुम्हारा वह मुख, जो सदा प्रफुल्लित रहता था, आज गम्भीर क्यों देख पड़ता है? तुम्हारी वह मधुर-मुसकान, जो मेरे मन को सदा विवश रखती थी, आज कहाँ छिप गई? प्रिये! मै यह जानने के लिए अत्यन्त व्याकुल हूँ, कि तुम मुझे देखकर सदा जो हाव-भाव दिखलाया करती थीं, उन हाव-भाव ने आज निठुरता का रूप कैसे धारण किया? एक राज्य की महारानी होकर, उदासीनता धारण करने का क्या कारण है?

तारा—स्वामिन्! बस करो। झूठा प्रेम जताने के लिये इस प्रकार प्रशंसा न करो।

हरिश्चन्द्र—झूठा प्रेम कैसा? क्या मेरा यह प्रेम कृत्रिम है? वास्तविक नहीं है? क्या मैं तुमसे प्रेम नहीं करता हूँ?

तारा—नहीं नाथ, कदापि नहीं। आप, मुझसे यदि सच्चा प्रेम करते होते, तो मुझे ऐसा कहने का अवसर ही क्यों आता?

हरिश्चन्द्र—यह तुमने कैसे जाना, कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करता हूँ? आज, मेरे प्रेम के विषय में तुम्हें शङ्का होने का क्या कारण है? तुम्हारे ऊपर तो मैंने, राज्य-पाट भी न्यौछावर

कर दिया, उस ओर कभी देखता भी नहीं, सदा तुम्हारे प्रेम का भिखारी बना रहता हूँ, तुम्हारे प्रेम के लिए संसार को भी कुछ नहीं समझता, और कहाँ तक कहूँ, यदि मेरी आराध्य-देवी हो, तो तुम्हीं हो, फिर यह शङ्का कैसी ?

रानी—स्वामी, अब मैं आपके इस झूठे भुलावे मे नहीं आसकती। मै, अब तक यह समझती रही, कि आप मुझसे प्रेम करते हैं, परन्तु मेरा यह समझना केवल भ्रम था।

रानी की बातों को सुनकर राजा विचार मे पड़ गये, कि जो रानी सदा विनम्र रहती थी, बात का उत्तर देना तो दूर रहा, कभी सन्मुख बोलती भी न थी, उस रानी को आज क्या होगया, जो वह इस प्रकार की बाते कर रही है। राजा ने, दासियो से, रानी के स्वभाव में इस प्रकार परिवर्तन होने का कारण पूछा, परन्तु दासियाँ क्या उत्तर देतीं ? राजा ने भी बहुत विचारा, लेकिन ऐसा होने का कोई कारण उनकी समझ में न आया। अत. विवश हो, राजा ने फिर रानी से पूछा—तुम्हारा चित्त कैसा है ?

तारा—क्या मैंने कोई दुर्वाक्य कहे है ? या कोई विक्षिप्तता की बात कही है, जो आपने यह प्रश्न किया ?

राजा—यदि तुम्हारे चित्त मे कोई विषमता नहीं है, तो ऐसी बाते करने का क्या कारण है ? और तुम्हारा वह प्रेम-व्यवहार, तुम्हारा वह सौन्दर्य, तुम्हारा वह शृङ्गार क्यो लुप्त हो गया ?

तारा—मैं भ्रम वश आपके द्वारा किये गए जिस अनादर को आदर और आपके जिस व्यवहार को प्रेम समझती थी, उनका असली तत्त्व अब मैं समझ चुकी हूँ। वह मेरा भ्रम, मिट

चुका है। मैं अब समझ गई, कि आपकी दृष्टि में मेरा उतना भी आदर नहीं है, जितना एक दासी का होता है; और आप मेरे प्रति जिस प्रेम का प्रदर्शन करते रहते हैं, वह असली नहीं, अपितु बनावटी है। बस, वह भ्रम ही नष्ट होते समय, अपने साथ उन सब बातों को लेता गया।

हरिश्चन्द्र—मैं नहीं जानता, कि मैंने तुम्हारा किस समय अनादर किया! तुमने जो बात कही, जो इच्छा की, उसके मानने और करने में मैं कब उदासीन रहा और तुमने किस समय परीक्षा ली, जिस में मेरा प्रेम बनावटी सिद्ध हुआ? तुम्हें तो मैं, अपना तन, मन, धन भी समर्पण कर चुका हूँ, केवल तुम्हारे ही प्रेम के आधार से मेरा जीवन है, फिर मैं बनावटी-प्रेम कैसे करता हूँ? क्या मैंने तुम्हे कभी इच्छित-वस्तु नहीं ला दी? क्या मैंने तुम्हारे वस्त्राभूषण, दास-दासी आदि में कभी कमी की है? क्या मैंने तुम्हें कभी अपशब्द कहे हैं? यदि नहीं, तो फिर तुमने कैसे जाना, कि मैं तुम्हारा निरादर करता और तुमसे सच्चा प्रेम नहीं करता हूँ?

तारा—स्वामी, मेरी इच्छित-वस्तु, मेरे शृंगार, मेरे आभूषण आप ही हैं और मैं स्वयं आपकी दासी हूँ, मुझे दास-दासी की क्या आवश्यकता? लेकिन यदि आपका मुझ पर प्रेम है, आप मेरा सम्मान करते हैं, आपके हृदय में मेरे लिये स्थान है, तो परीक्षा के लिये आज मैं एक छोटी सी प्रार्थना करती हूँ। यदि, मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करके, आपने मेरा मनोरथ पूर्ण कर दिया, तो मैं समझ जाऊँगी कि, आपके लिये यह मेरी भूल थी और इस भूल का मैं पश्चात्ताप भी कर डालूँगी।

हरिश्चन्द्र—तुम जो कुछ कहो, जिस कार्य या वस्तु की इच्छा करो, यदि मैं उसके लाने या करने मे अ-समर्थ रहा, तो अपने आपको अयोग्य समझूँगा।

तारा—हृदयेश्वर, आप एक बार पुनः विचार कर लीजिये, तब ऐसा प्रण कीजिये।

हरि०—मैं विचार चुका और अच्छी तरह विचार चुका, तुम अपनी इच्छा शीघ्र प्रकट करो।

तारा—प्रभो, मै अपनी प्रार्थना सुनाने से पहले आपको अपना प्रण भी सुनाये देती हूँ। मैं, आपके सन्मुख प्रतिज्ञा करती हूँ, कि जबतक मेरी प्रार्थना स्वीकार न होगी, मेरी इच्छित-वस्तु मुझे प्राप्त न होगी, तबतक मैं आपसे भेंट न करूँगी। आपसे, मेरी भेंट तभी होगी, जब मेरी मनोकामना आप पूर्ण कर देगें।

हरि०—तुम्हारा यह प्रण भी स्वीकार है। अब, तुम अपनी इच्छा प्रकट करने में देर न करो।

रानी की इन बातो से, राजा समझ रहे हैं, कि रानी किसी वस्त्राभूषण की इच्छुक है, और उन्हे प्राप्त करने के लिये ही, उसने यह प्रपंच रचा है। उन्हे, यह नही मालूम है, कि रानी ने मुझे जागृत करने के लिये ही ऐसा किया है और यह जो वस्तु मांगेगी, उसे न ला सकने के कारण, मैं रानी के प्रेम से वञ्चित रहूँगा।

हरिश्चन्द्र के बार-बार उत्सुकता प्रकट करने पर, रानी ने कहा— प्राणनाथ! मुझे एक ऐसे मृग-शिशु की आवश्यकता है, जिसकी पूँछ सोने की हो। मैं, उस मृग-शिशु से, रोहित का एक

खेल कराऊँगी। और उस खेल से क्या लाभ है, यह मैं आपसे तभी बताऊँगी।

हरि०—बस, इतनी ही सी बात के लिये तुमने निष्ठुरता का रूप धारण किया था? यही छोटीसी बात, मेरे प्रेम की परीक्षा है? मैं, ऐसे एक नहीं, अनेक हरिण के बच्चे तुम्हें मंगवाये देता हूँ।

तारा—नहीं नाथ, दूसरे से मँगवाया हुआ हरिण का बच्चा, मैं कदापि न लूँगी। मैं तो वही सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा लूँगी, जिसे आप स्वयं लावें।

हरि०—अच्छी बात है, मैं स्वयं ही जङ्गल से पकड़कर ला-दूँगा।

तारा—लेकिन स्वामी, एक बात और है। वह यह, कि जबतक आप ऐसा मृग-शिशु न लावें, तबतक मेरे निवास-भवन में न पधारने की कृपा करें। आप, मेरे निवासस्थान में उसी समय पधारें, जब मेरी मंगाई हुई वस्तु प्राप्त कर चुकें।

राजा, आवेशवश रानी की इस बात का उत्तर 'ठीक है' देते हुए अपने महल को चले गये। उनको विश्वास है, कि मैं रानी की इस परीक्षा में, असफल नहीं रह सकता, और एक के बदले, कई सोने की पूंछवाले हरिण के बच्चे जङ्गल से पकड़ लाऊँगा। प्रेमा-वेश के वश होने के कारण, राजा ने इस बात का विचार भी नहीं किया, कि रानी जैसा मृग-शिशु माँग रही है, वैसा, अर्थात्-सोने की पूँछवाला, मृग या मृगशिशु संसार में होता भी है, या नहीं। वे तो इसी विचार में हैं, कि मैं शीघ्र ही रानी की इच्छा पूर्ण कर पुनः प्रेम प्राप्त करूँ।

रानी के विचार, राजा को सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगकर और स्वयं ही लाने के लिए वचन-बद्ध करके कष्ट में डालने के नहीं हैं, वरन् उनका अभिप्राय, इस बहाने राजा को जङ्गल में भेजने का है। राजा, एक विशेप-समय से, महल से बाहर नहीं निकले हैं, वन की वायु, वन के दृश्य और वन-भ्रमण के लाभ को, वे विस्मृत-सा कर चुके हैं। अतः रानी को,'इन सब का उन्हे पुनः अनुभव कराना अभीष्ट है। वे, विचारती हैं, कि महल में ही पड़े रहने के कारण, राजा की जो कान्ति घट गई है, राजा का जो उत्साह नष्ट-प्राय होगया है, वह वन में कुछ समय रहने से, वृद्धि प्राप्त करेगा। वन के दु.खों को सहने से, इन्हे दुःख का अनुभव होगा और उसके साथ ही मुझ पर, इनका जो मोह है, वह भी कम हो जायगा।



मृग-शिशु की खोज



वस्तु का आदर, उसकी न्यूनता मे होता है, बाहुल्य में नहीं। जिन भोजन-वस्त्रादिक को धनिक लोग तुच्छ समझते हैं, वेही दीनो के लिये महान हैं और प्राप्त होने पर, वे उस वस्तु का बड़ा सत्कार करते हैं, तथा अपने आपको धन्य मानते हैं। जिस जल की बाढ़ से, अन्य प्रान्तवाले दु.खी हो जाते है, उसी जल की, मरु-भूमि के लोग अमृत के समान इज्जत करते हैं। तात्पर्य यह, कि जब वस्तु की कमी होती है, तभी उसकी क़दर होती है। छाया के सुख को वही जानता है, उसका आनन्द वही भली प्रकार समझता है, और उसका सत्कार भी वही करता है, जो ताप के दुःख से दु खी हो।

महाराजा हरिश्चन्द्र, अपनी रानी के माँगे हुए सोने की पूँछ-वाले हरिण के बच्चे की खोज में, वन को चले। वन में पहुँचने पर वहाँ की सघन-छाया, शीतल-हवा और पक्षियो के कल-रव से, राजा का चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। वे विचारने लगे, कि मैंने इतने दिन तक महल में रहकर, जो पंखे झलवाये, जिन गान-वाद्य को श्रवण करता रहा, वे इस प्राकृतिक त्रिविध-पवन और इन पक्षियो के गान के सन्मुख तुच्छ हैं। अस्तु।

मनुष्य के हृदय के विचारों का प्रभाव, उसकी आकृति पर विना पड़े नहीं रहता। उसके हृदय में जो भी विचार होते हैं, उनकी एक झलक चेहरे पर अवश्य दीख पड़ती है! वधिकों को देखकर ही जो हरिण चौकड़ी भरने लगते हैं, वे ही हरिण राजा के अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होते हुए भी, उनसे इस प्रकार निर्भय हैं, जैसे उनके पाले हुए हो। राजा की ओर वे अपने नेत्रो से इस प्रकार देखकर प्रसन्न हो रहे हैं, मानों राजा इनके परिचित हों, अतः उन्हे देखकर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हो और उनकी ओर अपने निर्मल-नेत्रों से देख, उनका स्वागत करते हों। अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित राजा का इन्हे किंचित् भी भय नहीं है, जैसे इन्हे भी हिंसक-अहिंसक, उपकारी-अपकारी और वधिक तथा रक्षक का ज्ञान हो; या उसकी आकृति से ये समझ लेते हो।

महाराजा-हरिश्चन्द्र, इन मृगों के नेत्रो की तुलना रानी के नेत्रों से करते हुए विचारते हैं, कि जिन नेत्रो की उपमा देकर मैं रानी को मृगनयनी कहा करता हूँ, उन नेत्रो में और रानी के नेत्रों में तो बड़ा ही अन्तर है। कहाँ तो इन बेचारे मूक-पशुओं के निष्कपट-नेत्र और कहाँ रानी के कपट भरे नेत्र! कहाँ तो इनके नेत्रो में भरा हुआ प्रेम का सरोवर और कहाँ रानी के नेत्रो की वह निठुरता! कहाँ इनके ये नेत्र, जिनसे ये मुझको इस प्रकार देख रहे हैं, मानो मुझे देखकर अपने नेत्रो को सफल मान रहे हो, और कहाँ रानी के वे नेत्र, जो अनुनय-विनय पर भी मेरी ओर नहीं होते, तथा जिनसे कभी-कभी अग्नि के समान क्रोध बरसता है! हाय-हाय! मैंने इनके नेत्रों की उपमा रानी के नेत्रो को देकर, इनके साथ बड़ा ही अन्याय किया है।

यह विचारते-विचारते, महाराजा-हरिश्चन्द्र को, अपने कार्य का ध्यान हुआ। वे, हरिणों के कुण्ड में, सोने की पूँछवाला बच्चा देखने लगे, परन्तु उन्हें एक भी हरिण का बच्चा ऐसा न दिखा, जिसकी पूँछ सोने की हो। राजा, सोने की पूँछवाले हरिण के बच्चे की खोज में और आगे बढ़े। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते जाते थे, वन-श्री के प्राकृतिक-सौन्दर्य को देख-देखकर, प्रसन्न होते जाते थे। सुगन्ध-युक्त शीतल-पवन के लगने से, राजा में एक नवीन-स्फूर्ति आती जाती थी। वन का सुख, राजा के हृदय के उस खेद को, जो रानी के व्यवहार से उत्पन्न हुआ था, मिटाता जाता था!

यद्यपि, वनदेवी ने राजा के हृदय को शान्ति प्रदान करने में कोई कमी न रखी, परन्तु राजा पूर्णतया आनन्दित न हुए। रह-रहकर उन्हें रानी के निठुर-व्यवहार की याद हो आती थी और उनके सन्मुख की गई प्रतिज्ञा का स्मरण आते ही, उसे पूर्ण करने के लिए अधीर हो उठते थे। चलते-चलते वे एक झरने के समीप पहुँचे, जो कल-कल करता हुआ, अबाध-गति से बह रहा था। उसके तट के सघन-वृक्ष, उसको इस प्रकार आच्छादित किये हुए थे, मानों सूर्य के ताप से उसकी रक्षा कर रहे हों। वृक्षों पर विश्राम के हेतु बैठे हुए पक्षीगण, इस प्रकार कल-रव कर रहे थे, जैसे अपने उपकारी वृक्ष और झरने की प्रशंसा कर रहे हों। प्यास से विह्वल पशुगण, झरने के जल को पीकर, इस प्रकार सन्तुष्ट हो जाते थे, जैसे किसी महान्-दानी के दान से भिक्षुक सन्तुष्ट हो जाते हैं।

राजा, यद्यपि महल की अपेक्षा वन में प्रसन्न दीख पड़ते थे,

परन्तु क्षुधा और चलने के परिश्रम से उनका हृदय कुछ खिन्न हो गया था। झरने के किनारे पहुँचकर एक वृक्ष की छाया में चट्टान पर बैठ गये और झरने के जल, तथा वृक्षो के फल से अपनी क्षुधा-तृषा को मिटाकर वे कहने लगे:—

झरने ! तू अपनी गति और शब्द से केवल मुझे ही नहीं, बल्कि सारे संसार को क्या सिखा रहा है ? मेरे आने से पहले भी तू इसी गति से, यही शब्द करता हुआ वह रहा था और मेरे आने पर भी तू इसी गति से, यही शब्द करता हुआ वह रहा है। यदि, मै चला भी जाऊँ, तव भी तू अपनी गति या शब्द में किसी प्रकार का अन्तर न आने देगा। इससे प्रकट है कि मेरे आने से न तो तुझे किसी प्रकार का हर्ष ही हुआ है, न भय या सङ्कोच ही। और मेरे चले जाने पर भी न तो तुझे दु:ख ही होगा, न आनन्द ही। तू अपनी गति को, अपने सङ्गीत को, एक ही रूप में रखता है। न तुझे हर्ष ही होता है, जो इन्हे बढ़ावे, और न शोक ही होता है, जो इन्हें घटावे। तेरे किनारे पर लगे हुए हरे-हरे वृक्षों की सम्पत्ति पर न तो तू अभिमान ही करता है; न तेरे निर्मल-जल को मलीन वनाने वाले पर क्रोध ही। प्रकृति ने; तेरे लिये जो नियम नियत किये हैं, तू बराबर उनका पालन करता जा रहा है। उनके पालन करने में, पहाड़-पत्थर आदि तुझे बाधक होते हैं, उनसे तू किंचित भी भयभीत नही होता, किन्तु उन्हे हटाता हुआ अविराम-गति से बह रहा है और सब को अपना अनुकरण करने का वोध दे रहा है।

तू जैसा संगीत सुना रहा है, वैसा ही संगीत मैंने रानी का भी सुना है। परन्तु जो सरसता तेरे सङ्गीत में है, वह सरसता

रानी के सगीत में मुझे नहीं मिली। तू, स्वाभाविक-सरलता से अपना शब्द सुनाता है और रानी कृत्रिम-सरलता से। तू, अपना सगीत सदा अलापा करता है, किसी को देखकर नहीं, परन्तु रानी अपना सगीत मेरे सामने तक ही अलापती है, सदा नहीं। गायिकाओं के संगीत भी मैंने सुने हैं, परन्तु उनमें तेरी तरह निःस्वार्थता कहाँ? वे तो भय तथा लोभ से अपना सगीत सुनाती हैं, और तू अपना सगीत निर्भय और स्वार्थ-भावना रहित होकर सुनाता है।

जलस्रोत! तू अपना अकृत्रिम-नाद सुनाकर सब को कृत्रिम-नाद से बचने का उपदेश देता है और कहता है कि जैसा मेरा नाद अकृत्रिम है, वैसा ही तुम्हारे हृदय में भी अकृत्रिम नाद है। लेकिन, साथ ही तू यह भी बतलाता है, कि जिस प्रकार मैं प्रकृति के नियमों का उल्लंघन न करता हुआ, हर्ष-शोक रहित, अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ, इसी प्रकार तुम भी हर्ष-शोक रहित अपने कर्त्तव्य पर दृढ रहो और प्रकृति के नियमों का पालन करो, तभी उस नाद का आनन्द प्राप्त कर सकते हो।

मित्र झरने! आज तक मैं, जिस नाद के सुनने में आनन्द मानता था, वह नाद कृत्रिम है, इस बात को आज तेरी सहायता से समझ सका। तेरी सहायता प्राप्त करने का अवसर, मुझे रानी की ही कृपा से प्राप्त हुआ है। रानी का यह कहना-कि 'आप मेरा तिरस्कार करते हैं,' ठीक ही था। वास्तव में, आज-तक मेरा वह और उसका मैं अपमान ही करता रहा। हम दोनों ने, कभी भी तेरे जल तथा शब्द की तरह निर्मल और अकृत्रिम बात नहीं की, यह एक दूसरे का अपमान ही है। सम्भवतः तेरे

से उपदेश प्राप्त करने के लिये ही, उसने हरिण के बच्चे के बहाने मुझे यहाँ भेजा है।

यह विचारते-विचारते, राजा को ध्यान हुआ कि मैं यहाँ किस कार्य से आया हूँ। मैं, रानी से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा ला दूँगा, अतः मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का उपाय करना चाहिए, यहाँ बैठने से काम न चलेगा।

राजा, झरने के तट से उठ, वन के वृक्ष-लता आदि की छटा भ्रमरों का गुञ्जार, हिंसक पशुओं की गर्जना और पक्षियों की किलोल-क्रीड़ा को देखते सुनते, सोने की पूँछवाले हरिण के बच्चे की खोज में चले जा रहे थे। उन्होंने, छः दिन तक अनेक वनों में, सोने की पूँछवाले हरिण के बच्चे को निरन्तर खोज की, परन्तु उन्हें एक भी ऐसा हरिण का बच्चा न दिखाई दिया, जिसकी पूँछ सोने की हो।

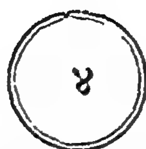
सातवें दिन, राजा को अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने का बहुत खेद हुआ। वे, निराश हो कहने लगे, कि मैं क्षत्रिय होकर स्त्री को दिये हुए वचन का भी पालन न करके, उसे कैसे मुँह दिखाऊँगा? रानी! तेरी आकृति से, तेरे स्वभाव से, यह नहीं जाना जाता था, कि तू कभी ऐसी अप्राप्य-वस्तु के लिये, मुझे प्रतिज्ञा-बद्ध करके कष्ट में डालेगी। यह निठुरता, यह विश्वासघात, तेरे हृदय में कहाँ छिपा था, जिसे मैं न जान सका?

राजा विचार करने लगे, कि रानी ने मेरे से ऐसी अप्राप्य वस्तु माँगकर, मुझे जो कष्ट में डाला है, इसका क्या कारण है? रानी, अकारण ही मुझे कष्ट में डाले, वन-वन भटकावे, यह तो सम्भव

नहीं। विचारते-विचारते, विचार-मग्न राजा हर्ष से उछल पड़े और कहने लगे—रानी! तूने मेरे से जो सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगा है, उसका कारण मैं समझ गया। वास्तव में, मैं तेरा अनादर ही करता था। मैं स्वयं विषय-भोग में लिप्त रहूँ, अपने कर्त्तव्य को न देखूँ, और तुझे अपनी विषयेच्छा की पूर्ति का साधन बनाऊँ, यह कदापि तेरा आदर नहीं कहला सकता। तूने, मुझ से सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगकर, और वह भी स्वयं लाने के लिये वचन-बद्ध करके, तथा जब तक न लाऊँ, अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराकर, मेरा ही उपकार किया है। इसमें न तो तेरा कुछ स्वार्थ ही है, न मुझे कष्ट में डालना ही तेरे को अभीष्ट है। तेरा ऐसा करने का अभिप्राय यही है, कि न तो मैं इस प्रकार का हरिण का बच्चा ला ही सकूँगा, न तेरे महल को ही आ सकूँगा। और इस प्रकार मैं उस विषय-विष से—जिसे मैं अब तक अमृत समझता था—बच जाऊँगा। तूने, मेरा बड़ा उपकार किया है। तेरी ही कृपा से आज मुझे प्रकृति का वह अवर्णनीय-आनन्द प्राप्त हुआ है, जिसकी, मैं महलों में रहते हुए कल्पना भी नहीं कर सकता था। रानी! तूने मुझे अपना कर्त्तव्य-पथ दिखा दिया और उस कर्त्तव्य पथ के कण्टकों को भी तूने अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराकर साफ़ कर दिया। प्रिये! मैं तुझे अनेकों धन्यवाद देता हूँ और तेरी इस कृपा का अभारी हूँ। मैं, तेरी इच्छित-वस्तु प्राप्त नहीं कर सका, इसलिये सम्भव है, कि तू मुझ से निठुर ही रहे; लेकिन तेरी वह निठुरता, मुझे कर्त्तव्य-पथ पर स्थैर्य-प्रदान करनेवाली सहायता होगी, निठुरता नहीं।

इन विचारों से, राजा का चित्त प्रसन्न हो उठा और उन्होंने नगर की ओर प्रस्थान किया।





रानी की चिन्ता



शिक्षा देनेवाले, यद्यपि ऊपर से तो कठोर-व्यवहार करते हैं, परन्तु उनके दय में, शिक्षा प्राप्त करनेवाले के प्रति सदैव दया, कृपा और सहानुभूति के ही भाव रहते हैं। वे, जिसे शिक्षा देते हैं, उसके लिए उनके हृदय में दुर्भाव नहीं रहता, इसीसे वे उन शिक्षाओं को हृदयस्थ कराने के लिये, हर उचित उपाय से काम लेते । एक कवि ने कहा है —

उपरि करवाल धारा कारा, कूरा भुजङ्गम पङ्गवाः ।
अतः साक्षा द्राक्षा, गुरवो जयन्ति केऽपिजनाः ॥

अर्थात्'—शिक्षा देनेवाले गुरु, ऊपर से तो तलवार की धार ऐसे तीक्ष्ण और काले भुजङ्ग ऐसे भयानक दीखते हैं, परन्तु उनका हृदय दाख की तरह नरम और मधुर रहता है।

एक दूसरे कवि ने कहा है:—

गुरु परजापति सारखा, घड़-घड़ काढ़े खोट।
भीतर से रक्षा करे, उपर लगावे चोट॥

अर्थात्—गुरु और कुम्हार, दोनो एक ही प्रकार के होते हैं।

जिस प्रकार कुम्हार हण्डी को बराबर करने के लिये—उसकी बुराई दूर करने के लिये-ऊपर से तो चोट लगाता है, परन्तु भीतर से हाथ द्वारा उसकी रक्षा करता जाता है, उसी प्रकार शिक्षा-गुरु ऊपर से तो कठोर रहते हैं, परन्तु हृदय से, जिसे शिक्षा देते है, उसका भला ही चाहते हैं।

तात्पर्य यह, कि दूसरे को शिक्षा देने के लिये, गुरु वैसा ही रूप धारण कर लेता है, जैसे अमृत के कलश पर विष का ढक्कन लगा दिया हो।

यहाँ पर शिक्षा-गुरु का कार्य रानी कर रही है। वे भी, ऊपर से तो राजा से निठुर बनी हुई हैं, परन्तु हृदय में राजा के लिये पहले की अपेक्षा, अधिक ही प्रेम रखती हैं, कम नहीं।

रानी ने, राजा से सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगकर उनसे बिना ऐसा बच्चा लाये महल में न आने की प्रतिज्ञा तो कराली, परन्तु उनके हृदय में भी चैन नहीं है। उन्हें, रह-रहकर विचार हो आता है, कि मैंने पति से जो अप्राप्य-वस्तु मँगाई है, उसके लिये पति को न मालूम कहाँ-कहाँ भटकना पड़े और न जाने कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ें। अस्तु।

सन्ध्या के समय, जब राजा नित्य की तरह महल मे नहीं आये तब रानी विचारने लगीं, कि आज नाथ क्यो नहीं आये? इसी समय, उन्हे ध्यान हुआ, कि पति से मैंने ही तो उस समय तक महल में न आने की प्रतिज्ञा कराई है, जब तक वे सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा न ले आवें। लेकिन, स्वामी अपने महल में भी हैं या नहीं, इस बात का पता लगाने के लिये रानी ने दासी को भेजा। दासी ने, लौटकर उत्तर दिया कि वे महल में

नहीं हैं। इस उत्तर को सुनते ही, रानी के मन पर चिन्ता का साम्राज्य छा गया। वे कहने लगीं, कि मेरी ही वस्तु की खोज में नाथ वन को गये होंगे, लेकिन मैंने ऐसी वस्तु माँगी है, जो मिल ही नहीं सकती। हृदयेश्वर! आज आपको वन मे न मालूम किन-किन कष्टों का सामना करना पड़ रहा होगा। सूर्य के ताप और मार्ग की थकावट से आपकी क्या दशा हो रही होगी। आज आपको भोजन भी कहाँ प्राप्त हुआ होगा! इस अभागिनी ने ही आपको इन कष्टों में डाला है। परन्तु स्वामी! इसमें मेरा किञ्चित् भी स्वार्थ नहीं है। मुझे, आपका, प्रजा का और मेरा कल्याण, ऐसा करने में ही देख पड़ा, इसीसे मैंने आपका इस प्रकार वन जाने के लिये विवश किया है। प्राणाधार! मैं आपको अपना हृदय चीरकर दिखा सकती हूँ, कि मेरे हृदय में आपके प्रति वही प्रेम है। लेकिन, मेरे इस प्रेम से इस समय आपको कष्ट प्राप्त हो रहा होगा, अत मैं भी प्रण करती हूँ, कि जबतक आपके दर्शन न करलूँ, अन्न-जल कदापि ग्रहण न करूँगी, न शय्या पर शयन ही करूँगी। आप तो वन मे भूख-प्यास से कष्ट सहें, वन की कठोर-भूमि पर शयन करें और मैं भोजन-पान तथा सुखपूर्वक-शयन द्वारा आनन्द करूँ, यह सर्वथा अनुचित है। मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ, अत. आप दु ख सहे और मैं सुख करूँ, यह बात मेरे कर्तव्य की सीमा से परे है। मैं भी, आपके कष्टों का जहाँ तक अनुमान कर पाऊँगी, अनुकरण करूँगी। यदि मैंने, आपके हित को दृष्टि में रखकर, ऐसी अप्राप्य-वस्तु स्वच्छ-हृदय से माँगी है, तो मेरी तपस्या अवश्य ही आपके और मेरे कष्टों को दूर करके कल्याणदायिनी होगी।

राजा की चिन्ता में विकल, रानी को इसी प्रकार ६ दिन व्यतीत हो गये। इन छः दिनो में, उन्होंने न तो भोजन ही किया, न जल ही पिया। इतने दिनो में, रानी के हृदय में जो-जो भाव उत्पन्न हुए, उनका व्यक्त करना कठिन है।

सातवें दिन, चिन्ता-ग्रस्त रानी, महल के समीप वाले उपवन में जाकर, एक कुण्ड पर बैठ गईं और उस कुण्ड के कमल को सम्बोधन कर कहने लगीं—कमल! इस समय तू कैसा प्रसन्न-चित्त विकसित होकर, अपनी छटा फैला रहा है! यदि इस समय कोई तुझे उखाड़ डाले, तेरी प्रसन्नता और छटा का घातक हो जाय, तो कितना बुरा हो? तुझे, जिस प्रकृति ने बनाया है, उसे तेरे बनाने में तो समय लगा है, परन्तु तेरे नाश करनेवाले को कुछ भी समय नहीं लग सकता। लेकिन, जो तुझे बनाने में समर्थ नही है, उसे तेरे को बिगाड़ने का क्या अधिकार है? ऐसा करने वाला निन्दनीय ही नहीं, घोर पातकी भी है। जिस प्रकार तुझे प्रकृति ने बनाया है, इसी प्रकार, मेरे पति-कमल को भी उनके माता-पिता ने बनाया है। उनके बनाने में, उनके माता-पिता को न मालूम कितना समय लगा होगा और उनके लालन-पालन में न मालूम कितने कष्ट उन्होने सहे होंगे। परन्तु मुझ पापिनी ने इस का कुछ भी विचार न करके, उन्हें एक-क्षण में ही उखाड़ दिया। मैं, घोर-पापिनी हूँ, जो उस वस्तु के बिगाड़ने का साहस किया, जिसको मैंने नही बनाया था। हाय! इन सात-दिनों में, पति पर न मालूम क्या-क्या कष्ट पड़े होंगे और उन्हे कितने सङ्कटो का सामना करना पड़ रहा होगा।

पति के कष्टों की कल्पना करती हुई रानी, गंभीर चिन्ता-सागर

में ऐसी निमग्न हो गईं, कि उन्हें अपने आपकी भी सुधि न रही। लेकिन, सच्चे-हृदयवालों को किसी चिन्ता में, विशेष-समय तक नहीं रहना पड़ता; इसके अनुसार, रानी को भी इस चिन्ता समुद्र में विशेष-समय तक गोते नहीं खाने पड़े।

उधर, राजा वन से लौटकर विचारने लगे, कि पहले मैं उस रानी को तो देखूँ, जिसने मुझे सातदिन तक वन में भटकाया है। मेरे, वन जाने और कष्ट सहने का उसे दु:ख है या आनन्द, इस बात का तो पता लगाऊँ। क्योंकि स्त्री की परीक्षा कष्ट के ही समय होती है, सुख के समय नहीं। यद्यपि रानी ने मुझे सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा लाये बिना अपने महल में आने से रोक दिया है, लेकिन आज मैं उन विचारों को लेकर रानी के महल में नहीं जा रहा हूँ, जिन विचारों से अब तक रानी के महल में जाया करता था। आज तो केवल यह देखने जा रहा हूँ, कि वन में मेरे हृदय में जो विचार आये थे, वे ठीक थे या नहीं।

राजा, यह विचारकर, सबसे पहले रानी के महल में गये, परन्तु रानी वहाँ न दीख पड़ीं। दासियों से पूछने पर, राजा को मालूम हुआ, कि रानी इस समय समीप के उपवन में हैं। महाराजा हरिश्चन्द्र, उपवन में आये। वहाँ, कुण्ड पर, कृश-शरीर रानी को ध्यानस्थ योगियों की तरह चिन्तामग्न देख, राजा विचारने लगे, कि मैंने वन में रहकर जितने कष्ट उठाये हैं, उनसे अधिक कष्टों का अनुभव, रानी महल में ही कर रही है। मैं, अपने शरीर को, वन में रहने पर भी उतना दुर्बल नहीं देखता, जितना दुर्बल रानी का शरीर है। सम्भवत: रानी मेरी ही चिन्ता में

डूबी हुई है, लेकिन मैं अब इसे अधिक देर तक चिन्ता में न रहने देकर, शीघ्र ही चिन्ता-मुक्त करूँगा।

इस प्रकार विचार करके, राजा ने कहा—प्रिये तारा! सकुशल तो हो?

राजा के इन शब्दों के श्रवण में पड़ते ही, रानी के हृदय में एक प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। वे, पति के शब्द को सुन, विचारने लगीं, कि ये शब्द तो पति के ही प्रतीत होते हैं, तो क्या वे आगये? अवश्य आगये होंगे, अन्यथा मुझे 'प्रिये' कह कर कौन सम्बोधन करता?

राजा को आया जान, रानी के हृदय में अपार आनन्द हुआ। लेकिन, उन्होंने अपने इस आनन्द को प्रकट न होने दिया। उन्होंने विचारा, कि हर्षावेश में मैंने यदि स्वामी के सन्मुख इस आनन्द को, प्रेम-प्रदर्शन द्वारा प्रकट कर दिया, तो जिस अभिप्राय से मैंने नाथ को इतने दिन वन में भटकाया है, उसमें सफलता प्राप्त न होगी। स्वामी, पुनः मेरे मोह में लिप्त हो जायँगे, जिससे उन पर का वह कलङ्क—जिसे मैं मिटाना चाहती हूँ—न मिटा सकूँगी।

रानी ने, यह सोचकर, गम्भीरता भरी कटाक्ष-दृष्टि से राजा की ओर देख कर पूछा—प्रभो! आप पधार गये?

राजा—हाँ प्रिये, मैं आगया।

रानी—हृदयवल्लभ! मेरी माँगी हुई वस्तु कहाँ है?

राजा—प्रिये! तुम विचारो तो सही, कि जो वस्तु तुमने माँगी है, क्या उसका प्राप्त होना सम्भव है? तुम, एक राज-वंश की ललना हो, एक राजवंश की कुल-वधू हो, एक राजा की सह-

धर्मिणी हो, फिर तुममें इतनी अज्ञानता रहे, यह कितने आश्चर्य की बात है ? ऐसा मृग-शिशु, जिसकी पूँछ सोने की हो, प्रत्यक्ष देखना तो दूर रहा, कभी स्वप्न में भी देखा है, या किसी से सुना अथवा पुस्तकों में भी पढा है ? यदि नहीं, तो फिर ऐसा मृग-शिशु होता है, इसका क्या प्रमाण।? मैंने, सातदिन तक वन में निरन्तर ढूँढा, परन्तु मुझे एक भी ऐसा मृग या मृगशिशु न दिखाई दिया, जिसकी पूँछ सोने की हो । यदि ऐसे मृग या मृगशिशु—जिनकी पूँछ सोने की हो—संसार में होते, तो कदाचित मैं उन्हें पकड़ न पाता, परन्तु क्या वे मेरी दृष्टि से भी छिपे रहते ? मैं नहीं कह सकता, कि तुमने सर्वथा अप्राप्य-वस्तु माँगकर, मेरी इतनी कठिन परीक्षा क्यों ली है कि जिसमें मैं कदापि सफलता प्राप्त नही कर सकता। अब, मेरे कथन पर विश्वास करो और निठुरता को छोड श्रृङ्गार धारणकर सदा की भाँति प्रेम-व्यवहार करो।

रानी—अच्छी बात है नाथ ! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह आपके लिये अशोभनीय है, यह तो मैं नही कह सकती, परन्तु मुझ अभागिनी के लिये आपके हृदय में स्थान कहाँ है, जो मेरी माँगी हुई वस्तु आप मुझे लादें। आपके राज्य में, सब के लिये तो सब कुछ है, परन्तु मेरे लिये तो केवल तिरस्कार और कपट भरा शुष्क-प्रेम ही है। यदि मैंने आपसे अप्राप्य-वस्तु माँगी थी, तो आपको उसी समय कह देना चाहिए था, जिसमें उसके लिये न तो मैं ही प्रतिज्ञा करती, न आप ही से प्रतिज्ञा कराती। आप भी क्षत्रिय हैं और मैं भी क्षत्राणी हूँ। अपनी प्रतिज्ञा पर—फिर वह चाहे सम्भव हो या असम्भव—

दृढ़ रहना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। इसके अनुसार, मैं आपकी और आप मेरी भेंट से भी वंचित रहे और इच्छा भी पूर्ण न हुई। मैं, आपसे पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी, कि आप मुझ से प्रेम नहीं करते हैं, बल्कि मेरा अनादर करते हैं। इस बात की पुष्टि, इससे और भी हो गई। इस अनादरपूर्ण-जीवन से तो मरना ही श्रेष्ठ है। (दासी को सम्बोधन करके) मल्लिके! पति से किसी प्रकार की आशा करना, दुराशामात्र है। अत. चलो, महल को चलें और अपना शेप-जीवन, भगवद्-भजन में ही व्यतीत करें।

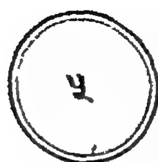
यह कहकर, मल्लिका को साथ ले, रानी महल को चल दीं। राजा, उनमें ठहरने के लिये कहते ही रहे, परन्तु रानी ने न तो राजा के इस कथन पर ध्यान ही दिया, और न ठहरीं ही।

रानी के इस प्रकार चले जाने का तात्पर्य, राजा समझ गये। वे, विचारने लगे, कि रानी यह सब मेरे लाभ के लिये ही कर रही हैं, मेरे हित को ही दृष्टि में रखकर, उन्होंने मुझसे अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराई है, अत उनका यह व्यवहार सर्वथा क्षम्य है। कदाचित, ऐसा समझना मेरा भ्रम भी हो, तब भी रानी जब स्त्री होकर मेरी अपेक्षा नहीं रखती, तब मैं पुरुप होकर उनकी अपेक्षा क्यों रखूँ? अबतक, जो विषयानन्द लेते थे, वह दोनों समान रूप से ही लेते थे, फिर रानी तो उसके अभाव में दु:ख नहीं मानती हैं, तो मैं दुःख क्यों मानूँ? यदि मुझे रानी का वियोग असह्य होगा, तो क्या रानी को मेरा वियोग असह्य न होगा? और यदि उनको मेरा तथा विपयानन्द का वियोग सह्य हो जायगा, तो मैं पुरुप होकर,

उनके तथा विषयानन्द के वियोग को सहन करने में, क्यो असमर्थ रहूँगा ? रानी तो अपनी प्रतिज्ञा के पालन में इतनी दृढ़ रहें और मैं उसके पालन ने अशक्त रहूँ, यह मेरे पुरुषत्व को कलङ्कित करनेवाली बात है। रानी के और मेरे, दोनो के हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि, जब समान ही होंगे, तब मैं ही चिन्ता क्यों करूँ ?

इस प्रकार विचार करके, राजा ने दृढ़ता धारण की और अपने महल को चले गये।





राजा को सुख-निद्रा



हृदय के शान्त और मन के स्थिर रहने पर, मनुष्य को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अशान्त और अस्थिर होने पर नहीं मिलता। हृदय को शान्त और मन को स्थिर रखने के लिये ही, योगी लोग एकान्त-वास पसन्द करते हैं। इसी कारण, वे सांसारिक-झंझटों से दूर और समस्त चिन्ताओं से रहित होजाते हैं। जिस मनुष्य में, चिन्ता की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, उसका हृदय उतना ही अशान्त और मन उतना ही अस्थिर होगा। और जिसमें चिन्ता की मात्रा जितनी ही कम होगी, उसका हृदय उतना ही शान्त, और मन उतना ही स्थिर होगा। तात्पर्य यह है कि मन के स्थिर होने से मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है और चिन्ता, मन के स्थिर होने में बाधक है। चिन्ता-ग्रस्त-मनुष्य के हृदय को, कभी और किसी काम में शान्ति नहीं मिलती। उसका मन, पवन लगने से हिलनेवाले पत्ते की तरह, सदा चंचल रहता है। ऐसे मनुष्य को खान-पान, शयन आदि लौकिक कार्य और ज्ञान, ध्यान, तप आदि लोकोत्तर कार्य, इनमें किसी में भी आनन्द नहीं आता।

संसार के ही कार्यों पर दृष्टि डालिये। संसार के आवश्यक कार्य—खाना, पीना, सोना आदि चिन्ताग्रस्त मनुष्य भी करता है और चिन्ता-रहित भी। लेकिन, इन्हीं कार्यों में, चिन्ताग्रस्त को दु:ख का अनुभव होगा और चिन्तारहित को शान्ति का। कोई चिन्तारहित मनुष्य जो सोकर उठता है, तब उससे पूछने पर वह कहता है, कि मैं बड़े आनन्द मे सोया था। लेकिन चिन्ताग्रस्त-मनुष्य, यदि सोकर उठे और उससे पूछा जाय, तो वह कहेगा कि मुझे अच्छी तरह नींद ही नहीं आई, या मैंने इस प्रकार के दु:स्वप्न देखे, आदि। उसी नींद में, चिन्तारहित को आनन्द मिलने और चिन्ताग्रस्त को दु:स्वप्न दीखने का कारण यही है, कि चिन्तारहित का मन स्थिर था और चिन्ताग्रस्त का अस्थिर। सारांश यह, कि मन की स्थिरता ही आनन्द की दाता है। बिना मन के स्थिर हुए, वही आनन्द दु:ख में परिणत हो जाता है और मन के स्थिर होने पर मनुष्य दु:ख को भी, आनन्द ही मानता है। मन की स्थिरता के लिये, चिन्ताओं का नाश होना आवश्यक है। जिस मनुष्य की चिन्ता, जितने अंश में नाश होती जायगी, उसका मन उतना ही स्थिर होता जायगा और चिन्ताओं के पूर्णतया नाश होने पर, उसका आत्मा ज्ञान द्वारा सच्चिदानन्द बन जायगा।

उपवन से, अपने महल में आकर, राजा सो गये। आज, उनका मन चिन्ताओं से, बहुत अंश मे मुक्त था और कुछ मार्ग की थकावट भी थी, अतः उन्हे ऐसी अपूर्व नींद आई, कि जिसका अनुभव, उन्होंने एक विशेष समय से नहीं किया था। अस्तु।

राजा के रोकने पर भी, रानी न रुककर अपने महल मे आई। उनकी, अब तक की तो चिन्ता-राजा के दर्शन से नष्ट-प्राय हो

चुकी थी, परन्तु महल में आने पर, उन्हें एक दूसरी चिन्ता ने घेर लिया। वे विचारने लगीं, कि स्वामी वन के कष्टों को सहकर आज सातवें दिन घर को पधारे, परन्तु मुझ पापिनी ने उनकी कुशल भी न पूछी, उन पर जो कष्ट वीते, उनको भी न सुना, बल्कि अपने कठोर वचनों से, उनके हृदय को विशेष दुःखित किया और उनके रोकने पर भी मैं उनके समीप न ठहरी। यद्यपि, यह सब कुछ मैंने किया तो उनके हित के लिये ही, परन्तु नाथ मेरे अभिप्राय को न समझ, कहीं यह न कहने लगे, कि रानी दुष्ट हृदयवाली है, उसका स्वभाव क्रूर है और वह पतिवंचक है। नाथ! जिस प्रकार वर्षा के पूर्व सूर्य अपने प्रखर-तेज से सबको तपा देता है, उसी प्रकार मैंने भी आपको कष्ट दिया है। लेकिन, सूर्य की ऊष्णता के पश्चात्, वर्षा द्वारा जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी शान्ति मेरे द्वारा दिये गये कष्टों को सहने के पश्चात्, आपको मिलेगी या नहीं, यह बात तो भविष्य के गर्भ मे छिपी है। प्रभो! आज आप वन के अनेकों कष्ट सहकर पधारे हैं। इस समय, सेवा द्वारा आपकी थकावट को मिटाना और आपको सुख पहुँचाना, मेरा परम कर्तव्य है, परन्तु यदि मै आपकी सेवा में उपस्थित होती हूँ, तो मैंने अब तक जो कुछ किया है—जिस अभिप्राय से मैंने स्वयं आपको कष्ट की ओर अग्रसर किया है—वह सब निष्फल हो जायगा।

रानी, इसी चिन्ता को दूर करने के लिये भगवान् का भजन करने बैठीं। वे उच्चारण तो करना चाहती हैं परमात्मा का नाम, परन्तु उनके मुख से परमात्मा के बदले, पति-पति ही निकलता है। इस अन्तर के लिये रानी विचारती हैं, कि मेरे लिये परमात्मा

कार्य कर डालें तब ? जब वे आपके सहवास से दूषित हो गए हैं, तो मेरे जाने पर उनके और कितने दूषित हो जाने की आशङ्का है, आप इसे विचारो। राजा, आपके स्वामी हैं और आप उनकी धर्म-पत्नी हैं। एकान्त मे उनके समीप जाने का अधिकार, आपको है। मुझे यह अधिकार नहीं है, कि मैं अकेली उनके समीप जाऊँ। हाँ, यदि आप जाती हो, तो आज्ञा देने पर मैं भी साथ चल सकती हूँ, या आपकी उपस्थिति मे कार्यवश उनके समीप जा सकती हूँ; परन्तु आपकी अनुपस्थिति में रात के समय उनके समीप जाने से मैं क्षमा चाहती हूँ। अस्तु।

यदि देखा जाय, तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धी पाप का विशेष कारण, स्त्री-पुरुष का एकान्त-निवास है। इसके लिए एक दृष्टान्त देना अप्रासङ्गिक न होगा।

राजा भोज ने, अपनी सभा के पण्डितों से पूछा कि—

"मनोमहीला विषयादि तता कामस्य सत्यं जनक कवेकः।"

अर्थात्—हे कवि, काम के उत्पन्न करनेवाले, मन, स्त्री, खान-पान आदि तो हैं ही, परन्तु इसका सच्चा उत्पादक कौन है ?

राजा के इस प्रश्न का उत्तर, कोई भी पण्डित न दे सका। तब, राजा ने कालिदास से कहा, कि—क्या मेरे इस प्रश्न का उत्तर, तुम से भी न मिलेगा ? कालिदास ने कहा—मैं, कल आपको इसका उत्तर दूँगा।

कालिदास घर आये। घर आकर उन्होंने ग्रन्थों में इस प्रश्न का उत्तर ढूँढना प्रारम्भ किया, परन्तु इसका उत्तर किसी भी ग्रन्थ में न मिला।

कालिदास की स्त्री का, देहान्त हो चुका था। उनके प्रभावती नामकी एक कन्या थी, जो उसी नगर में विवाही थी। प्रभावती, नित्य अपने पिता के घर आती और भोजन बना तथा उन्हें जिमाकर चली जाया करती थी। नित्य की तरह, उस दिन भी उसने भोजन बनाया, और कालिदास से कहा कि—पिताजी, भोजन कर लीजिये। कालिदास उस समय ग्रन्थों में, राजा के प्रश्न का उत्तर खोज रहे थे, अत: उन्होंने प्रभावती की बात सुनी-अनसुनी करदी। प्रभावती समझी, कि पिता इस समय किसी आवश्यक-कार्य में लगे हैं, सम्भव है कि वह कार्य कुछ देर में, समाप्त हो जाय। प्रभावती, कुछ देर ठहरकर फिर कालिदास के पास गई और उनसे भोजन कर लेने के लिए कहा, परन्तु कालिदास ने उत्तर दिया, कि मैं कुछ देर ठहरकर भोजन करूँगा।

कालिदास के इस उत्तर और उनकी मुख-मुद्रा से प्रभावती समझ गई, कि पिताजी इस समय किसी चिन्ता मे हैं। उसने पूछा—पिताजी, आप किस चिन्ता में हैं। कालिदास ने झुँझलाकर उत्तर दिया कि—तू समझती-बूझती तो कुछ है नहीं, तुझे क्या मालूम कि मैं इस समय कौन-सा कार्य कर रहा हूँ, इसीसे तू इस प्रकार की अनावश्यक-बातें करके, मेरा समय नष्ट कर रही है।

प्रभावती—पिताजी, आप विचारिये तो सही, कि मुझे दो गृह के कार्य करने पड़ते हैं। यदि मैं, सब कार्य यथा-समय न करूँ, तो मेरा काम कैसे चले ? मैं, कभी से भोजन बनाकर आपसे प्रार्थना कर रही हूँ, कि भोजन कर लीजिए, परन्तु आप, न तो भोजन करने ही चलते हैं, न अपनी चिन्ता ही प्रकट करते

हैं। कम-से-कम, आप अपनी चिन्ता तो बतला दीजिये, जिसमें मैं भी उसपर विचार कर सकूँ और यदि सम्भव हो, तो आपकी कुछ सहायता भी कर सकूँ।

कालिदास ने, प्रभावती को भोज का प्रश्न सुनाकर कहा, कि मैंने इस प्रश्न का उत्तर, कल देने को राजा से प्रतिज्ञा की है; परन्तु, मैं इस समय तक इसका उत्तर न विचार सका, न किसी ग्रन्थ मे ही इसका कुछ उत्तर मिलता है। प्रभावती ने कहा—पिताजी, राजा के इस प्रश्न का उत्तर, कल की सभा के समय से पहले मैं आपको देदूँगी। आप चलकर भोजन करिए। प्रभावती के विश्वास दिलाने पर, कालिदास ने भोजन किया। पिता को भोजन कराकर, प्रभावती ने अपनी ससुराल में सन्देश भेज दिया, कि आज मैं अपने पीहर मे ही रहूँगी।

सध्या के समय, प्रभावती ने कालिदास के लिए जो भोजन बनाया, उसमें उसने कामोत्तेजक-पदार्थों का, संमिश्रण कर दिया। कालिदास को, उन उत्तेजक-पदार्थों का भोजन कराके, प्रभावती ने भी भोजन किया और दोनों अपने-अपने स्थान पर सो रहे। प्रभावती ने सोने के पूर्व, ऐसे स्थान को देख लिया था, जिसमें चले जाने पर, वह पिता के हाथ भी न आवे और पिता को, राजा के प्रश्न का उत्तर भी मिल जाय।

कामान्ध-मनुष्य की बुद्धि, नष्ट हो जाती है। उसे, उस समय कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। चाहे जितना बुद्धिमान मनुष्य हो, कामान्ध होने पर उसे केवल स्त्री की ही धुन रहती है। फिर चाहे वह स्त्री, लड़की ही क्यों न हो, या पशुजाति की ही क्यों न हो।

उन कामोत्तेजक-पदार्थों ने, रात के समय, कालिदास के मन में विकार उत्पन्न किया। कालिदास, काम-पीड़ा से मुक्ति पाने की अभिलाषा से, प्रभावती के पास गए और उससे भोग-भोगने के लिए उपाय करने लगे! प्रभावती ने, कालिदास को अपने ऊपर हस्तक्षेप करते देख, उनसे कहा—पिताजी, सावधान रहिए। अपनी कन्या के ऊपर यह क्या अत्याचार करने को आप तत्पर हुए हैं? कालिदास तो उस समय कामान्ध थे, उन्हें ऐसे समय में यह चिन्ता कब रहने लगी थी, कि यह मेरी कन्या ही है, या दूसरी कोई। उन्होंने, प्रभावती की बात सुनकर उससे कहा कि—बस! चुपचाप रह, अन्यथा जीवन की कुशल नहीं है।

प्रभावती समझ गई, कि मैंने ही इनको कामोत्तेजक पदार्थ खिलाये हैं, अत ये अपने वश में नहीं हैं। इस समय, इनका ज्ञान लुप्त होगया है। उसने कालिदास से कहा—पिताजी, यदि आपकी इच्छा ऐसी ही है, तो कम-से-कम दीपक तो बुझा दीजिये। दीपक जल रहा है, क्या उसके देखते हुए, आप अपनी कन्या के साथ और मैं अपने पिता के साथ भोग भोगूँगी?

प्रभावती की बात सुन, कालिदास दीपक बुझाने गए। इतने मे ही, प्रभावती उस पहले से सोचे हुए स्थान में चली गई और भीतर से कपाट बन्द कर लिए। कालिदास, लौटकर प्रभावती को भय दिखाने लगे, प्रलोभन देने लगे, लेकिन प्रभावती ने यही उत्तर दिया कि आप सवेरे चाहे मुझे मार ही डालें, परन्तु इस समय मैं कदापि किवाड़ नहीं खोल सकती। कालिदास ने, प्रभावती को प्राप्त करने के लिए कई उपाय किये, परन्तु वे उसे प्राप्त करने में असफल रहे।

कालिदास को, सारी रात इसी प्रकार उपद्रव करते बीती। जब सवेरा होने आया और उत्तेजक-पदार्थों का प्रभाव कम हुआ, तब कालिदास को विचार आया, कि मै यह क्या कर रहा हूँ? हाय-हाय! मैं अपनी कन्या से ही व्यभिचार करने के लिये तुला हुआ हूँ! यह कन्या क्या कहेगी और मै इसको किस प्रकार मुँह दिखाऊँगा! मेरा कल्याण तो, अब मरने मे ही है।

इस प्रकार विचारकर कालिदास ने, अपने प्राण-त्याग का सङ्कल्प किया। उन्होंने प्राण-त्यागने के लिये, फाँसी लगाने को एक रस्सी बाँधी और उसमें अपना गला फँसाने को तैयार हुए। उधर, पिता के उत्पात को शान्त और उत्तेजक-पदार्थों के प्रभाव का समय व्यतीत जान, प्रभावती ने विचार किया, कि अब तो पिताजी की बुद्धि ठिकाने आगई होगी। वह, किंवाड़ खोलकर बाहर निकली, तो देखती है कि पिताजी मरने के लिये तैयार खड़े हैं। उसने कहा—पिताजी, आप यह क्या कर रहे हैं।

कालिदास—बस प्रभावती, मुझे क्षमा कर। मैं, अपने इस कुकृत्य का परलोक मे तो दण्ड पाऊँगा ही, परन्तु इस लोक में भी, मैं मुँह दिखाने के सर्वथा अयोग्य हूँ। अब, मैं अपना कल्याण मरने में ही देखता हूँ; अत. तू इसमें बाधा न पहुँचा। तुझपर बुरे विचार लाकर, मैं स्वयं भी भ्रष्ट हुआ और तुझे भी भ्रष्ट करना चाहता था, परन्तु तू अपनी बुद्धिमानी से बच गई। इस लोक में, मैं इस पाप का प्रायश्चित्त, मरकर ही करूँगा, इसलिए तू कुछ न बोल।

प्रभावती—पिताजी, जरा ठहरिये और मेरी बात को सुन

लीजिये। आपके मन में, जो विकार उत्पन्न हुआ, और आपने जो कुछ उत्पातादि किये, इसमें आपका कोई दोष नहीं है, यह तो राजा ने जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर-मात्र है। मैंने, प्रश्न का उत्तर देने के लिये, आपको ऐसे उत्तेजक-पदार्थ खिलाये थे, जिन्होंने आपको ऐसा करने के लिये, विवश कर दिया। अब तो आप अच्छी तरह समझ गये होंगे, कि काम का सच्चा-बाप एकान्त है। साधारण रीति से, या ऐसे उत्तेजक-पदार्थों के प्रभाव से कभी मन खराब भी हो जाय, तथा स्त्री भी पास ही हो, तब भी यदि एकान्त न हो, अर्थात् वहाँ दूसरे मनुष्य मौजूद हों, तो वे बुरे विचार कार्यरूप में कदापि परिणत न हो सकेंगे। यह उत्तर यदि मैं विना अनुभव कराये देती, तो आपको विश्वास न होता। इसलिये, मैंने प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही, उत्तर का अनुभव करा दिया।

कालिदास—यद्यपि तूने प्रश्न का उत्तर देने के लिये, जान-बूझकर मुझे ऐसे पदार्थ खिलाये, जिनसे मैं अपने आपे में न रह सका, तथापि तेरे साथ कुकर्म करने के, मेरे हृदय मे विचार तो हुए! इन विचारों के आने का, मुझे क्या प्रायश्चित करना चाहिये?

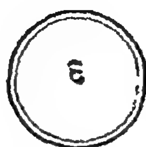
प्रभावती—जब आप विवश थे, तब का प्रायश्चित क्या होगा? फिर भी, यदि आप प्रायश्चित करना ही चाहते हैं, तो आप भी प्रायश्चित करिये और आपही के साथ मैं भी प्रायश्चित करती हूँ, कि भविष्य में, चाहे सगा बाप ही क्यो न हो, या सगी लड़की ही क्यों न हो, उसके साथ एकान्त मे न रहें।

प्रभावती द्वारा प्राप्त उत्तर को, कालिदास ने भोज को सुनाया, जिसे सुनकर वह प्रसन्न हुआ।

सारांश यह, कि काम-विकार को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर तभी प्राप्त होता है, जब स्त्री-पुरुष एकान्त स्थान में हों। इससे बचने के लिये ही स्त्री-पुरुष का एकान्त स्थान में रहना त्याज्य माना गया है।

मल्लिका का उत्तर सुनकर रानी कहने लगीं, कि तेरा कहना ठीक है। वास्तव में मैंने, पति-प्रेम के आवेश में कार्य के औचित्या-नौचित्य पर ध्यान नहीं दिया। लेकिन, अब मैं भी नहीं जाती। ईश्वर और सत्य पर विश्वास करके उन्हें सोने ही दो। जो कुछ होगा, वह अच्छा ही होगा।





कर्त्तव्य-पथ



धर्मात्मा-मनुष्य, सूर्योदय से पहले ही उठकर, परमात्मा का भजन करने में लग जाते हैं। वे, आलसियों की तरह सूर्योदय के पश्चात् तक, नहीं पडे रहते। सूर्योदय के पश्चात् उठने से, वैद्यक-ग्रन्थो में भी कई हानियें बतलाई गई हैं। रात को, विशेष समय तक जागना और फिर सूर्योदय के पश्चात तक सोते रहना, प्राकृतिक-नियम के भी विरुद्ध है। प्रकृति के आवश्यक-नियमो को अवहेलना करनेवाला मनुष्य, अपने जीवन, स्वास्थ्य, उत्साह और लाभ की भी, अवहेलना करता है। ऐसा करनेवाला मनुष्य, प्राकृतिक नियमानुसार दण्डित होता है। सरांश यह, कि कर्त्तव्य को समझनेवाला मनुष्य, सूर्योदय के पहले ही उठकर, परमात्मा के भजन में लग जाता है।

महाराजा हरिश्चन्द्र, आज सूर्योदय से पहले उठे। आज सूर्योदय देखने का अवसर, उन्हे बहुत दिनो के पश्चात प्राप्त हुआ है। उनके हृदय में आज वह आनन्द है, ऐसा उत्साह है, शरीर में ऐसी स्फूर्ति है, मन ऐसा प्रसन्न है, कि जिसका अनुभव उन्हे विशेष समय से नहीं हुआ था। वे, रानी को धन्यवाद देते हुए कहने

लगे —रानी ! मुझे वन के प्राकृतिक दृश्य देखने, निद्रा लेने और आज प्रातःकाल उठने में, जो आनन्द प्राप्त हुआ है, वह सब तेरी ही कृपा का फल है। तेरा, सोने की पूँछवाला मृगशिशु माँगने का अभिप्राय, मुझे इन आनन्दों से भेंट कराना था। वास्तव में, मैं अपने जीवन को विषय-वासना में व्यतीत करके, कल्पवृक्ष को काट, बबूल बो रहा था, हाथी देकर गधा ले रहा था और अमृत को छोड़कर, विष पी रहा था। लेकिन तू ने, मेरी भूल दर्शा दी। मैं, तेरा उपकार मानता हूँ और अपने ऊपर, तेरा यह बहुत बड़ा ऋण समझता हूँ। सोने की पूँछवाला मृगशिशु, दैव-योग से कभी प्राप्त हो भी जाता, तब भी विषय-वासना में मुझे यह आनन्द न आता, जो विषय-पाश से मुक्त होने पर प्राप्त हुआ है।

नित्य के आवश्यक-कार्यों से निवृत हो, महाराजा हरिश्चन्द्र, सभा में जाकर राज्यासन पर बैठे। वह राज-सिंहासन, जो बहुत दिनो से खाली ही पड़ा रहता था, आज राजा के बैठने से सुशोभित हुआ। राजा के सिंहासनासीन होने पर कुछ लोगों को तो आनन्द हुआ और कुछ को दुःख। वे राज-कर्मचारीगण, जो राजा की अनुपस्थिति में प्रजा पर मनमाने अत्याचार करते और अपना स्वार्थ-साधन करते थे, तथा वे अनाचारी कार्यकर्त्तागण, जो राजा की अनुपस्थिति में निरंकुश थे, उन्हे तो राजा के राज्यासन पर आने से दुःख हुआ। राजा के राज्यासन पर आने के प्रथम, ये लोग समझते थे, कि राजा तो रानी के साथ विषय-भोग मे पड़े हैं, अतः हम ही राजा हैं। आज, राजा के आजाने से, उनके इन विचारों की लता पर, तुषार-वृष्टि हो गई। इसलिये,

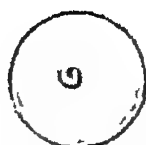
उन्हे, राजा के आने से दु:ख हुआ। लेकिन, जो लोग राजा के शुभचिन्तक और न्यायप्रिय थे, जो अन्य कर्मचारियों के अत्याचारों को देख-देखकर दु:खी थे और जिन्हें राज्यासन खाली रहना बुरा लगता था, वे लोग राजा के सिंहासन पर विराजने से आनन्दित हुए और कहने लगे, कि आज सूर्यवंश का सूर्य, सिंहासन-रूपी उदयाचल पर उदय हुआ है। इस तेजोराशि के उदय होने पर, अत्याचारी-उलूक निश्चित ही छिप रहेंगे।

वे राजा, जो विशेष-समय से महल के बाहर भी न निकलते थे, राज्य-कार्य की ओर जो कभी दृष्टि न डालते थे, आज अचानक और ठीक समय से भी पहले राज्य-कार्य देखने के लिये उद्यत हुए, इसके लिये लोग आश्चर्य करने लगे। राजा के स्वभाव में, अचानक इस प्रकार परिवर्तन के कारण का लोगों ने पता लगाया, तो उन्हें मालूम हुआ, कि रानी की कृपा से, राजा राज्य-कार्य में पुन प्रवृत्त हुए हैं। रानी ने, सोने की पूँछवाला मृग-शिशु न ला सकने के कारण, राजा को अपने महल में आने से रोक दिया। इसी पर से राजा को अपने कर्त्तव्य का ध्यान हुआ। यह जानकर लोगों ने, रानी की प्रशंसा की और उन्हें अनेक धन्यवाद दिये।

रानी के महल में न जाने के लिये वचन-बद्ध होने के कारण, राजा एकाग्र-चित्त से राज्य-कार्य देखने में लगे रहते हैं। उनका सारा समय, राज्य-कार्य देखने, न्याय करने, प्रजा के दु:खों को दूर कर उसे सुख पहुंचाने आदि कार्यों में ही व्यतीत होता है। प्रजा के लिये, सदाचार आदि नीति सम्बन्धी और कला-कौशल आदि व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा का, उन्होंने ऐसा प्रबन्ध किया कि

जिससे उनके राज्य में अपराधों का नाम भी न रहा। वे, अपराध के कारणों का पता लगाकर उनका नाश ही कर देते, जिसमें फिर अपराध होवें ही नहीं। न्याय भी वे इतना उत्तम करते, कि किसी भी पक्ष को दु:ख नहीं होता। जिस प्रकार हंस, दूध और पानी को पृथक् कर देता है, इसी प्रकार मामलो-मुकद्दमो में राजा सत्य और झूठ को अलग-अलग कर देते। कर्मचारियों द्वारा, किसी पर अत्याचार न हो, इसके लिये बहुत ही सावधानी रखते और प्रजा की चोर डाकू आदि उपद्रवियों से रक्षा करना, अपना परम कर्त्तव्य समझते। उनके इस प्रकार राज्य करने से, थोड़े ही दिनों में प्रजा सुख-समृद्धि-सम्पन्न हो गई कोई दु:खी न रहा। हरिश्चन्द्र का यह नीति-धर्ममय-राज्य, सत्य का राज्य कहलाने लगा और उनकी कीर्ति दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो गई। इस प्रकार, रानी ने अपने त्याग और उद्योग से, अपनी मनोकामना भी पूर्ण करली, राजा को अपने कर्त्तव्य पर भी आरूढ़ कर दिया, तथा अपना एवम् अपने पति का कलंक भी धो डाला।





इन्द्र सभा

त्रैलोक्य में, सत्य के बराबर और कोई वस्तु नहीं है। सत्य से ही संसार की स्थिति है। यदि सत्य एक क्षण के लिए भी संसार का साथ छोड़ दे, तो संसार के कार्य चलना—कठिन ही नहीं, किन्तु—सर्वथा-असम्भव हो जाय। सुख्याति प्राप्त करने के लिए भी सत्य एक अद्वितीय साधन है। सत्य का पालन चाहे किसी प्रदेश में किया जावे, परन्तु उस सत्यपालन से होनेवाली सुख्याति उसी प्रदेश में सीमित नहीं रहती, किन्तु पवन की तरह सर्वत्र फैल जाती है। लेकिन शर्त यह है, कि सत्य-पालन में ख्याति की आकांक्षा न की जावे, किन्तु निर्कांक्ष होकर सत्य-पालन किया जाय। किसी आकांक्षा से सत्य-पालन करना तो, उस आकांक्षा का व्यापार हो जावेगा।

स्वर्ग की सुधर्म-सभा, वैसे तो नित्य ही सजी रहती थी, परन्तु आज विशेष-रूप से सजाई गई है। चारों ओर पारिजातक के फूल लगे हैं और सभा में चँवर छत्रादि से सुशोभित इन्द्र बैठे हैं। लोकपालादि सब देवता और अप्सराएँ यथास्थान बैठे हैं, तथा आत्मरक्षकादि भृत्यगण यथास्थान खड़े हैं। सभा

के मध्य, नाचने-गाने का अखाड़ा बना हुआ है, जिसमें गायक-गायिकाएँ और नर्त्तक-नर्त्तकियें सुसज्जित खड़ी हैं।

गायक-गायिकाओ एवम् नर्त्तक-नर्त्तकियो ने इन्द्र से आज्ञा माँगी, कि आज हम लोग किस विषय के गीत गावें और नृत्य करें ? इन्द्र ने कहा—संसार के अन्य विषयो पर तो, नित्य ही नृत्य-गान होता है, अत. आज सत्य के गीत गाओ और उसी के अनुसार नृत्य करो। सत्य के ही प्रताप से, हम लोग यहाँ यह आनन्द भोग रहे हैं। इसलिए, आज सत्य का ही गुणगान करके, यहाँ बैठे हुए देवता तथा अप्सराओ को, सत्य का महत्व सुनाओ।

सत्य का गान करने के लिए इन्द्र की आज्ञा पाकर, गायकगग आदि बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होने, गान और नृत्य द्वारा सत्य का जो सजीव दृश्य दिखाया, उससे सारी सभा प्रसन्न हो उठी और सत्य के साथ ही गायक तथा नृत्यकारो की भी प्रशंसा करने लगी। गान-नृत्य के समाप्त होने पर, इन्द्र कहने लगे:—

मेरे प्यारे देवताओ और अप्सराओ! आप लोगो ने जिस सत्य का नृत्य-गान अभी देखा-सुना है, और जिसे देखकर तथा सुनकर आप लोग प्रसन्न हुए हैं, वह सत्य साक्षात् मे जिसके पास होगा, वह कितना आनन्दित रहता होगा, इस बात को विचारो। सत्य सूक्ष्म है, अतः वह बिना साकार के उपयोग में नही आ सकता और जबतक उपयोग में न आवे, किसी को प्रयोग मे लाते न देखें, तबतक सत्य को समझने के लिए आदर्श नहीं मिलता। आप लोग देवलोक में हैं, तब भी सत्य की उस मूर्त्ति के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जिसके दर्शन का सौभाग्य मृत्यु-लोक के मनुष्यो को प्राप्त है। मृत्युलोक मे, अयोध्या का

राजा हरिश्चन्द्र, ऐसा सत्यवादी है, कि मानों साक्षात् सत्य ही हरिश्चन्द्र के रूप में हो। हरिश्चन्द्र में सत्य इस प्रकार व्याप्त है, जैसे फूल में सुगन्ध, तिल में तेल या दूध में घृत। जिस प्रकार शरीर में जीव सर्वत्र और समुद्र में जल अथाह है, इसी प्रकार हरिश्चन्द्र में सत्य सर्वत्र और अगाध है। जिस प्रकार मेरु पर्वत अचल है, उसी प्रकार हरिश्चन्द्र का सत्य भी अचल है। जिस प्रकार कोई सूर्य को चन्द्र, चन्द्र को सूर्य, लोक को अलोक, अलोक को लोक, और चैतन्य को जड़ तथा जड़ को चैतन्य बनाने में समर्थ नहीं है, उसी प्रकार हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने में भी, कोई समर्थ नहीं है। जैसे इनकी मर्यादा स्थिर है, वैसे ही हरिश्चन्द्र का सत्य भी स्थिर है। हरिश्चन्द्र का कोई कार्य सत्य से खाली नहीं है। वह सत्य पर ध्रुव के सदृश अटल है। गङ्गा का बहाव पलटने में, समुद्र का अन्त ढूँढने में, जल से घृत निकालने में और चन्द्रमा से अग्नि बरसाने में, चाहे कोई समर्थ हो भी जाय, परन्तु सत्य से हरिश्चन्द्र को विलग करने में, कोई कदापि समर्थ नहीं हो सकता।

हरिश्चन्द्र मृत्युलोक में है और हम देवलोक में हैं, इस विचार से आप उसे तुच्छ न समझें। धर्म-पुण्योपार्जन के लिए मृत्युलोक ही उपयुक्त है। मृत्युलोक में उपार्जित धर्म पुण्य के ही प्रताप से, आप और हम इस लोक में आनन्द भोग रहे हैं। यह विचार कर भी, कि हरिश्चन्द्र मनुष्य है और हम देवता हैं, आप हरिश्चन्द्र को छोटा न मानें। जो धर्म-पुण्य मनुष्य-शरीर में हो सकते हैं, वे इस देव-शरीर में नहीं। शरीर का अन्त करने और जन्म-मरण-रहित होने के लिए मनुष्य-जन्म ही धारण करना पड़ता है।

मनुष्य-शरीरधारी जीव, बिना देवयोनि प्राप्त किये मोक्ष पा सकता है, परन्तु देव-शरीरधारी, बिना मनुष्य-जन्म धारण किए मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। अत. हरिश्चन्द्र को आप लोग न तो 'वह मनुष्य है' इसलिए छोटा समझें, न 'वह मृत्युलोक में है.' इसलिए छोटा समझें। सत्यपालन के लिए, इस समय हरिश्चन्द्र अद्वितीय है। उसकी समता करनेवाला संसार में दूसरा कोई नहीं है।

संसार के मनुष्य, विशेषतः दो प्रकार के माने जाते है। एक दुर्जन, दूसरे सज्जन। सज्जन मनुष्य दूसरे की प्रशसा सुनकर—दूसरे को सुखी देखकर—सुखी होते हैं और दूसरे को दु:ख में जान, उन्हे स्वयं भी दु.ख होता है। वे,उस दुखी मनुष्य के दु:ख दूर करने के उपाय करते हैं। कभी, किसी को दु ख देने का विचार भी नहीं करते। दूसरो के दुर्गुणो का ढिंढोरा न पीटकर, वे उसके दुर्गुण दूर करने का प्रयत्न करते है और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि दुर्गुणों को, पास भी नहीं फटकने देते। लेकिन दुर्जनो का स्वभाव, सज्जनो के स्वभाव से सर्वथा विपरीत होता है। वे, दूसरे के लाभ से अपनी हानि, दूसरे की हानि से अपना लाभ, दूसरे के दु:ख से अपना सुख और दूसरे के सुख से अपना दु.ख अनुभव करते हैं। दूसरे में सद्गुण देखकर, उन्हें ईर्ष्या होती है और दुर्गुण देखकर प्रसन्नता। दूसरे की प्रशंसा, उनको असह्य होती है, अतः वे उसे सुनने से घृणा करते हैं। किन्तु दूसरे की निन्दा करने या सुनने से, वे कभी नहीं थकते। उनका हृदय, काजल के समान कपट से भरा, मुख विष-घट के समान दुर्वाक्य से भरा, नेत्र अग्नि के समान क्रोध से भरे और मन बुरे विचारों से भरए रहता है। विद्वानो ने, दुर्जनों की तुलना इन्द्र से करते हुए, उन्हे इन्द्र

से भी बड़ा बताया है। वे कहते हैं कि इन्द्र का शस्त्र वज्र, इन्द्र के हाथ मे रहता है और वह केवल शरीर पर ही आघात पहुँचा सकता है। लेकिन दुर्जनो का शस्त्र दुर्वचन, दुर्जनों के मुख में रहता है और वह मनुष्य के हृदय पर आघात पहुँचाता है। वज्र का घाव और पीड़ा तो मिट भी जाती है, परन्तु दुर्वचन का घाव और पीड़ा मिटनी कठिन है। इन्द्र की आँखों में जितना तेज है, दुर्जनो की आँखो में उतना ही क्रोध है। इन्द्र, अपनी आँखों से दूसरे के सद्गुण देखते हैं, तो दुर्जन अपनी आँखों से दूसरे के दुर्गुण देखता है। सारांश यह कि दुर्जन भी एक प्रकार का इन्द्र है। अन्तर केवल इतना ही है, कि इन्द्र सद्गुणो से बड़े हैं और दुर्जन दुर्गुणो मे। अस्तु।

एक ही वस्तु, प्रकृति की भिन्नता से भिन्न-भिन्न गुण देती है। जो जल सीप में पड़कर मोती बन जाता है, वही जल यदि सर्प के मुँह में गिरता है, तो विष बन जाता है। जो बात सज्जनो को सुख देनेवाली होती है, वही बात दुर्जनों को दुःख देनेवाली हो जाती है। जो वर्षा, संसार के सब वृक्षो को हरियाली-पूर्ण कर देती है, सब वृक्ष जिस वर्षा से प्रफुल्लित हो उठते हैं, उसी वर्षा से जवास सूख जाता है। सारांश यह, कि अच्छी वस्तु भी, उल्टी प्रकृतिवाले के लिए बुरी हो जाती है।

सज्जन-मनुष्य, दूसरे की प्रशंसा सुनकर, दूसरे में गुण देखकर प्रसन्न होते हैं, परन्तु वही सज्जनो की प्रसन्नता का कारण, दुर्जनों की अप्रसन्नता का कारण बन जाता है। वे तो, केवल दूसरे की निंदा और दूसरे के दुर्गुणो से प्रसन्न होते हैं, जो सज्जनो को दुःख होने का कारण है।

इन्द्र द्वारा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर, और सब देव-अप्सरादि तो प्रसन्न हुए। वे हरिश्चन्द्र के सत्य और उसके साथ ही मृत्युलोक तथा मनुष्य-जन्म की सराहना करके सत्य-रहित देव जन्म को धिक्कारने लगे, लेकिन इन देवों में से एक देव को हरिश्चन्द्र की प्रशंसा अच्छी न लगी। वह इन्द्र के भय से प्रकट में तो कुछ न बोल सका, परन्तु हृदय-ही-हृदय में जल रहा था और विचारता था कि—ये इन्द्र हैं तो क्या हुआ, लेकिन इनको अपने पद की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। देवताओं के सन्मुख सुरपति होकर, हाड़चाम से बने, रोगादि व्याधियों से युक्त मनुष्य की प्रशंसा करना कितना पतन प्रकट करता है। मैं डरता हूँ, अन्यथा इसी सभा में खड़ा होकर, इन्द्र के कथन का विरोध प्रकट करते हुए कहता, कि क्या हरिश्चन्द्र हम देवताओं से भी बड़ा है, जो देव-सभा में उसकी प्रशंसा की जा रही है? लेकिन, मैं इन्द्र के कथन का प्रतिवाद मुख से न करके कार्य से करूँगा और जिस हरिश्चन्द्र की प्रशंसा इन्द्र ने बड़े गद्गद्-स्वर में की है, उस हरिश्चन्द्र को सत्य से पतित करके, इन्द्र को दिखला दूँगा कि अपने उस हरिश्चन्द्र की सत्य-भ्रष्टता देखलो, जिसके सत्य की प्रशंसा देव-सभा मे करते हुए, आपने देवताओं को उससे तुच्छ होने के भाव दर्शाये थे। और हरिश्चन्द्र को सत्य की मूर्ति बतलाते थे, तथा इसके साथ ही मृत्यु-लोक और मनुष्य-जन्म की भी सराहना करते थे।

दुर्जनों को, विशेषत. सद्गुणों से ही द्वेष होता है। इसीसे वे दूसरे की सद्कीर्ति सुनकर, या दूसरे को सुखी देखकर ईर्ष्याग्नि से जलने लगते हैं। जिस प्रकार राहु, चन्द्रमा को ग्रसने की

चिन्ता में रहता है, इसी प्रकार वे दूसरे की कीर्ति सुख और गुण ग्रसने की चिन्ता मे रहते हैं तथा इसके लिए उपाय सोचते एवं अवसर की प्रतीक्षा किया करते हैं। इन्द्र ने, यदि हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की, या हरिश्चन्द्र में सत्यपरायणता थी, तो इससे उस देव की कोई हानि न थी। परन्तु दुर्जन के स्वभावानुसार वह अकारण ही हरिश्चन्द्र के साथ ही सत्य और इन्द्र से भी ईर्ष्या करने लगा।

संसार में, ईर्ष्या के बराबर दूसरा दुर्गुण नहीं है। ईर्ष्या यद्यपि अग्नि नहीं है, परन्तु फिर भी यह जिसमें होती है, उसके शरीर को निरन्तर दग्ध किया करती है। ईर्ष्या करनेवाले का चित्त किसी अवस्था में भी प्रसन्न नहीं रहता। वह, इस विचार से भीतर-ही भीतर जला करता है, कि यह गुण, यह सुख, या यह यश-वैभवादि इस दूसरे को क्यो प्राप्त है। फिर चाहे वे ही सुख-वैभव उस ईर्ष्या करनेवाले को भी क्यों न प्राप्त हो, परन्तु वह इन्हीं को दूसरे के समीप नहीं देख सकता।

वह देव, क्रोध और ईर्ष्या से भरा हुआ घर आया। उसकी स्त्रियें (अप्सराएँ) उसकी आकृति देखकर डर उठी कि आज ये न मालूम क्यो अप्रसन्न हैं। उन्होंने, डरते-डरते अपने पति से पूछा, कि आज आपका चित्त क्यो मलीन है? आँखें क्यों लाल हैं और शरीर क्यों काँप रहा है? जान पड़ता है, कि आपको इस समय क्रोध हो रहा है। अतः हम जानना चाहती हैं, कि आप किस पर क्रुद्ध हैं? क्या देव-सभा में इन्द्र ने, आपका कोई अप-मान किया है, या किसी और ने आपको ऐसी बात कही है, जिससे आपको क्रोध हो आया—या और कोई कारण है?

देव—क्या तुम लोग देव-सभा में न थीं ?

अप्सराएँ—हम भी वहीं थीं और अभी वहीं से चली आ रह ।

देव—फिर तुम्हें नहीं मालूम कि वहाँ क्या हुआ था ?

अप्सराएँ—मालूम क्यों नहीं है। वहाँ, सत्य के विपय में नृत्य-गान हुआ था और उसके पश्चात् इन्द्र ने हरिश्चन्द्र के सत्य की महिमा वर्णन की थी।

देव—क्या यह अपमान कम है ? हम देव-शरीरधारियों के सन्मुख, हमारी ही सभा में, हमारा ही राजा, मृत्युलोक के मनुष्य की प्रशंसा करे और हम उसे सुनें, इससे ज्यादा अपमान और क्या होगा ? क्या सत्य, मृत्युलोक में और वहाँ के मनुष्यों में ही है ? देवलोक और देवताओं में, सत्य नहीं है ? फिर मृत्युलोक के मनुष्यों के सत्य की प्रशंसा करके, हरिश्चन्द्र को संसार में सबसे बड़ा सत्यधारी बतलाया जाय, और देवलोक तथा देवताओं के गौरव-सम्मान की अवहेलना की जाय, यह कितना अनुचित है ? यद्यपि सब देव और अप्सराएँ वहाँ बैठी सुनती थीं, परन्तु सब इन्द्र के मुख से हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हो रहे थे। किसी की भी बुद्धि में यह बात न आई, कि इस प्रकार देवलोक और देवताओं का कितना अपमान हो रहा है। यदि मैं न होता, तो इस अपमानजनक बात पर कोई विचार ही न करता, परन्तु योगा-योग से मैं वहीं उपस्थित था, इससे मुझे इस अपमान का ध्यान हुआ। इन्द्र ने, आज देवताओं का घोर अपमान किया है। वह, इन्द्र-पद के सर्वथा अयोग्य है। मैं, उस समय तो इन्द्र के इस कथन का प्रतिवाद न कर सका, लेकिन मैंने यह विचार

लिया है, कि हरिश्चन्द्र को सत्य से पतित करके, इस प्रकार इन्द्र द्वारा की गई उसकी प्रशंसा का प्रतिवाद करूं और देवों पर लगे हुए इस कलङ्क को मिटाकर इन्द्र को उनकी अपनी भूल दर्शा दूँ।

क्रोध के आवेश में, अच्छे-बुरे का ध्यान नहीं रहता। क्रोधी की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसीसे वह, न कहने योग्य बात कह डालता और न करने योग्य कार्य कर डालता है। इन्द्र, यद्यपि इस देव का स्वामी है, इसलिये पूज्य है, परन्तु क्रोधवश, इसने इन्द्र के लिये भी असभ्यता भरे शब्दों का प्रयोग कर डाला। आगे चलकर, इस देव को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा, परन्तु क्रोधवश इस समय उसको बात के औचित्यानौचित्य का ध्यान नहीं है। इन्हीं कारणों से, ज्ञानी-पुरुष क्रोध-त्याग का उपदेश देकर कहते हैं, कि क्रोध से सदा बचो।

देव के स्वभाव से, उसकी अप्सराएँ परिचित थीं। वे विचारने लगीं, कि स्वामी को दूसरे के गुण और दूसरे की प्रशंसा से द्वेष है। इनका यह रोग असाध्य है। इसलिये इस विषय में इनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ कहना, इनकी क्रोधाग्नि में आहुति डालना है। हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशंसा सुनकर, अन्य देवों की तरह इन्हें भी प्रसन्न होना चाहिए था, परन्तु प्रसन्नता के बदले इनके हृदय में ईर्षाग्नि भभक उठी है। उन्होंने, देव से फिर पूछा, कि आप हरिश्चन्द्र को सत्य-भ्रष्ट किस प्रकार करेंगे?

देव—इसका भी उपाय मैं कुछ-न-कुछ विचार ही लूँगा। लेकिन, पहले मैं यह जानना चाहता हूँ, कि तुम लोगों को मैं जो आज्ञा दूँगा, उसका पालन करोगी या नहीं? मैं, तुम्हारी भी

क़सौटी करूँगा, कि तुम कहाँ तक पति-आज्ञा का पालन करती हो। उस तुच्छ-मनुष्य की प्रशंसा में सब लोग एक तरफ़ हो गये, किसी ने भी इन्द्र के कथन पर विरोध प्रदर्शित न किया, यह विचारकर मेरा हृदय क्रोध से दग्ध हो रहा है। मुझे, उसी समय शान्ति मिलेगी, जब मैं हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करके इन्द्र से कह दूँ, कि तुमने हमारे सामने जिस मनुष्य के सत्य की प्रशंसा की थी, उसकी सत्य-भ्रष्टता देख लो और प्रशंसा करने का पश्चात्ताप करो। अच्छा, यह बताओ कि इस कार्य में तुम्हें, मैं जो आज्ञा दूँगा, उसका पालन करोगी ?

देव की बात सुनकर, अप्सराएँ आपस मे मन्त्रणा करने लगीं, कि पति के इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय। उनमें से, पहली अप्सरा ने, शेष अप्सराओं से कहा, कि यद्यपि पति जिस कार्य के लिये आज्ञा देना चाहते हैं, वह कार्य है तो अनुचित, तथापि पति की आज्ञा मानना अपना कर्तव्य है। इनके अच्छे-बुरे कार्य का फल ये भुगतेंगे।

दूसरी—इन्द्र कह ही चुके हैं, कि जीव को अजीव, लोक को अलोक आदि बनाने में जिस प्रकार कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने में भी कोई समर्थ नहीं। इस पर भी, पति हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने का विचार कर रहे हैं, यह उचित तो नहीं है; लेकिन पति से यह बात कहकर कौन उनके कोप का भाजन बने ? इसलिये हम लोगों को तो अपने कर्तव्य—पति आज्ञा-पालन—पर दृढ़ रहना ही उचित है। अधिक-से-अधिक वे हरिश्चन्द्र का सत्य डिगाने में अपनी सहायता लेंगे, इसके सिवाय और क्या आज्ञा देंगे ?

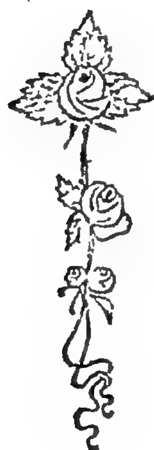
तीसरी—लेकिन पति ने कहीं हम लोगों को, छल-द्वारा हरिश्चन्द्र का सत्य-भंग करने की आज्ञा दी, तब ?

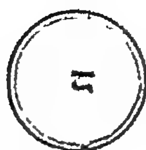
चौथी—हम लोगो को इससे क्या मतलब ? हम तो पति की आज्ञा का पालन करेंगी। इन्द्र के कथन पर विश्वास रक्खो, हरिश्चन्द्र सत्य से कदापि विचलित नहीं हो सकता। सम्भव है, कि पति के इस उपाय से हरिश्चन्द्र का सत्य, और भी अधिक ख्याति प्राप्त करे। हम लोगो को, इसी बहाने उस सत्यमूर्ति-हरिश्चन्द्र के दर्शन तो हो जायँगे, जिसकी प्रशंसा स्वयं इन्द्र ने की है। हमारी स्वय तो यह इच्छा है नहीं, कि हम भी हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने में पति का सहयोग करें, लेकिन जब ऐसा करने के लिये विवश की जाती हैं, तो चारा ही क्या है ? शास्त्रकारों ने, इस बात को स्पष्ट कर दिया है, कि यदि विवश होकर किसी अनुचित-कार्य में प्रवृत्त होना पड़े, तो अपना हृदय निर्मल रखे। ऐसी दशा में, उस अनुचित-कार्य के अपराध से बहुत-कुछ बच जाता है। इसी के अनुसार हम लोग निर्मल हृदय हैं, विवश होकर पति के इस अनुचित कार्य में सहयोग कर रही हैं। अत अपना कोई अपराध न होगा। बल्कि हम तो पति-आज्ञा-पालन का लाभ भी प्राप्त करेंगी और उसके साथ ही हरिश्चन्द्र के दर्शन का लाभ भी प्राप्त करेंगी।

इस प्रकार विचार करके, अप्सराओं ने देव को उत्तर दिया कि—हम तो आपकी आज्ञाकारिणी ही हैं, आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है, अत. आप जो आज्ञा देंगे, हम उसका पालन करेंगी।

अप्सराओं का उत्तर सुनकर, देव इस विचार से प्रसन्न हो

उठा, कि कार्य के विचार में ही शुभ-लक्षण दीख पड़े। अर्थात अप्सराओं ने हरिश्चन्द्र को सत्य से डिगाने के कार्य में, मेरी आज्ञा पालना स्वीकार कर लिया। अब तो मैं, निश्चय ही हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित कर दूँगा। मैं, जबतक हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित न करदूँ, तबतक मेरे देव-जन्म को धिक्कार है, मेरे देवलोक में रहने को धिक्कार है, और मेरे साहस-उद्योग को भी धिक्कार है।





षड्यन्त्र



दुर्जन-मनुष्य, जब किसी का बुरा करना चाहते हैं, तब वे किसी षड्यन्त्र से काम लेते हैं। जिस प्रकार क्षत्रियलोग यह विचारते हैं, कि इस स्थान पर किस अस्त्र-शस्त्र से काम लिया जाय, उसी प्रकार दुर्जन-मनुष्य उपाय के अस्त्र विचारते हैं। ये उपाय, उचित हैं या अनुचित, प्रशंसनीय हैं या निन्दनीय, इस बात पर वे विचार नहीं करते। उन्हें तो, केवल दूसरे की हानि करना अभीष्ट होता है। ऐसे मनुष्यों के लिये एक कवि ने कहा है—

घातयितुमेव नीचः परकार्य्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम्।
पातयितुमास्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमितुम्॥

अर्थात्—नीच-मनुष्य, पराये काम को बिगाड़ना जानता है, पर बनाना नहीं जानता। वायु, वृक्ष को उखाड़ सकता है, पर जमा नहीं सकता।

इसी प्रकार दुष्ट-मनुष्य, यह जानते हुए भी, कि हम किसी का भला नहीं कर सकते, अकारण ही लोगों की हानि किया करते हैं। अस्तु।

अप्सराओं की घात सुनकर, देव प्रसन्न हुआ। लेकिन इस

प्रसन्नता के साथ ही वह दूसरी चिन्ता में पड़ गया, कि हरिश्चन्द्र का सत्य भङ्ग करने के लिये, किस उपाय से काम लिया जाय। विचारवान मनुष्य को, अपनी वृत्तियों के अनुसार कोई न कोई उपाय सूझ ही जाता है। इसी के अनुसार, देव ने इस कार्य की सफलता का उपाय सोच लिया। उसने विचारा, कि इस कार्य में विश्वामित्र को अपना अस्त्र बनाना उपयुक्त होगा। उनकी प्रकृति क्रोधी है, वे भी अपने क्रोध को शान्त करने के लिए, प्रत्येक सम्भव-उपाय से काम लेते हैं, अत. उन्हे अस्त्र बनाने से, इस कार्य में निश्चय ही सफलता प्राप्त होगी। मैं, यदि प्रत्यक्ष मे हरिश्चन्द्र से कोई छल करूँगा, तो सम्भव है, कि वह सावधान हो जाय। इसलिये, मैं तो अप्रकट रहूँगा और विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र से भिड़ा दूँगा। विश्वामित्र, स्वभावतः क्रोधी हैं। केवल उनके क्रोध को बढ़ा देने भर का काम है। एक बार हरिश्चन्द्र पर जहाँ उनका क्रोध भड़क उठा, फिर वे किसी के वश के नहीं हैं और हरिश्चन्द्र को येन-केन प्रकारेण अपमानित करके ही छोड़ेंगे। हरिश्चन्द्र की ख्याति, सत्य के ही कारण है, अतः विना सत्य भङ्ग किये, उसका अपमान नहीं हो सकता। विश्वामित्र, अपना क्रोध मिटाने के लिये उसे सत्य से ही पतित करेंगे. और इस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।

हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र को कैसे कुपित किया जाय, इसके लिये देव ने विचारा, कि अप्सराओं द्वारा विश्वामित्र के आश्रम का उपवन नष्ट कराया जाय। उपवन के नष्ट होने से, वे निश्चय ही अप्सराओं पर क्रुद्ध होंगे। अप्सराओं पर क्रुद्ध होकर वे उन्हें जला तो सकेंगे ही नहीं, केवल शारीरिक-दण्ड देंगे। उस शारी-

रिक-दण्ड के भोगते समय, ये हरिश्चन्द्र की शरण जावेंगी। हरिश्चन्द्र सत्य के लिये तो प्रसिद्ध है ही, इसलिये वह अवश्य ही इन अप्सराओ को कष्ट-मुक्त करेगा। अप्सराओं को कष्ट-मुक्त करने से विश्वामित्र की क्रोधाग्नि हरिश्चन्द्र पर निश्चय ही भड़क उठेगी और इस प्रकार यह षड्यंत्र सफल हो जायगा।

देव ने, अप्सराओ को आज्ञा दी, कि तुम विश्वामित्र के आश्रम को जाकर, उनके आश्रम के समीप जो उपवन है, उसे यत्र-तत्र नष्ट करो। विश्वामित्र के क्रोध से तुम किंचित् भी भय न करना और वे जो कुछ दण्ड दें, उसको सहन करती हुई, हरिश्चन्द्र की शरण लेना। हरिश्चन्द्र की शरण जाने पर, वह तुम्हे उस दण्ड के कष्ट से मुक्त कर देगा, बस तुम चली आना, तुम्हारी इतनी ही सहायता से मैं, अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लूँगा।

देव की आज्ञा पाकर, अप्सराएँ विश्वामित्र के आश्रम को आईं और उनके उपवन में क्रीड़ा करती हुई, उसे नष्ट-भ्रष्ट करने लगीं। विश्वामित्र के शिष्यों ने उन्हें रोका, समझाया और विश्वामित्र का भय दिखाया, परन्तु वे न मानीं। बल्कि, कोई उन शिष्यों की हँसी उडाने लगी, कोई उन्हें डाटने लगीं और कोई कहने लगी कि हमें प्रत्येक स्थान पर क्रीड़ा करने का अधिकार है, तुम रोकनेवाले कौन हो? शिष्यो का जब इन अप्सराओं पर कोई वश न चला, तब वे चिल्लाते हुए, समाधिस्थ विश्वामित्र के समीप गये। शिष्यो का कोलाहल सुनकर, विश्वामित्र की आँख खुली। उन्होंने, शिष्यो से हल्ला मचाने का कारण पूछा। शिष्यों ने कहा, कि कुछ अप्सराएँ उपवन को नष्ट किये

डालती हैं, जिससे इतने दिनों तक किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जा रहा है। वे रोकने पर भी नहीं रुकतीं, बल्कि हँस-हँसकर, अपने आपको ऐसा करने की अधिकारिणी बतलाती है। इन्हे, आपका भी किंचित् भय नहीं है।

शिष्यों की बात सुनते ही, विश्वामित्र की आँखे क्रोध से लाल हो उठीं। वे उपवन में आकर देखते हैं, कि अप्सराएँ निर्भीकता-पूर्वक किसी वृक्ष के पत्ते तोड़ रही हैं, और किसी के फल, फूल डाली आदि। उन्होंने, क्रोधित होकर अप्सराओं से पूछा, कि तुम मेरे उपवन को क्यों उजाड़ रही हो ? जानती नहीं हो, कि यह आश्रम उन विश्वामित्र का है, जिनके क्रोध से आज सारा ससार भयभीत हो रहा है ! अब, तुम अपने कृत्य के लिए मुझसे क्षमा-प्रार्थना करो और यहाँ से शीघ्र ही भाग जाओ, अन्यथा तुम्हें उचित दण्ड दूँगा।

विश्वामित्र की, क्रोध-भरी लाल आँखो को देखकर, तथा उनकी बातों को सुनकर, अप्सराएँ किंचित्‌मात्र भी भयभीत न हुई। उल्टे उन्हें देखकर हँसने लगीं और उनका उपहास करने लगीं। उनमें से किसी ने कहा कि ये साधु बने हैं, जो स्त्रियों को क्रीड़ा करते हुए रोकते हैं। कोई बोली—तुम साधु हो, जाकर अपना काम करो। हमारी जो इच्छा होगी, वह करेंगी, तुम हमे कैसे रोक सकते हो ?

उनका यह व्यवहार, विश्वामित्र को क्रोधाग्नि मे आहुति का कार्य कर रहा था। विश्वामित्र का क्रोध, चरम-सीमा पर पहुँच गया। किन्तु, ये स्त्रियें थीं और देवाङ्गनाएँ थी, अत. विश्वामित्र इन्हें भस्म करने में असमर्थ थे। विवश हो, विश्वामित्र ने केवल

यह श्राप देकर सन्तोष किया, कि "ऐ दुष्टाओ ! तुमने जिन हाथों से मेरे उपवन के वृक्षों को नष्ट किया है, लतादिक को तोड़ा-मरोड़ा है, वे तुम्हारे हाथ, मेरे तप के प्रभाव से उन्हीं लताओं में बँध जायँ।"

तप की शक्ति महान् होती है। इस शक्ति को न मानने की, किसी में भी शक्ति नहीं है। किन्तु जहाँ विवेकी-मनुष्य का तप संसार घटाने में सहायक होता है, वहाँ अविवेकी-मनुष्य की तपस्या उसके संसार बढ़ाने का ही हेतु हो जाती है, मोक्ष का हेतु नहीं। तप की शक्ति के अधीन देवता भी हैं। जिसमें तप की शक्ति है, उसका वरदान या श्राप मिथ्या नहीं होता।

अप्सराएँ, देवांगना होने के कारण, शक्ति-सपन्न थीं, परन्तु तप-बल के आगे उनकी कोई शक्ति न चली। विश्वामित्र का श्राप होते ही उनके कोमल-हाथ, लता द्वारा वृक्षों में बँध गये और वे तड़फड़ाने लगीं। उन्होंने छूटने के अनेक उपाय किए, परन्तु एक भी सफल न हुआ। देवांगनाओं को बँधी देख, विश्वामित्र उनसे कहने लगे, कि अब तुमने मुझे देख लिया, कि मैं कौन हूँ, मुझ मे क्या शक्ति है, और मै क्या कर सकता हूँ ? मैं, पहले समझाता था, तब न मानीं, अब उसका फल भुगतो और युग-युगान्तर तक बँधी रहो। मैं तुमको और भी कठिन-दण्ड दे सकता था, यहाँ तक कि तुम्हें भस्म भी कर सकता था, परन्तु मैंने तुम पर स्त्री होने के कारण दया की है। इसलिए इतना ही दण्ड दिया है।

इस प्रकार, आत्म-प्रशंसा करके विश्वामित्र, अपने समाधि-स्थल को चले गये।

देव ने जब देखा, कि विश्वामित्र ने अपने तप-बल से, अप्सराओं को वृक्षों में बाँध दिया है, तब वह एक अनुपस्थित-सेवक का रूप बना, हरिश्चन्द्र के भृत्यों मे सम्मिलित हो गया। उसका ऐसा करने का अभिप्राय यह था, कि किसी प्रकार हरिश्चन्द्र को इस ओर लाकर, इन अप्सराओं को उसके हाथ से छुड़वाऊँ, जिसमें विश्वामित्र का सब क्रोध हरिश्चन्द्र पर पलट जाय।

नीतिज्ञ-राजालोग, अपने नित्य के राज्य-कार्य से निवृत्ति पाकर बाहर घूमने निकला करते हैं। आज के अनेक राजाओं ने, इस घूमने के कार्य को, निर्दोष-पशुओं के शिकार में परिणत कर दिया है, परन्तु यह धर्म-शास्त्रों को न पढ़ने-सुनने और सत्संग न करने का कारण है। अब के राजा लोग, यदि बाहर निकले भी, तो या तो शिकार के अभिप्राय से निकलेंगे, या मोटर पर इस प्रकार निकलेंगे, कि वे लोग, जो राजा से कुछ प्रार्थना करना चाहते हों, मौका पड़ने पर मोटर के नीचे ही कुचल जायँ। इसके सिवा स्थान-स्थान पर पुलिस का ऐसा पहरा हो जायगा, कि लोग, राजा को अच्छी तरह देख भी न पावेंगे। यह तो बहुत दूर की बात है, कि कोई उनको अपना दुःख सुना सके। लेकिन पहले के राजालोग, इस अभिप्राय से घूमने निकला करते थे, कि एक तो वे दुःखी-मनुष्य, जो किसी कारण से राजा तक नहीं पहुँच पाते, अपना दुःख राजा को सुना सकें। दूसरे वह प्रजा, जो राजा को पितावत् समझती है, राजा के दर्शन कर प्रसन्न हो जाय और राजा भी प्रजा को पुत्र की तरह देख ले। तीसरे, नगर, देश, फसल, स्वच्छता आदि का भी निरीक्षण होजाय और स्वयं का स्वास्थ्य भी अच्छा रहे। वे लोग, किसी धीमी-

सवारी पर या पैदल इस प्रकार आवाज दिलवाते हुए चलते थे, कि राजा के आने की सबको खबर हो जाय। फिर, जिसे जो कुछ प्रार्थना करनी होती, वह राजा से करता और राजा उसे ध्यानपूर्वक सुनकर, उसका दुःख मिटाने का उपाय करता।

नित्य की तरह राजा-हरिश्चन्द्र, राज्यकार्य से निवृत्त हो घूमने निकले। नगर मे होते हुए, वे जङ्गल मे गये। जङ्गल में, उस सेवक का रूप धारण किये हुए देवता के कहने से, वे विश्वामित्र के आश्रम की ओर चले गये। आश्रम में बँधी हुई अप्सराओं ने, चोबदार की आवाज सुन उधर दृष्टिपात किया, तो मालूम हुआ कि कोई चवँर-छत्रधारी आ रहा है। अप्सराओ ने अनुमान किया, कि हो न हो, हरिश्चन्द्र ही इस ओर आ रहे हैं। हमारे बडे भाग्य हैं, कि इस बहाने हमें हरिश्चन्द्र के दर्शन तो होंगे। लेकिन, सम्भव है कि हमारे चुप रहने से, हरिश्चन्द्र इस ओर ध्यान न दें और हम बँधी हुई ही रह जायँ, तथा हरिश्चन्द्र के दर्शन भी न हो। अत. अपन सब मिलकर चिल्लाओ। जिस में, हरिश्चन्द्र अपनी पुकार सुनकर इसी ओर आवें।

इस प्रकार विचार करके, अप्सराओं ने करुणोत्पादक-चीत्कार आरम्भ किया। उनकी दु:ख भरी पुकार सुनकर, हरिश्चन्द्र ने सेवकों को आज्ञा दी, कि ऋषि-आश्रम के समीप कौन रोता है, शीघ्र पता लगाओ। सेवकगण, हरिश्चन्द्र की आज्ञा पाकर आश्रम में गये और लौटकर हरिश्चन्द्र से प्रार्थना की, कि आश्रम में चार कोमलांगी-अप्सराओ को, किसी ने, बड़ी निर्दयतापूर्वक वृक्ष से बाँध रखा है। उन्हीं की यह पुकार है। वे आपसे, मुक्त कर देने के लिये, प्रार्थना करती हैं।

राजा के हृदय में, उन अप्सराओं के प्रति, दया उत्पन्न हुई। वे, तत्क्षण आश्रम में आये और उन अप्सराओं से पूछा कि—तुमको किसने और क्यो बाँध रखा है ?

अप्सराएँ—हम, इस उपवन में क्रीड़ा करती हुई फूलादि तोड़ती थीं, अतः विश्वामित्र ऋषि ने क्रोधित हो, अपने तप-बल से हमें इन वृक्षों में बाँध दिया।

हरिश्चन्द्र—तुमको, ऋषि के आश्रम में आकर, विघ्न करना उचित न था। क्रीड़ा करने के लिये, अन्य-स्थानों की कमी नहीं है। तुमने अपराध तो अवश्य किया है, लेकिन ऋषि ने तुम्हें जो दण्ड दिया है, वह अपराध से बहुत अधिक है। इसके सिवा मुनि को दण्ड देना भी उचित न था, क्योंकि दण्ड देना, उनके अधिकार से परे की बात है। मैंने, दण्ड देने के ही लिये, राज-दण्ड अपने हाथ में ले रखा है। दण्ड देना मेरा काम है, मुनि का काम दण्ड देना नहीं है।

अप्सराएँ—हम आप से प्रार्थना करती हैं, कि आप हमें बन्धन-मुक्त कर दीजिये।

हरिश्चन्द्र—मैं, तुम्हें छोड़ तो देता हूँ, परन्तु भविष्य में किसी ऋषि के आश्रम में विघ्न मत करना।

अप्सराएँ—अब कदापि ऐसा न करेंगी।

एक क्रोधी-तपस्वी के तपोबल की अपेक्षा, एक गृहस्थ सत्यवादी का सत्यबल कहीं अधिक है। मनुष्य, तपस्या चाहे जितनी करता हो, किन्तु जो क्रोध का दमन न कर सका, उसकी अपेक्षा वह गृहस्थी ही प्रशंसनीय है, जो गृहस्थ होकर सत्यपरायण है।

हरिश्चन्द्र ने, उन अप्सराओं को खोलने के लिये, जैसे ही

हाथ लगाया, वैसे ही वे बन्धन-मुक्त हो गईं और हरिश्चन्द्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने लगीं। हरिश्चन्द्र से आज्ञा पाकर, वे विमान में बैठ, आकाश में उड़ गईं। वहाँ से, हरिश्चन्द्र पर पुष्प-वृष्टि करके, आपस में कहने लगीं:—

पहली—हरिश्चन्द्र के चेहरे पर, कैसा तेज झलक रहा है, मानो तेज की मूर्ति हो।

दूसरी—यह सत्य का ही तेज है। उसके हाथों में सत्य की कैसी विचित्र-शक्ति है, कि जिस बन्धन से छूटने में हमलोग देवाँगना होते हुए भी हार खा चुकी थीं, वही बन्धन, हरिश्चन्द्र के हाथ लगाते ही टूट गये। ऋषि का वह तपबल, जिसका प्रभाव मेटने में हम असमर्थ रहीं, हरिश्चन्द्र के सत्यबल से परास्त हो गया। हरिश्चन्द्र की ही कृपा से हम छूट सकी हैं, अन्यथा न मालूम कब तक बँधी रहतीं। राजा के हाथ, वैसे तो साधारण ही हैं—सौन्दर्यादि में तो उनके हाथों से अपने हाथ कहीं बढ़कर हैं,— परन्तु उनके हाथों में कैसी असाधारण शक्ति है, कि बन्धन खुलने में क्षण-मात्र की भी देर न लगी।

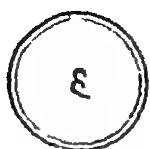
तीसरी—जिस हरिश्चन्द्र में सत्य का इतना तेज है, जो इस प्रकार पर-दुःख भंजक है, उसके सत्य को डिगाने में, पति-कदापि समर्थ नहीं हो सकते। पति की, यह चेष्टा व्यर्थ है।

चौथी—यद्यपि तुम्हारा यह कहना ठीक है, परन्तु पति-आज्ञा पालन का ही यह फल है, कि सत्यमूर्ति-हरिश्चन्द्र के दर्शन भी हो गये और उसके साथ ही, सत्य पर भी दृढ़-विश्वास हो गया। हम तो, पति की आज्ञा मानने से लाभ में ही हैं। पति आज्ञापालन का कैसा प्रत्यक्ष फल मिला।

इस प्रकार बातें करती हुई, अप्सराएँ अपने घर आईं। देव भी, यह विचारकर अपने घर चला आया, कि हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र को क्रोध करने का कारण पैदा कर ही दिया है, अब आगे क्या होता है, यह देखेंगे। आशा तो है, कि यह षड्यन्त्र पूर्ण-रूपेण सफल होगा।

उधर, हरिश्चन्द्र भी अपने घर गये। अप्सराओं को छोड़ने का कार्य, उनकी दृष्टि में कोई महत्व न रखता था, इसलिए उन्हें स्मरण भी न रहा, कि मैंने विश्वामित्र की बाँधी हुई अप्सराओं को बन्धन-मुक्त किया है।





विश्वामित्र का कोप



दूसरे को दुःख देनेवाला; स्वयं भी दुःख में पड़ता है। किसी को आघात पहुँचाने में, अपने हाथ को भी चोट पहुँचती है। किसी दूसरे को अपमानित करने के लिए, पहले स्वयं को ही निर्लज्ज बनना पड़ता है। साराश यह, कि दूसरे की हानि करने में, स्वयं को भी हानि उठानी पड़ती है। लेकिन दूसरे को सुख पहुँचाने में, दूसरे को सम्मानित करने में, और दूसरे की रक्षा करने में, स्वयं को भी सुख अनुभव होता है। इसीलिए महापुरुष उपदेश देते हैं, कि किसी की आत्मा को कष्ट न पहुँचाकर, सुख पहुँचाओ, तो तुम स्वयं भी सुख पाओगे।

अप्सराओं को बाँधकर विश्वामित्र, अपने समाधिस्थल को गये। उन्हें, इस बात का गर्व है, कि मैंने अपने तपबल से अप्सराओं को बाँध दिया है, अब इन्हें खोलने की किसी में भी शक्ति नहीं है। जब मुक्त करूँगा, तब मैं ही। इनके पति आकर, जब मुझसे अनेक प्रकार की अनुनय-विनय करेंगे, तब मैं अपना क्रोध जताता हुआ, इन्हें बन्धनमुक्त करूँगा।

विश्वामित्र, समाधि में बैठे, किन्तु उनका चित्त समाधि में

भी अस्थिर ही रहा। उन्हे, रह-रहकर उन अप्सराओ का व्यवहार अपना क्रोध और अपने तप-बल से उनका बँध जाना, आदि बातें याद हो उठती थीं। समाधि न लगने के कारण, वे समाधि-स्थल से बाहर आये। इतने में ही, शिष्यों ने आकर सूचना दी, कि वे अप्सराएँ—जिन्हे आपने अपने तपबल से बाँध दिया था—छूट कर चली गईं। विश्वामित्र को, शिष्यो की बात सुनकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे विचारने लगे कि क्या मेरे तप में इतनी भी शक्ति नहीं रही ? किन्तु यदि ऐसा होता, तो वे बँधती ही क्यो ? उन्होंने शिष्यों से प्रश्न किया, कि वे आप ही छूटकर चली गईं, या किसी के छोड़ने से गईं ?

शिष्य—उन्हे बाँधकर आप आये, उसके कुछ ही समय पश्चात् राजा हरिश्चन्द्र उधर आये। हरिश्चन्द्र को देखकर वे लोग चिल्लाईं, जिसे सुनकर हरिश्चन्द्र वहाँ आये और उनके हाथ लगाते ही, उन अप्सराओं के बन्धन टूट गये।

शिष्यों की यह बात सुनते ही, विश्वामित्र के क्रोध-सागर में, द्विगुणी तरगें उठने लगीं। वे, अपने आपे में न रह सके, और कहने लगे, कि क्या हरिश्चन्द्र को, मेरा, मेरे तपबल का और मेरे क्रोध का किंचित् भी भय नहीं है ? क्या इस पृथ्वी पर कोई ऐसा मनुष्य भी है, जो मेरी उपेक्षा करता हो ? क्या हरिश्चन्द्र को यह मालूम नहीं है, कि बड़े-बड़े ऋषियों को मुझसे किस प्रकार हार माननी पड़ी है ? हरिश्चन्द्र ! तूने मेरी बाँधी हुई अप्सराओं को अपने राजमद में—अपने सत्य के अहङ्कार में और अपनी सहृदयता दिखाने के लिए—छोड़ तो दिया है, परन्तु देख, मैं अपने तपबल से तुझे कैसा दण्ड देता हूँ, कि तेरा सब घमण्ड मिट

जाय, और तू समझ ले, कि तपस्वियों के, और विशेषतः विश्वामित्र के अपराधियों को छोड़ने का क्या फल होता है। यदि मैंने तुझे इस कार्य का उचित दण्ड न दिया, तो मेरे विश्वामित्र कहाने को, मेरे तप को, और मेरे क्रोध को धिक्कार है।

विश्वामित्र को, हरिश्चन्द्र पर क्रोध होने के कारण, रात भर नींद न आई। वे, यही विचारते रहे, कि कब प्रभात हो और कब मैं हरिश्चन्द्र को उसी की सभा में, उसके कृत्य का दण्ड दूँ।

क्रोध और क्षमा, दया और हिंसा में कितना अन्तर है, यह विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की दशा से स्पष्ट है। अप्सराओं को बाँधकर भी, विश्वामित्र को शान्ति प्राप्त न हुई। उनके हृदय में, उन अप्सराओं का ही विचार बना रहा, जिससे उनका समाधि में भी चित्त स्थिर न रहा। उन्होंने अप्सराओं को क्या बाँधा था, मानो स्वयं ही बँध गये थे। उन्हें यह खटका बना हुआ ही था, कि कहीं वे छूट न जाँय। पश्चात् जब उनके छूट जाने का हाल मालूम हुआ, तब हरिश्चन्द्र पर क्रुद्ध होने के कारण, उन्हें रात्रि में भी शान्ति न मिली। लेकिन वे हरिश्चन्द्र, जिन्होंने अप्सराओं को छोड़ा था, निश्चिंत हैं। उन्हें, अशान्ति नाममात्र को भी न थी, अतः रात में वे, बड़े ही सुख-पूर्वक सोये।

नियमानुसार राजा सूर्योदय से पहले ही उठकर, अपने नित्य-कर्म से निवृत्त हो गये और सूर्योदय के साथ ही साथ, न्यायासन पर आकर विराज गये।

राजा, स्वयं जब सब कार्य नियमित समय पर और उचित रूप से करता है, तब उसकी प्रजा, कर्मचारी आदि भी वैसा ही करते हैं। जब, स्वयं राजा ही अनियमित और अनुचित कार्य

करेगा, तब उसकी प्रजा का कहना ही क्या है ? कहावत है कि—"यथा राजा, तथा प्रजा"—अर्थात् जैसा राजा होगा, वैसी ही प्रजा होगी। जो राजा, स्वयं न्याय-परायण और सत्य-प्रिय होगा, उसकी प्रजा भी वैसी ही होगी। लेकिन, जब राजा ही अन्याय करने लगे, झूठ का प्रयोग करे, तब प्रजा में, अपराधों की वृद्धि होना स्वाभाविक है। अस्तु।

न्यायासन पर बैठकर राजा, न्याय-कार्य में दत्त-चित्त हुए। वे, एक-एक न्याय-कार्य को इस प्रकार निबटाते जाते थे, कि वादी और प्रतिवादी, दोनों ही प्रसन्न हो उठते थे और अपनी हानि होने पर भी, किसी को दुःख न होता था।

न्याय और योग के कार्य में, बहुत-कुछ समानता है। जिस प्रकार योगी, आत्म-चिन्तन के समय, अन्य सब बातों को भूल जाता है, उसका ध्यान केवल आत्मा के चिन्तन में ही रहता है, उसी प्रकार न्याय करनेवाले को भी, न्यायकार्य के आगे अन्य बातें भूलकर, अपने मन को न्या ं लगा देना होता है। योगी लोग, जैसे संसार के प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हैं, उसी प्रकार न्याय करनेवाला भी सब को आत्मवत् समझता है और दूसरे के सुख-दुख का अनुमान, अपनी आत्मा में करके तब न्याय-कार्य करता है। ऐसा करनेवाला ही, न्याय-नदी के पार हो सकता है, अन्यथा वह बीच ही में रह जाता है, और उसका न्याय, अन्याय कहलाता है। अस्तु।

महाराजा हरिश्चन्द्र का यह नियम था, कि नित्य का कार्य नित्य ही करडाला जाय। कार्य को बाकी रखकर, प्रजा को पुनः आने-जाने का कष्ट देना, उन्हे अनुचित मालूम होता था। आज

के न्याय करनेवाले, प्रायः न्यायकार्य को विशेष-समय तक पटक रखने और प्रजा को बार-बार चक्कर देकर, अपना न्यायालय भरा रखने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं, परन्तु ऐसा करना न्याय-प्रणाली के विरुद्ध है।

महाराजा हरिश्चन्द्र ने, न्याय के जितने भी मामले थे, उन सब का फैसला कर दिया। वे, न्यायासन से उठने को ही थे, कि इतने में द्वारपाल ने समाचार दिया, कि विश्वामित्र ऋषि आये हैं और वे आपसे न्याय चाहते हैं। राजा, इस समाचार को सुन-कर आश्चर्य में पड़ गये, कि विश्वामित्र तो ऋषि हैं, वे न्यायालय में किस कारण से आये हैं? यदि मेरे योग्य कोई कार्य था, तो उन्हें मुझे ही सदेशा देकर बुलवा लेना चाहिए था, परन्तु वे स्वयं आये, यह क्यों? ऋषि-मुनि को न्यायालय की शरण लेना कदापि उचित नहीं है, फिर विश्वामित्र ऐसे तपस्वी न्यायालय में आवें, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। राजा ने द्वारपाल को उत्तर दिया कि उन्हें सम्मान सहित ले आओ।

पहले,यह कहा जा चुका है, कि संसार के मनुष्य दो श्रेणियों में माने जाते हैं। एक दुर्जन, दूसरे सज्जन। सज्जनों के मिलने पर तो हृदय प्रसन्न होता है, परन्तु दुर्जनों का नाम सुनकर ही लोग भयभीत हो जाते हैं। हैं तो दुर्जन और सज्जन दोनों मनुष्य ही, परन्तु दोनों की प्रकृति में भिन्नता है। तुलसीदासजी ने कहा है:—

बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं, मिलत एक दारुण दुख देहीं।
उपजहिं एक संग जल माहीं, जलज जोंक जिमि गुण बिलगाहीं॥

अर्थात—संसार के प्राणी दो प्रकार के हैं। एक तो वे,

जिनका वियोग होते ही प्राण निकलने लगते हैं, अर्थात् उनका वियोग असह्य हो जाता है, और दूसरे वे, जो मिलने पर कठिन दुःख का कारण हो जाते हैं। यानी जिनसे मिलना भारी दुःख की बात है। यह उनकी प्रकृति की भिन्नता का कारण है। जैसे-कमल और जोक, एक ही साथ, एक ही पानी मे पैदा होते हैं, किन्तु उन दोनो के गुण पृथक्-पृथक् हैं।

सर्प और दुमुही (दो मुँहवाला साँप), दोनो एक ही जाति के जीव हैं। दोनो की आकृति आदि में भी, कोई विशेष अन्तर नहीं होता। किन्तु दोनों की प्रकृति मे महदन्तर है। साँप तो, मनुष्य, पशु आदि को काटता है, जिससे उनके प्राण तक चले जाते हैं, परन्तु दुमुही नहीं काटती। इसी कारण, जहाँ लोग साँप को देखकर भयभीत हो उठते हैं, उसे मारने तक को तैयार हो जाते हैं, वहीं दुमुही को देखकर प्रसन्न होते हैं, उसका दिखाई देना शुभ-शकुन मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। सारांश यह, कि पूजा या निन्दा, सुख्याति या कुख्याति आदि बातें, अपनी प्रकृति पर ही निर्भर हैं।

जिस प्रकार सर्प को देखकर, और लोग तो भयभीत हो जाते हैं, परन्तु सर्प का मन्त्र जाननेवाला उससे भय नहीं करता, इसी प्रकार सभा के और लोग तो विश्वामित्र के आने से सशङ्क हो उठे, कि ये न मालूम क्या गजब करेंगे, परन्तु हरिश्चन्द्र निःशङ्क हैं।





न्यायसभा में विश्वामित्र



इतिहास इस बात का साक्षी है, कि सच्चा राजा किसी सम्प्रदाय-विशेष का पक्षपाती नहीं होता। किन्तु मोक्ष-प्राप्ति स्वरूप, आत्मिक-धर्म के लिये, जो सत्य-धर्म होता है, उसी धर्म का उपासक होता है। जो धर्म या सम्प्रदाय शान्ति स्थापित करने वाले हैं, राजा उन सब को समान दृष्टि से देखता है और समझता है, कि जिस शान्ति-रक्षा का भार मुझ पर है, उसमें इस धर्म या सम्प्रदाय के साधु आचार्यादि, मेरी सहायता करते हैं। राजा, ऐसे धर्म के साधु-आचार्यादि का सत्कार वैसा ही कर्त्तव्य समझकर किया करता है, जैसा-किसी शिष्ट-पुरुष के आने पर उसका सत्कार करना अपना कर्त्तव्य समझता है। पुरातत्ववेत्ताओं ने, अशोक के द्वादश-शिलालेख, जो पृथ्वी में से गड़े हुए निकाले हैं, उनके विषय में भी यही प्रकट किया है, कि इन शिलालेखों में, सब धर्मों के ब्राह्मण, साधु, श्रमण, आदि का सत्कार करने का ही उपदेश है। सारांश यह, कि सब धर्मों को समान समझकर उनके अनुयायियों को समान-दृष्टि से देखना, और उनके साधु आदि का उचित सत्कार करना राजा का राजनैतिक-धर्म है। ऐसा करने वाला राजा, नीतिज्ञ माना जाता है। अस्तु।

विश्वामित्र के न्यायालय में आते ही, महाराजा हरिश्चन्द्र, सभासदों सहित खड़े हो गये और उनका सत्कार करने के लिये सिंहासन से उतरने लगे। लेकिन विश्वामित्र ने, क्रोध भरे शब्दों में कहा—बस राजा! सिंहासन पर ही ठहरो। मैं, तुमसे पूजा पाने की अभिलाषा से नहीं आया हूँ। तुम न्यायाधीश हो, अतः मैं भी तुम से न्याय कराने आया हूँ। हमारा भी एक न्याय कर डालो।

विश्वामित्र की इस प्रकार क्रोध भरी बात सुन और उनका भयङ्कर स्वरूप तथा लाल-लाल आँखें देख, सभा के और लोग तो काँप उठे, किन्तु "सत्यवादी को किसका भय?" इस नियम के अनुसार हरिश्चन्द्र को किंचित् भी भय न हुआ। उन्होंने, नम्रता-पूर्वक विश्वामित्र से कहा—महाराज! आप इतने क्रोधित क्यों हैं? न्यायार्थ आने के समय, इतना क्रोध रखना तो न्यायप्राप्ति के विरुद्ध पड़ता है। न्याय और क्रोध, आपस में दुश्मन हैं। प्रायः सच्चा-मनुष्य भी, क्रोध करने के कारण, झूठा माना जाता है। आपका यदि कोई न्याय मेरे करने के योग्य है, तो आप शान्ति-पूर्वक विराजिये, और आज्ञा कीजिये, कि आप किस बात का न्याय चाहते हैं। न्याय के लिये, आपको इतना क्रोध करना उचित नहीं है। मैं न्याय करने के लिए ही बैठा हूँ, अतः आपके लिये कोई दूसरा थोड़े ही हूँ? मुझ से न्याय पाने का तो सब को अधिकार है।

राजा की शान्त तथा तेजोमय मुद्रा देखकर, विश्वामित्र चकित रह गये। वे, न्यायालय में आने का पश्चात्ताप करके मन में कहने लगे, कि मैंने यहाँ आकर बड़ी भूल की। यदि, मैं यहाँ

न आकर, अपने तप-बल द्वारा आश्रम से ही इसे दण्ड देता, तो अच्छा होता। परन्तु अब तो मैंने ही आकर इससे न्याय माँगा है, इसलिये न्याय प्राप्त करने के जो नियम हैं, उन सभी का पालन करना पड़ेगा। मैं तो यह सोचता था, कि मैं जाते ही अपना क्रोध दिखाकर राजा को भयभीत कर दूँगा, परन्तु यहाँ आकर तो मुझे और अपमानित होना पड़ा।

हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र को आसन दिया। विश्वामित्र, मन मारकर, राजा के दिये हुए आसन पर बैठ गये। राजा ने, विश्वामित्र का सम्मान किया और उनसे कहा कि—महाराज! आप किस बात का न्याय चाहते हैं, अब आज्ञा कीजिये।

विश्वामित्र—मैं, जिस बात का न्याय चाहता हूँ, क्या तू उसे नहीं जानता, जो मुझ से पूछता है?

हरिश्चन्द्र—महाराज, क्रोध शान्त कीजिये और विचारिये, कि यदि मैं जानता होता, तो आपको यहाँ तक पधारने का कष्ट ही क्यों करना पड़ता? मैं नहीं जानता, इसीलिये आपको आना पड़ा है और मैंने आपसे पूछा है।

विश्वामित्र—जैसे तू राजा है, वैसे ही हम योगी हैं। जिस प्रकार तुझे राज्य के लिये अधिकार है, वैसे ही हमें आश्रम के लिये अधिकार है। ऐसी अवस्था में, जिस प्रकार तू राज्य में अपराध करनेवाले को दण्ड देता है, उसी प्रकार हम, आश्रम मे अपराध करनेवाले को दण्ड दे सकते हैं या नहीं?

हरिश्चन्द्र—महाराज, आश्रम राज्य-सीमा के ही अन्तर्गत है। अतः वहाँ अपराध करनेवाला राज्य में ही अपराध करने-

वाला समझा जावेगा। ऐसा अपराधी, राज्य द्वारा ही दण्डित हो सकता है, आप उसे दण्ड नहीं दे सकते।

विश्वामित्र—हमारे आश्रम में अपराध करे, हमारी अवज्ञा करे, और हम उसे दण्ड भी नहीं दे सकते?

हरिश्चन्द्र- नहीं महाराज, आप को दण्ड देने का अधिकार नहीं है। आपकी अवज्ञा करनेवाला भी राज्य का अपराधी है और अपराधियों को दण्ड देने के लिये ही, मैंने राज-दण्ड धारण कर रक्खा है।

विश्वामित्र—जान पड़ता है, तेरे बुरे दिन आये हैं, इसीसे तुझे ऋषियों की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। जब तू हमारे बनाये हुए नियमों के अनुसार राज्य-कार्य करके अपराधियों को दण्ड देता है, तब हम अपने आश्रम के अपराधी को दण्ड क्यों नहीं दे सकते?

हरिश्चन्द्र—आप लोगों के बनाये हुए नियम ही कह रहे हैं, कि दण्ड देने का अधिकार केवल राजा या राजा द्वारा इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये कर्मचारी को ही प्राप्त है, दूसरे को नहीं। ऐसी अवस्था में, मैंने ऋषियो की या आपकी कोई अप्रतिष्ठा तो नहीं की है।

विश्वामित्र—अच्छा, एक बात और बता। हमने, अपनी अपराधिनियों को तपबल से वृक्ष में बाँध दिया था। यद्यपि वे अप्सराएँ थीं, तथापि मेरे बन्धन को न तोड़ सकीं। लेकिन इस पृथ्वी पर एक ही मेरा शत्रु, प्रतिद्वन्द्वी और मेरी अवज्ञा करने-वाला ऐसा है, कि जिसने उन अप्सराओं को छोड़ दिया। वह

छोड़नेवाला अपराधी है या नहीं, और यदि है, तो किस दण्ड के योग्य है ?

विश्वामित्र की इस बात को सुनते ही, हरिश्चन्द्र को कल की बात स्मरण हो आई। वे समझ गये, कि ऋषि अपने तपबल का प्रभाव बतलाते हुए, यह बात मेरे पर ही कह रहे हैं। राजा ने हँसते हुए और उनके तपबल पर व्यंग करते हुए कहा—महाराज, यह बात तो मुझ पर ही है। क्योंकि, मैंने ही कल अप्सराओं को बन्धन-मुक्त किया था। लेकिन, उनको छोड़ने में, न तो मेरा भाव आपसे दुश्मनी का था, न प्रतिद्वन्द्विता का और न अवज्ञा करने का ही। वे लोग, लता-वृक्षों से बँधी, दुःख पाती हुई चिल्ला रही थीं, इसलिये मैंने दया करके उन्हें छोड़ दिया। केवल दया ही नहीं, बल्कि मेरा कर्त्तव्य भी है, कि अनधिकारी यदि किसी को बन्दी बनाकर रखे, तो उस बन्दी को मुक्त करके, उस बन्दी बनाने वाले को उचित दण्ड दूँ। मैंने तो केवल उन्हें छोड़ा ही है, और वह भी करुणा करके। ऐसी अवस्था में मेरा कोई अपराध नहीं है। इस मामले में, आप वादी हैं और मैं प्रतिवादी हूँ। अतः यदि आप उचित समझें, तो इस मामले का न्याय पंचों द्वारा करवा लिया जाय।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर, विश्वामित्र विचारने लगे कि, मैंने तो यह सोचा था, कि इस प्रकार इससे अपराध स्वीकार कराकर, इसीके मुँह से इसे दण्ड दिलाऊँगा, परन्तु इसने तो मुझे ही अपराधी ठहराया और मुझे दण्ड नहीं दिया, यह अपनी कृपा बता रहा है। विश्वामित्र को, यह विचार आते ही; वैसी ही निराशा हुई, जैसी निराशा अदालत में मुकदमा हार जानेवाले को

हुआ करती है। वे, असमंजस में पड गये, कि यदि मैं राजा के कथन को ठीक मानता हूँ, तो एक प्रकार से इसकी सभा में मेरा अपमान होता है। और यदि ठीक नहीं म नता हूँ तो कम से कम इससे, अपना अपराध तो स्वाकार कराना ही चाहिए।

विश्वामित्र, फिर अपना क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—राजा! तूने अप्सराओं को छोड़ा, यह तेरा अपराध है। इस अपराध को स्वीकार करने के बदले, तू उलटा मुझ पर ही दोषारोपण करता है इससे प्रकट है कि तुझ में अज्ञान है। तपस्वियो की बात में बाधा देने का, तुझे क दापि अधिकार नहीं है, लेकिन तू ने अज्ञानवश इसे अपना अधिकार मान रक्खा है। सूर्यवंश के सिंहासन पर ऐसे अज्ञानी को बैठना उचित नही है, अत तुझे अपना राज्यभार दूसरे को दे देना ही ठीक है। अज्ञा ी मनुष्य राज्य करने के योग्य नहीं होता इसलिए तू अपना राज्य किसी दूसरे को दे दे।

हरिश्चन्द्र—महाराज! किसी दुःखी का दु ख मिटाना मेरा कर्तव्य है। मैंने कर्त्तव्य और करुणा की प्रेरणा से,उन अप्सराओं को बन्धन-मुक्त किया है। इसमें, मेरा नाममात्र को भी अपराध नहीं है और जब अपराध ही नहीं है, तब, मैं केवल आपको प्रसन्न करने के लिए, इस कार्य को अपराध नही मान सकता। आप मेरा अपराध सिद्ध कीजिए, फिर यदि मैं अपराध स्वीकार करके दण्ड न लूँ, तो यह मेरा अज्ञान है, और उस स य मुझे राज्य-भार दूसरे के हाथों में सौंप देना ही उचित है। मैं क्षत्रिय हूँ, निर्बल और दुःखियों की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का पालन ही यदि अज्ञान कहा जायगा, तो ज्ञान किस कहेंगे?

यह मेरी समझ में नहीं आता। किसी दुःख में पडे हुए को, दुःख-मुक्त करने में, कायर और निर्दयी तो चाहे अज्ञान कहें, परन्तु दयावान और वीर तो इसे ज्ञान ही मानेंगे, तथा मौका पडने पर स्वयं भी उसे दुःख-मुक्त करने की चेष्टा करेंगे। आपकी दृष्टि में, यदि अप्सराओं को छोड देना अज्ञान और अपराध है, तो आप पञ्चों द्वारा इसका निर्णय करा लीजिए। यदि पञ्चो ने भी आपकी बात का समर्थन किया, तो मैं दण्ड का पात्र हूँ और साथ ही राजा-पद के भी अयोग्य हूँ। उचित तो यह था, कि मेरे अप्सराओं के बन्धनमुक्त करने के कार्य से आप यह विचार कर प्रसन्न होते, कि हमने क्रोध करके उन्हे बाँध दिया था और राजा ने अपना राजधर्म पालते हुए उन्हे छोड दिया, तो यह, अच्छा ही किया। लेकिन, इसकी जगह आप मुझे दोषी ठहराते हैं और मेरा अज्ञान बताते हैं। आपको, इसी पर से विचार लेना चाहिए था, कि यदि अप्सराओं का छोड़ा जाना राज-धर्म के विरुद्ध होता, तो जो अप्सराएँ आपके तप-बल से बँधी थीं, वे खुलतीं ही कैसे? महाराज, शान्तिपूर्वक विचार कीजिये और क्रोध को दूर कीजिये, तो आपको मेरा यह कार्य अनुचित न जँचेगा।

दुराग्रही-मनुष्य, उचित-अनुचित और न्याय-अन्याय को नहीं देखता। वह तो, येन केन-प्रकारेण, अपनी हठ को ही पूरी करना चाहता है। इसी के अनुसार, यहाँ पर विश्वामित्र, राजा से अपराध स्वीकार करने की निन्द्य-हठ पकड़े हुए हैं। लेकिन राजा कह रहा है, कि मैं केवल आपको प्रसन्न करने के लिये, कदापि झूठ नहीं बोल सकता। विश्वामित्र विचारते हैं, कि यदि

मैं सन्तोष करता हूँ और राजा को किसी प्रकार भी नीचा नहीं दिखाता, तो यह मेरा और भी अपमान होगा। यदि राजा के कथनानुसार इस मामले का निर्णय मध्यस्थ लोगों से कराता हूँ, तो वे लोग निश्चय ही मेरे पक्ष को झूठा बतलावेंगे। दण्ड देने के लिये, आश्रम से यहाँ आने की एक भूल तो की ही है, अब यदि पञ्चों से न्याय कराता हूँ, तो यह दूसरी भूल होगी। राजा, इस प्रकार तो अपना अपराध स्वीकार करता नहीं है, इसलिये किसी दूसरे उपाय से इसे बाध्य करना चाहिए, जिससे यह अपना अपराध स्वीकार करले। इस प्रकार विचार करके विश्वामित्र कपट-भरी प्रसन्नता दिखाते हुए बोले—हाँ तो तूने राज-धर्म का पालन करते हुए उन अप्सराओं को छोड़ा है क्यों?

राजा—हाँ महाराज! उन्हें दुःख-मुक्त करने के सिवा, मेरा और कोई अभिप्राय न था।

विश्वामित्र—ठीक है, लेकिन इसी प्रकार सब बातों में राज-धर्म का पालन करेगा न?

हरिश्चन्द्र—अवश्य। यदि मैं किसी स्थान पर राज-धर्म के पालन में असमर्थ रहूँ, तो फिर राजा कैसा?

विश्वामित्र राज-धर्म में दान करना भी है। राजा से की गई याचना खाली नहीं जाती, इस बात को तू जानता है?

हरि०—जानता ही नहीं हूँ, बल्कि पालन भी करता हूँ।

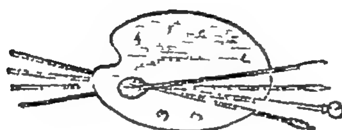
विश्वामित्र—अच्छा, हम याचक हैं, हमारी याचना पूरी करेगा?

हरि०—आप याचना कीजिये, मैं उसे पूरी करने में जब असमर्थ रहूँ, तब कहियेगा।

विश्वामित्र—मैं, तुमसे ससागर पृथ्वी और तेरे राज्य-वैभव की याचना करता हूँ।

विश्वामित्र की बात सुनकर, हरिश्चन्द्र के चेहरे पर सल भी न आया। उन्होंने उसी प्रकार प्रसन्न-मन से कहा, कि राज्य क्या, यदि आप इस शरीर को भी माँगते, तो यह भी आपकी सेवा में अर्पण करता। राज्य माँगकर तो आपने मेरे सिर का बोझा लिया है, इसके देने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है?

हरिश्चन्द्र ने, सेवक को पृथ्वी का पिण्ड* और जल की झारी लाने की आज्ञा दी।



*—पृथ्वी दान में, मिट्टी का पिण्ड दान करने की प्रथा थी। उसको देते समय, जितनी पृथ्वी देनी होती, उतनी का उच्चारण कर दिया जाता था।—सम्पादक।



राज्य-दान



दान, तप और संग्राम, ये तीनों ही कार्य, वीरता होने पर होते हैं। जो वीर नहीं, वरन् कायर हैं, वे इन तीनों में से किसी एक को भी नहीं कर सकते। जो पहिले ही शत्रुओं के अस्त्राघात से मृत्यु से और गृह-कुटुम्ब के कष्टमय-भविष्य से भय करता है, वह संग्राम में कदापि स्थिर नहीं रह सकता। शरीर के कष्ट, शीत, ताप और वर्षा के कष्ट सहने और सांसारिक-मोह के त्यागने में जो वीर नहीं है, वह तप नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिसे स्वयं अपने ही पेट की चिन्ता है, जिस पर लोभ का पूरा प्रभाव जम गया है, जिसे अपने और अपने स्त्री-पुत्रादि का भविष्य दु:खमय होने का भय है, वह दान नहीं कर सकता। साराश यह, कि दान करना भी वीरता का काम है, कायर लोग दान नहीं कर सकते। जिस प्रकार सग्राम के लिये वीरता चढ़ने पर, उसे सिवा शत्रुओं के आघात का प्रतिकार करने के और कुछ नहीं सूझता—अस्त्र लगने, मृत्यु होने और पीछे से घर के लोगों के रोने आदि की चिन्ता नहीं होती—जिस प्रकार तप के लिये वीरता चढ़ने पर, उसे, वैराग्य ही सूझता है—वैराग्य के कष्ट, स्त्री, पुत्र, गृह आदि का विछोह नहीं सूझता—ठीक इसी प्रकार

जिसे दान की वीरता चढ़ती है, उसे अपने भविष्य के कष्ट की चिन्ता नहीं होती, न वह किन्हीं और बातों को ही विचारता है। यद्यपि भविष्य का विचार तो वीर लोग भी करते हैं, लेकिन वे भविष्य के कष्टों का अनुमान करके अपने निश्चय से विचलित नहीं होते। अस्तु।

राजा को, निर्भयता-पूर्वक पृथ्वी-पिण्ड और जल की झारी मँगाते देख, विश्वामित्र चकराये। उन्होंने विचारा था, कि राज्य देने में इसे सङ्कोच होगा, तब मैं इससे कहूँगा, कि यहाँ तो राज-धर्म नहीं पाल सकता फिर मेरी बाँधी हुई अप्सराओं को छोड़ने के समय राज-धर्म कैसे पला था? और उस समय विचार क्यों हुआ था, जो अब विचार होता है? इस युक्ति से इसे बाध्य-कर, अप्सराओं के छोड़ने का अपराध स्वीकार करा लूँगा। बस, मेरी बात रह जायगी। लेकिन, राजा को राज्य देने के समय भी निःसङ्कोच देख, विश्वामित्र विचारने लगे कि अब क्या करना चाहिए। मुझे राज्य माँगने मे तो कुछ सकोच भी हुआ, परन्तु इसे देने में कुछ भी सङ्कोच नहीं हो रहा है। जिस राज्य को, इसके पूर्वजों ने आत्म-बलिदान देकर सुरक्षित रखा है, वह राज्य, यह एक क्षण में बिना किसी विचार के मुझे देने को तैयार है! इसे, बड़ा ही अहङ्कार है, लेकिन देखता हूँ कि इसका यह अहङ्कार कब तक रहेगा।

दुराग्रही मनुष्य, दूसरे के सत्य और कर्त्तव्य-पालन को भी अहङ्कार समझता है। उसे इस बात का विचार नहीं होता, कि अपनी झूठी हठ सिद्ध करने के लिये इस प्रकार उपाय करना मेरा अहङ्कार है, या इसका सत्य पालन करना अहङ्कार है।

पृथ्वी का पिण्ड और जल की झारी आजाने पर, राजा ने पृथ्वी-पिण्ड हाथ में लेकर, विश्वामित्र से कहा—महाराज, लीजिये।

विश्वामित्र—राजा, जरा सोच-विचार कर राज्य दान कर। ससागर पृथ्वी दे देने के पश्चात्, राजा के पास क्या बच रहता है, इसे अच्छी तरह विचार ले।

हरिश्चन्द्र—महाराज, विचारने का काम तो तब था, जब मैं राज्य को किसी बुरे कार्य में देता होता। मैं, राज्य को दान मे दे रहा हूँ, और वह भी आप ऐसे ऋषि को। फिर इसमें विचारना क्या है ?

विश्वामित्र—राज्य के छूट जाने पर राजा की क्या दशा होती है इसका विचार करले। तू हठवश अपना अपराध स्वीकार न करके, राज्य दे रहा है, यह तेरा अज्ञान नहीं तो क्या है ?

राजा को इस प्रकार सारा राज्य दान में देने के लिए तत्पर देख, प्रधान, विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के बीच में खड़ा हो, हरिश्चन्द्र से कहने लगा—महाराज, आप बात-ही बात में यह क्या कर रहे हैं ? बिना किसी बात का विचार किये, बिना किसी से सम्मति लिये, अकेले ही राज्य कैसे दे रहे हैं ? कोइ कार्य एक दम न कर डालना चाहिये। किसी कवि ने कहा है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदा पदम् ॥

अर्थात्—हठात् किसी काम को न कर डालना चाहिए। बिना विचारे काम करने से, बड़ी भारी विपत्ति की सम्भावना रहती है।

आप यह तो विचारिये कि न-कुछ बात के लिये, सारा-राज्य विश्वामित्र ऐसे क्रोधी-ऋषि के हाथ में सौंपने से, राज्य की क्या दुर्दशा होगी और प्रजा को कितना कष्ट होगा? बात तो, अप्सराओं को छोड़ने का अपराध स्वीकार करने भर की है और सम्भव है, कि अपराध स्वीकार करने पर क्षमा माँगनी पड़े। इस ज़रा-सी बात के लिए, राज्य दे देना दूरदर्शिता कैसे कही जा सकती है?

प्रधान का यह उपदेश सुनकर, विश्वामित्र के हृदय में इस विचार से प्रसन्नता की एक झलक दौड़ गई, कि यदि प्रधान के कहने से हरिश्चन्द्र मान जाय और अपना अपराध स्वीकार करले, तो यह सब झगड़ा ही मिट जाय। लेकिन, विश्वामित्र की यह प्रसन्नता अधिक देर तक न रही, हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनते ही, वह क्रोधपूर्ण-निराशा में परिणत हो गई।

हरिश्चन्द्र, अपने प्रधान से कहने लगे—प्रधान, शुभ-कार्य में सहायता देना तुम्हारा कर्त्तव्य है, बाधा देना नहीं। तुम ज़रा किसी विद्वान् के इस उपदेश पर तो विचार करो—

धनानि जीवितं चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति॥

अर्थात्—बुद्धिमान मनुष्य, अपने धन और प्राण को, पराये के लाभ के लिये त्याग देते हैं। क्योंकि इनका नाश तो कभी होगा ही, इसलिए परोपकार में ही इनका त्याग करना श्रेष्ठ है।

मैं राज्य को यदि जुए पर लगाता होऊँ, या किसी और कार्य में देता होऊँ, तो तुम्हारा यह कहना ठीक भी है, परन्तु मैं तो उसे दान कर रहा हूँ। तुम्हारी दृष्टि में राज्य एक महान्-

वस्तु है, और धर्म एक तुच्छ-वस्तु है, परन्तु मेरी दृष्टि से राज्य तुच्छ और धर्म महान् है। मैं, धर्म पालन के लिए इस राज्य को दान में दे रहा हूँ। राज्य को दान में देने का मुझे अधिकार है, इसमें किसी की सम्मति की आवश्यकता नहीं। दान में, राज्य देने से मेरे पूर्वजों की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैलेगी, कि सूर्यवंश ही एक ऐसा है, जिसने राज्य तक दान में दे दिया। इस राज्य-दान से, सूर्यवश के गौरव की वृद्धि होगी। किसी कवि ने कहा है:—

सजातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

अर्थात्—इस परिवर्तनशील संसार में, मरकर सभी जन्म लेते हैं, परन्तु जन्म लेना उसी का सार्थक है, जिसके जन्म से वंश की गौरव-वृद्धि हो।

प्रधान ! मैं हठ में पड़कर राज्य नहीं दे रहा हूँ, वल्कि ये याचक वनकर माँग रहे हैं, तव दे रहा हूँ। मैं, राज्य देने की वात कह चुका हूँ, अत तुम्हारा कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है। मैं, अव अपने निश्चय पर से नहीं टल सकता। देखो किसी कवि ने कहा है.—

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो वहिः ।
यानाश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदाना रदा इव ॥

अर्थात्—विद्वान्-मनुष्य के मुँह से सहसा कोई वात नहीं निकलती और यदि निकली, तो उसी प्रकार फिर नहीं लौटती, जैसे हाथी के दाँत वाहर निकलने के पश्चात् फिर भीतर नहीं जाते।

अब, यदि अपराध स्वीकार करने का कहो, तो मैं झूठ तो किसी समय और किसी भी अवस्था में नहीं बोल सकता। रही प्रजा की बात, सो यदि प्रजा में शक्ति होगी, तो वह विश्वामित्र को अपने अनुकूल बना लेगी। प्रजा से विरोध करके राजा एक पल भी नहीं ठहर सकता, न ऐसे राजा को प्रजा ठहरने ही दे सकती है। इसलिए इस विषय में भी कोई विचारणीय-बात नहीं है।

प्रधानजी! मैं, राज्य विश्वामित्र ऋषि को दे रहा हूँ, किसी दूसरे को तो राज्य माँगने की हिम्मत ही नहीं पड़ सकती। ये, अपना राज्य छोड़कर आये हैं अतः राज्यकार्य से भिज्ञ हैं। यही कारण है, कि इन्होंने मुझ से राज्य माँगा है। राज्य देने में मेरी कोई हानि नहीं है, हानि तो इनकी है जो ये राजर्षि पद छोड़-कर फिर राज्य करना चाहते हैं। इस राज्य के देने-लेने में, बहुत बड़ा रहस्य है, जो अभी अप्रकट है। यदि ऐसा न होता, तो ये राजर्षि, जिन्होंने स्वयं अपने राज-पाट को छोड़ दिया है, फिर राज्य करने की इच्छा क्यों करते? ऐसे बड़े आदमी को राज्य करने की इच्छा हुई, तो समझना चाहिए कि इसमें कोई भेद है। प्रधान, राज्य देने में, अपनी किंचित भी हानि नहीं है, बल्कि लाभ ही है। लाभ क्या है, यह आगे चलकर प्रकट होगा। धर्म और सत्य पर विश्वास रखो, और इस श्रेष्ठ कार्य में विघ्न मत डालो।

राजा की बात सुनकर प्रधान तो बैठ गया, परन्तु विश्वामित्र विचारने लगे, कि इस राजा ने तो मुझे राजर्षि-पद से भी गिराने का विचार किया है। यह, अपना राज्य देकर, मुझे त्यागी से भोगी बना रहा है। मैंने राज्य माँगकर अच्छा नहीं किया, और यदि अब नहीं लेता हूँ, तो राजा की पहली बात सत्य होती है,

कि मैंने अप्सराओं को दया और राज-धर्म से छोड़ा । मुझे तो इसका घमण्ड दूर करना है। इसके करने में मेरा राजर्षि-पद जाता है, तो चाहे जाय, परन्तु अपनी बात न जाने दूँगा और न इसमें घमण्ड ही रहने दूँगा। यह, राज्य तो दे ही रहा है, मैं इससे राज्य ले लूँ और फिर दूसरे दानादिक में फँसाऊँ, तब इसकी बुद्धि ठिकाने आवेगी। फिर तो एक बार ही नहीं बल्कि दस बार यह अपना अपराध स्वीकार करेगा। ऐसे, इसका घमण्ड न जायगा।

विश्वामित्र, यहाँ आकर न्याय माँगने और फिर राज्य माँगने आदि बातों पर मन-ही-मन पश्चात्ताप तो करते हैं, परन्तु अपना दुराग्रह छोड़ने को तैयार नहीं है। ऐसा करने में, वे अपना अपमान समझते हैं। इसी वास्ते, अपना राजर्षि-पद खोकर भी, राजा से अपनी इच्छानुसार अपराध स्वीकार कराना चाहते हैं। वे, अपनी हानि करके, राजर्षि-पद से भ्रष्ट होकर भी राजा को नीचा दिखाने के इच्छुक हैं। किसी कवि ने सत्य ही कहा है:—

साँई सन अरु दुष्ट जन, इनको यही स्वभाव।
खाल खिंचावें आपनी, पर बन्धन के दांव॥
पर बन्धन के दांव खाल अपनी खिंचवावे।
मूड़ काट कै फवै तऊ वह बाज न आवे
कह गिरधर कविराय जरैं आपनी कराई।
जल में परि सरि गये, तऊ छांड़ी न खुटाई॥

आज भी बहुत से लोग दूसरों को फँसाने के लिए, उन्हें सजा दिलाने के लिये, आप स्वयं पिटते, जेल जाते और कष्ट भोगते सुने जाते हैं। यह, दुष्टों का स्वाभाविक लक्षण है, कि वे स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों को कष्ट दें। इसी के अनुसार यहाँ

हरिश्चन्द्र को अपमानित करने के लिए विश्वामित्र, अपने राजर्षि-पद को भी छोड़ देने को तैयार हुए हैं। इस समय उन्हे राजर्षि-पद की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी अपेक्षा राजा को कष्ट में डालने की है। विश्वामित्र ने, हरिश्चन्द्र से कहा—देख राजा अच्छी तरह विचार ले। पीछे से पश्चात्ताप करने से कोई लाभ न होगा। अविवेक-पूर्वक, शीघ्रता में आकर जो कार्य किया जाता है, उसका दुःख जीवन-भर नहीं भूलता। इसीलिये किसी कवि ने कहा है:—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ।
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्य तुल्यो विपाकः॥

अर्थात्—कोई काम, कैसा ही अच्छा या बुरा क्यों न हो, काम करनेवाले बुद्धिमान को, पहले उसके परिणाम का विचार करके काम में हाथ लगाना चाहिए। क्योंकि बिना विचारे अति-शीघ्रता से किये हुए काम का फल, मरणकाल तक हृदय को जलाता और काँटे की तरह खटकता रहता है।

हरिश्चन्द्र—महाराज पश्चात्ताप तो बुरा काम करके हुआ करता है, सद्कार्य में किस बात का पश्चात्ताप? धन और राज्य, ये सब परिवर्त्तनशील हैं, इनकी स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। किसी कवि ने कहा है:—

दान, भोग अरु नाश, तीन होत गति द्रव्य की।
नाहिन द्वै को वास, तहां तीसरो वसत है॥

अर्थात्—धन की दान, भोग और नाश, ये तीन गतियें हैं।

जो अपने धन को न दान में लगाता है, न भोग में, उसके धन की तीसरी गति नाश अवश्य होती है।

महाराज, यदि यह राज्य किसी सुकृत्य में लग जाय, तो प्रसन्नता की बात है, इसमें पश्चात्ताप की कौनसी बात है? मैं, आपको प्रसन्न मन से ससागर पृथ्वी और राज-पाट देता हूँ, आप लीजिये।

विश्वामित्र ने जब देखा, कि यह अपने निश्चय पर दृढ़ है, तब क्रोधित होकर बोले—देखता हूँ, तू कैसा दानी है! अच्छा ला!

हरिश्चन्द्र ने, पृथ्वी का पिण्ड, विश्वामित्र के हाथ में देते हुए कहा—'इद न मम'। अर्थात् अब यह पृथ्वी मेरी नहीं है। मैं अपनी सत्ता उठाकर विश्वामित्र-ऋषि की सत्ता स्थापित करता हूँ। विश्वामित्र ने, राजा से पृथ्वी का पिण्ड पाकर आशीर्वाद दिया—स्वस्तिं भव। अर्थात् तेरा कल्याण हो।

पृथ्वी का पिण्ड लेकर विश्वामित्र ने विचार किया कि अब इस राज्य में तो इसका कुछ रहा नहीं है, इसलिये इसे किसी और बात में फँसा लूँ, तब मनोरथ सिद्ध हो। उन्होंने हरिश्चन्द्र से कहा—राजा! तूने जैसा दान दिया है, वैसा दान आज तक किसी दूसरे ने नहीं दिया। लेकिन दान के पश्चात्, दक्षिणा का दिया जाना आवश्यक है। बिना दक्षिणा के दान नहीं होता। जितना बड़ा दान तूने दिया है, उसी अनुमान से दक्षिणा भी होनी चाहिए।

हरिश्चन्द्र—हाँ महाराज, दक्षिणा भी लीजिये। प्रधान! कोष में से एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा ला दो।

कई दाँव हारे हुए जुवारी को, एक दाँव जीत जाने पर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र की यह बात सुन कर हुई। वे, मन-ही-मन कहने लगे, कि अब यह अच्छा फँसा है। अब इसकी बुद्धि ठिकाने लाये देता हूँ। वे, जिस क्रोध को, कारण न मिलने से अच्छी तरह प्रकट न कर सके थे, उस क्रोध को प्रकट करने के लिये उन्हें अब कारण मिल गया। वे, क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—तूने मुझे राज-पाट दान में दिया है, या मेरा उपहास कर रहा है?

हरिश्चन्द्र—क्या महाराज?

विश्वामित्र—जब तूने राज-पाट मुझे दान में दे दिया, तो फिर कोष पर तेरा क्या अधिकार रहा, जो तू उसमें से दक्षिणा देने के लिये स्वर्ण मुद्रा मगा रहा है? राज्य या उसके वैभव पर अब तेरा क्या अधिकार है? तू, केवल अपने शरीर और स्त्री-पुत्र का स्वामी है। तुझ पर, या तेरे स्त्री पुत्र पर कोई आभूषण है, तो वह भी मेरा है। ऐसी अवस्था में क्या मेरा ही धन मुझे दक्षिणा में देता है? मैं, इसीलिये कहता था, कि तू सूर्यवंश में उत्पन्न तो हुआ, परन्तु तुझमें अज्ञान है। पहले तो तूने अप्सराओं को छोड़ने और फिर हठ करके अपना अपराध न मानने की अज्ञानता की, फिर अपनी दानवीरता दिखाने के लिये राज्य देने का अज्ञानता की, और अब दिये हुए दान में से ही लेकर दक्षिणा देने की अज्ञानता करना चाहता है? मुझे तेरी इस अज्ञानता पर दया आती है, इसलिये तुझ से फिर कहता हूँ कि अपना अपराध स्वीकार कर ले, अन्यथा तुझे बड़े-बड़े कष्टों का सामना करना होगा।

विश्वामित्र की यह बात सुनकर, हरिश्चन्द्र पश्चात्ताप करने लगे कि वास्तव में अब कोप पर मेरा क्या अधिकार है, जो मैं उसमें से स्वर्ण मुद्रा दे सकूँ। उन्होंने विश्वामित्र से कहा—महाराज यह भूल तो मुझसे अवश्य हुई, मैं इसके लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ। अब रही दक्षिणा की बात, सो मैंने एक हजार स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा देने के लिये कहा है, इन स्वर्ण-मुद्राओं का मुझ पर आपका ऋण है। मैं, किसी दूसरे उपाय से आपका यह ऋण चुका दूंगा।

हरिश्चन्द्र को, इस प्रकार नम्र लख, विश्वामित्र को यह आशा हुई, कि संभवतः अब समझाने बुझाने पर यह अपना अपराध स्वीकार करले। यदि यह अपराध स्वीकार करले, तो मैं राज्य के झंझट से भी बच जाऊँ, और मेरा राजर्पि-पद भी बना रहे। उन्होंने, हरिश्चन्द्र से कहा—राजा! इस बात का तो विचार कर, कि इतनी स्वर्ण मुद्रा तुझे प्राप्त कहाँ से होगी! क्या इनके लिये भीख माँगेगा? यदि भीख भी माँगना चाहेगा तो कहाँ मांगेगा? मैं तो तुझे अपने राज्य मे रहने भ न दूँगा।

हरिश्चन्द्र – महाराज! इक्ष्वाकुवशी देना जानते हैं, मांगना नहीं जानते।

विश्वामित्र—फिर क्या करेगा जो मुहरें मिलेंगी?

हरिश्चन्द्र – यदि आप इसी समय मुहरें चाहते हो, तो इस समय तो मेरे पास सिवा मेरे शरीर के, और कुछ नहीं है। यदि आप मेरे शरीर से किसी प्रकार अपना यह ऋण वसूल कर सकते हो, तो मैं इसके लिए सहर्ष तैयार हूँ। अन्यथा, मेरे पूर्वजों ने, काशी-क्षेत्र को राज्य से इसीलिये पृथक् रख छोड़ा है, कि

वृद्धावस्था में राज्य-त्याग के पश्चात वहाँ स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। यदि, आपने पूर्वजों की इस नीति का उल्लंघन न किया और काशी क्षेत्र को पूर्ववत् राज्य से पृथक् ही रखा, तो मैं वहाँ कोई उद्योग करके, आपको एक मास में एक सहस्त्र स्वर्ण-मुद्रा चुका दूँगा। मैंने एक सहस्त्र स्वर्णमुद्रा देने का वचन दिया है, इसलिये इसे चुकाने के लिये मुझे अवकाश मिलना उचित है। आप राजनीतिज्ञ हैं, अतः मेरा विश्वास है, कि आप मुझे इसके लिये अवकाश देंगे, साथ ही, काशीक्षेत्र को राज्य से पृथक् रखने की पूर्वजों की नीति का पालन भी अवश्यमेव करेंगे।

विश्वामित्र विचारते हैं, कि यदि मैं काशी-क्षेत्र पर अपना अधिकार करता हूँ, तो यह कार्य राज-धर्म से विरुद्ध होगा। इस के सिवा, यदि राजा को एक सहस्त्र स्वर्णमुद्रा देने के लिये अव-काश नहीं देता हूँ, तो नीति भी भङ्ग करता हूँ और संसार में अपयश भी होता है। यह सोचकर, वे राजा से फिर कहने लगे— राजा, अब भी समझ जा। एक सहस्त्र स्वर्णमुद्रा, तेरे लियेकाशी में कहीं गड़ी नहीं हैं, जो तू निकालकर ला देगा। उद्योग से, एक मास में एक-सहस्त्र स्वर्णमुद्रा प्राप्त कर लेना कठिन कार्य है। इसलिये मैं तुझे फिर समझाता हूँ, कि अपना अपराध मानले, जिसमें तेरा राज्य भी तेरे पास बना रहे और घर छोड़कर कष्ट में भी न पड़ना पड़े। अपनी हठ को छोड़ दे। तेरी यह हठ तुझे खराब कर डालेगी।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मेरी तो कोई हठ नहीं है। हठ तो आपकी है। आप ही बताइये, कि कष्ट के भय तथा राज्य के लोभ से मैं सत्य का लोप करके झूठ बोलूँ और जो कार्य अपराध

नहीं है, उसे अपराध मानूँ, यह कैसे हो सकता है ? ऐसा करना धर्म कैसे कहा जा सकता है ? इस राज्य को, आज तक कोई अपने साथ न ले जा सका, और न मैं ही इसे अपने साथ लेजाने में समर्थ हूँ। इसके उपयोग का यह सुअवसर फिर कब मिलेगा, कि आप ऐसे ऋषि को मैं इसे दान में दूँ और अपने ऊपर एक सहस्र स्वर्णमुद्राओं का ऋण लूँ ? आपकी कृपा से, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा, बल्कि इस ऋण की चिन्ता से मैं उद्योगी बन जाऊँगा। रही, इतनी स्वर्णमुद्राएँ एक मास में कहाँ से आवेंगी, यह बात। लेकिन, उद्योगी के समीप कोई भी कार्य किसी भी समय कठिन नहीं है, मैंने तो एक मास का अवकाश माँगा है।

विश्वामित्र—अच्छा, तू अपनी हठ को मत छोड़ और देख, कि तुझे किन-किन कष्टों में पड़ना पड़ता है। तेरे लिए, अवधपति महाराजा विश्वामित्र आज्ञा देते हैं, कि तू अपनी स्त्री और पुत्र के साथ, आज ही इस नगर का त्याग करदे। अपने साथ, तुझे एक भी पैसे के मूल्य की वस्तु ले जाने का अधिकार नहीं है। दक्षिणा के विषय में भी, मैं अपना निर्णय सुनाये देता हूँ, कि तू एक मास के भीतर एक सहस्र स्वर्णमुद्रा दे देना। एक मास से, एक दिन भी अधिक देर करने का तुझे अधिकार नहीं है। यदि तीस दिन की जगह, इकतीसवाँ दिन भी हुआ, और तूने एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ न दीं, तो मैं अपने श्राप से तुझे कुल सहित भस्म कर दूँगा। तुझे, यह बतलाने की तो आवश्यकता नहीं है, कि तपस्वी का श्राप कदापि मिथ्या नहीं होता।

विश्वामित्र की बात सुन, हरिश्चन्द्र मुस्कराये और कहने

लगे, कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं, अब आपकी आज्ञा पालने के लिए जाता हूँ, और आपसे यह एक प्रार्थना करता हूँ, कि अवध-राज्य की प्रजा ने अब तक जिस आनन्द से दिन व्यतीत किये हैं, आप भी उसे वही आनन्द प्रदान करेंगे और उसी नीति का अनुसरण करेंगे, जिसमें प्रजा सुखी रहे। प्रजा की बुद्धि अल्प होती है। इससे वह राजा के आश्रित है। राजा, उसके पितृवत् हैं, और सदैव उसके पालन की चिन्ता करते हैं। प्रजा से अपराध होना स्वाभाविक है, इसलिए आप उसपर दया करके इस प्रकार क्रोध न करें और न बात-बात में उसे भस्म ही करने लगें। अन्यथा, बनी बनाई प्रजा बिगड़ जायगी।

राजा की इस बात को सुनते-सुनते तो, विश्वामित्र की क्रोधाग्नि भभक उठी। वे कहने लगे—क्या तू हमें राज्य करना सिखलाता है? हम में इतना भी ज्ञान नहीं है, जो तेरे को सिखलाने की आवश्यकता हुई? जिनके बनाये हुए नियमों के अनुसार तूने अबतक राज्य किया है, आज उन्हीं को सिखाने के लिए तैयार हुआ है? जानता नहीं है, कि अब यह राज्य विश्वामित्र का है? यदि, विश्वामित्र पुरानी ही प्रथा पर स्थिर रहे, तो फिर विश्वामित्र क्या! तुझे, अब राज्य या प्रजा की चिन्ता करने और उस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, हमारी जो इच्छा होगी, वह करेंगे। सभासद्गण! तुम लोग आज जाओ और कल आओ। अबतक के सब नियम कल बदल दिये जायंगे और उनके स्थान पर, महाराजा विश्वामित्र नये नियम प्रचलित करेंगे।

विश्वामित्र की बातों से, सभासद् पहले से ही क्रुद्ध हो रहे थे,

अतः यह बात उन्हे और भी असह्य हो उठी। वे, विचार करने लगे, कि ये अभी तो भिखारी थे, अभी ही राज्य मिला है, राज्य देनेवाला भी अभी यहीं मौजूद है, इतनी ही देर में इनकी यह दशा है, तो आगे क्या होगा ? अपने दाता की उपस्थिति में भी जब इन्हें कुछ कहते हुए लज्जा बोध नहीं होती, तो आगे इन्हे किसकी शंका होगी ? यह विचारकर उन्होंने निर्भयता-पूर्वक विश्वामित्र को उत्तर दिया कि आप पुराने नियमों की जगह नये नियम किस पर प्रचलित करना चाहते हैं ? आपके नियम मानेगा कौन ? आप शासन किस पर करेंगे ? यह सभा और यह प्रजा तभी तक है, जब तक महाराजा हरिश्चन्द्र यहाँ पर हैं। इनके यहाँ से जाते ही, न सभा रहेगी, न प्रजा ही। हमलोग, देश-विदेश जाकर कष्ट चाहे सहे, परन्तु आप ऐसे अन्यायी के राज्य में कदापि न रहेंगे। जिसने, अपने राज्य देनेवाले दाता के साथ इस कठोरता का व्यवहार किया है, वह हमारे साथ कब अच्छा व्यवहार करेगा ? हमलोग, उन्हीं महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रजा हैं, जिन्होंने अपना राज्य देने में भी सङ्कोच न किया, तो हमें घर-बार आदि छोड़ने में क्यों सङ्कोच होगा ? यदि, आप हमलोगों पर राज्य करना चाहते हैं, तो महाराजा हरिश्चन्द्र के बनाये हुए नियमों को उसी प्रकार रखिये, और महाराजा हरिश्चन्द्र को यहाँ से चले जाने की आपने जो आज्ञा दी है उसे निवारण कीजिये। यह बात दूसरी है, कि महाराजा हरिश्चन्द्र के बनाये हुए नियमों में यदि कोई दोष हो, तो उसे आप दूर करें, परन्तु उन नियमों को सर्वथा बदल कर, आप हम लोगों पर कदापि शासन नहीं कर सकते। जैसे ही

महाराजा हरिश्चन्द्र चले, वैसे हम लोग भी उन्हीं के साथ चले जायेंगे। वे, राज्य के भूखे नहीं हैं। आप, प्रसन्नता-पूर्वक राज्य कीजिये, परन्तु उन्हें यहाँ से चले जाने की आज्ञा न दीजिये। रही आपकी दक्षिणा की बात, सो एक हजार स्वर्ण-मुद्रा हम अपने पास से आपको दिये देते हैं। राज्य की सम्पत्ति तो हमारी सम्पत्ति हो सकती है और है भी, परन्तु हमारी सम्पत्ति पर राज्य का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये, आप एक हजार स्वर्णमुद्रा हमसे लेकर, महाराजा हरिश्चन्द्र को ऋणमुक्त कीजिये और उन्हें यहीं रहने की आज्ञा दीजिये। उनके चलाये हुए नियमों में जो खराबी हो, उन्हें मिटाने के सिवाय और किसी प्रकार का परिवर्तन न करके, आप आनन्द-पूर्वक राज्य कीजिये। हमारे इस कथन के अनुसार कार्य करने पर तो हम लोग आपसे सहयोग कर सकते हैं, अन्यथा कदापि ऐसा न हो सकेगा।

आज के लोग, यदि उस समय सभासद होते तो सम्भवतः विश्वामित्र की हाँ में हाँ मिलाने के सिवा, उनके विरुद्ध बोलने की हिम्मत तक न करते। उन्हें तो अपने पद-रक्षा की चिन्ता रहती, सत्य या प्रजा का पक्ष उनसे कदापि न होता। वे, यह विचारते, कि हरिश्चन्द्र तो राज्य-च्युत हो चुके हैं, उनके स्थान पर ये राजा हुए हैं, इसलिये इन्हीं के कथन का समर्थन करने में हमारा लाभ है, हरिश्चन्द्र का पक्ष-समर्थन करने में नहीं। लेकिन, उस समय के सभासद सत्य-प्रिय थे। सत्य के आगे, वे धन-संपत्ति और मान-प्रतिष्ठा को तृणवत् समझते थे। यही कारण है, कि उन्हें विश्वामित्र ऐसे क्रोधी और तपस्वी के कथन का विरोध करने में भी भय नहीं हुआ।

विश्वामित्र ने, सभासदों की बातें सुन, अपनी क्रोध भरी आँखें दिखा कर उन्हें डराना चाहा, परन्तु वे सत्य की शक्ति से बलवान थे, इसलिये विश्वामित्र की आँखों से क्यों डरने लगे? विश्वामित्र, उन लोगों से कहने लगे—दुष्टो! तुम को पता नहीं है, कि मैं कौन हूँ? मेरे सामने तुम्हारी यह कहने की शक्ति? देखो, मैं तुमको इसका कैसा दण्ड देता हूँ, तभी तुम्हें मालूम होगा कि विश्वामित्र की अवज्ञा करने का क्या फल होता है। तुम लोगों का कहना मान कर, जब मैं हरिश्चन्द्र को यहाँ रहने दूँगा, तब मेरा राज्य क्या होगा? इसके रहते हुए, मेरी स्वतन्त्रता कैसे क़ायम रहेगी और मेरी आज्ञाओं का पूर्णतया पालन कैसे हो सकेगा? हरिचन्द्र को, मैं यहाँ कदापि नहीं रहने दे सकता, न उनके समय के नियमों को ही रहने दे सकता हूँ।

सभासद—जब हम कह रहे हैं, कि महाराजा हरिश्चन्द्र राज्य के भूखे नहीं हैं, वे राज्य न करेंगे वे तो केवल शान्ति से बैठे रहेंगे, और उनके ओर की दक्षिणा भी हम देते हैं, फिर आप उन्हें क्यों नहीं रहने देते? इतना होते हुए भी आप उन्हें निकाल रहे हैं, तो इसका यही अर्थ है, कि आपको उन्हें कष्ट मे डालना अभीष्ट है और उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर, आप प्रजा को त्रास देना चाहते हैं। लेकिन आप ध्यान रखिए, कि आपकी यह आशा, दुराशामात्र है।

इस प्रकार, सभासदों के मुँह में जो कुछ आया, वह कहते हुए, वे क्रुद्ध होकर अपने-अपने घर चल दिये। विश्वामित्र, उनके इस व्यवहार से विचारने लगे, कि मेरे सामने किसी की बोलने तक की हिम्मत न पड़ती थी, परन्तु आज मेरी शक्ति यहाँ लुप्त

हो गई । ये लोग, सत्य के बल से सशक्त हैं, इसीसे मैं इनका कुछ नहीं कर सकता ।

विश्वामित्र का, सभासदों पर तो कुछ प्रभाव पड़ा नहीं, तब वे हरिश्चन्द्र से ही क्रोधित होकर कहने लगे—कुटिल ! तूने खूब जाल रचा है । राज्य देकर दानी भी बन गया, मुझे अपमानित भी किया और अब इस प्रकार दूसरों से विद्रोह करवाकर, पुनः राज्य लेना चाहता है ? यदि तुझे राज्य का इतना मोह था, तो तूने पहले दिया ही क्यों, जो अब इस प्रकार मुझे इन सभासदों से अपमानित करवा रहा है ।

हरिश्चन्द्र—महाराज, आप दूसरे पर का क्रोध भी मुझ पर ही उतारेंगे ? मैं तो आपके समीप ही बैठा हूँ, कहीं गया भी नहीं जो इन्हें सिखाऊँ, ऐसी अवस्था मे मेरा क्या अपराध है ? मैंने तो आप से पहले ही प्रार्थना की थी, कि आप शान्ति से काम लीजिये, परन्तु मेरी इस प्रार्थना पर आप और भी क्रुद्ध हो गये । अब मुझे आज्ञा दीजिये, और सन्तोष रखिये, मैं यथासम्भव प्रजा के विचारों को आपके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करूँगा ।

महाराजा हरिश्चन्द्र, महल की ओर विदा हुए । उधर विश्वामित्र मन ही मन विचारते हैं, कि क्या मैंने हरिश्चन्द्र को दण्ड दिया है ? नहीं-नहीं, हरिश्चन्द्र से स्वयं मैं ही दण्डित हुआ हूँ । मैंने, अपने ही मुँह हरिश्चन्द्र से दण्ड माँगा है । मैंने, अपनी स्वतन्त्रता, उसकी परतन्त्रता से बदल ली है । मेरे ईश्वर-भजन आदि कार्यों में राज्य की बाधा उत्पन्न हो गई है । मैंने, अपने पैर में स्वयं ही, राज्य की उस बेड़ी को पहन लिया है जिसे, मैं बड़ी कठिनता से तुड़ा सका था । मेरी स्वतन्त्रता का तो उपभोग वह

करेगा, जैसे उसे अप्सराओं को बन्धनमुक्त करने का फल मिला हो, और उसको परतन्त्रता में भोगूँगा, जैसे मुझे उनपर अनुचित क्रोध करने का दण्ड मिला हो। हरिश्चन्द्र! वास्तव में तू धन्य है, किन्तु मैं भी सहज ही में तुझे छुटकारा देकर अपना अपमान न होने दूँगा। जिस कार्य को प्रारम्भ किया है, उसका अन्त देखे बिना पीछे न हटूँगा।



मिलन

विश्वामित्र के समीप से, महाराजा हरिश्चन्द्र महल की ओर विदा हुए। मार्ग में, उनके मन में जो तर्क-वितर्क होते जाते हैं, उनका वर्णन करना कठिन कार्य है। वे विचारते हैं, कि आज मुझे उस रानी के समीप जाना है, जिसने मुझ से कहा था कि बिना सोने की पूँछवाला मृग-शिशु लाये, मेरे महल में मत आना। मैं, उसकी इच्छानुसार अब तक सोने की पूँछवाला मृगशिशु न ला सका और आज बिना मृग-शिशु लाये ही उसके समीप जा रहा हूँ, तो क्या वह मेरा तिरस्कार करेगी? लेकिन ऐसा होना तो सम्भव नहीं। रानी, ऐसी निन्द्य-हठ करने वाली तो नहीं है, न उसे मेरा अपमान करना ही अभीष्ट है। यदि ऐसा होता, तो इतने समय में उसका यह विचार, अवश्य ही किसी न किसी रूप में प्रकट होजाता। उसने, मेरा अपमान होने योग्य कोई बात अब तक नहीं की। इससे यही जान पड़ता है, कि उसने मुझको अपने मोह-पाश से मुक्त करने के लिए ही ऐसा किया है और मुझे ऐसा असम्भव कार्य संभव कर बताने की शिक्षा दी है, जैसा असम्भव सोने की पूँछवाला मृग-शिशु प्राप्त होना है। रानी! यदि मेरी कल्पनानुसार ही तेरा विचार है, तो मैं तेरे समीप सोने की

पूँछवाला मृगशिशु ले कर ही आरहा हूँ। राज्य देना, कोई सरल कार्य नहीं है, लेकिन मैंने तेरी सहायता से इसे सम्भव कर बताया है। क्या तू मेरे इस कार्य को, सोने की पूँछवाला मृगशिशु मानकर सन्तोष करेगी? मान या न मान, सत्कार कर या तिरस्कार, अब तो मैं तेरे समीप आता ही हूँ। लेकिन, क्या तू मेरे इस कार्य से सहमत होगी? तू यह तो न कहेगी, कि आधे राज्य की स्वामिनी मैं थी, आपने मेरे अधिकार का राज्य क्यों दे दिया? तू यह तो न कहेगी, कि रोहित जो राज्य का भावी स्वामी था, उसके अधिकार पर कुठाराघात क्यों किया? यदि, तूने मेरे इस कार्य का विरोध किया, तो सारी प्रजा तेरा साथ देकर विद्रोह मचा देगी और इस प्रकार मेरा नाम कलङ्कित होगा, कि अपनी स्त्री को राज्य के लिये भड़काया। रानी! अब तो तेरे पास आता ही हूँ, अभी मालूम हो जायगा, कि मेरी ये आशङ्काएँ ठीक हैं या निर्मूल। लेकिन, मैं तुझे रानी क्यों कह रहा हूँ? अब तो तू उस गरीब की स्त्री है, जिसके पास एक समय का भोजन भी नहीं है, न रहने को घर ही है। बल्कि, इस अवस्था में भी जो एक-सहस्र स्वर्णमुद्रा का ऋणी है। तारा! आज तू मुझे क्या कहेगी? जो इच्छा हो, सो कह, मुझे सुनना ही होगा।

इस प्रकार, चिन्तासागर में डुबकियें लगाते हुए हरिश्चन्द्र, रानी के महल मे आए। वहाँ पहुँचने पर, दासियों से मालूम हुआ, कि रानी इस समय समीप के उपवन में है। राजा, चुपचाप बाग में गये और एक वृक्ष की ओट से रानी और रोहित का खेल देखने लगे। रानी, उस समय रोहित से विनोद कर रही थीं और साथ ही साथ उसे शिक्षा भी देती जाती थीं। वे रोहित से पूछ

रही हैं-बेटा, तू कौन है ? किस वंश का है ? आदि। बालक रोहित, माता के इन प्रश्नों का क्या उत्तर देता ? वह चुपचाप माता के मुँह की ओर देखने लगा। पुत्र को, इस प्रकार अपनी तरफ देखते देख, रानी कहने लगी—वत्स ! तू वीर बालक है और वीर-वंश का है। अच्छा, तू यह तो बता कि तू मेरा पुत्र है, या तेरे पिता का ? बालक इसका भी क्या उत्तर देता ? तब रानी ही कहने लगी—बेटा ! माता का काम तो केवल जन्म देकर पालन करने का ही है, परन्तु शक्तिदाता तो पिता ही है। मैं, जो तेरी माता हूँ, वह भी तेरे पिता की सेविका है। इसलिये, सदैव पिता की आज्ञा का पालन करना, कभी उल्लंघन मत करना और न कभी हृदय में भय या कायरता लाना।

बालक के हृदय पर माता की शिक्षा का जो प्रभाव पड़ता है, वह स्थायी होता है। जिन शिक्षाओं को शिक्षकगण एक विशेष-समय में भी बालक के हृदयस्थ नहीं करा सकते, उन्हीं शिक्षाओं को, माता सहज में ही अपने पुत्र के हृदयस्थ करा सकती है। माता की दी हुई शिक्षा का प्रभाव ऐसा होता है, कि यदि माता चाहे, तो अपने बालक को वीर बनावे या कायर, मूर्ख बनावे या विद्वान, और सच्चरित्र बनावे या दुश्चरित्र। माता के लाड़-प्यार के समय में ही नहीं, बल्कि माता के गर्भ में रहते समय से ही, बालक शिक्षा प्राप्त करने लगता है। यूरोप के, अद्वितीय-वीर नैपोलियनबोनापार्ट के लिए, इतिहासकार कहते हैं, कि उसकी माता ने नैपोलियन के गर्भ में आते ही यह भावना की थी, कि मेरा लड़का समस्त-यूरोप को विजय करने वाला हो। इसके लिए, वह संग्राम में जाकर संग्राम देखती, घोड़े पर चढ़ कर अकेली

वन में जाती, श्मशानों में जाकर खड़ी रहती और इस प्रकार अपने गर्भस्थ-बालक को निर्भयता की शिक्षा देती। उसकी इस शिक्षा से बालक भी ऐसा वीर हुआ, कि जिसने सारे यूरोप पर अपनी विजय-पताका फहरा दी। शिवाजी की माता ने रामायण और महाभारत की कथा सुनाकर, अपने बालक को वीरता की ऐसी शिक्षा दी, कि वही बालक आगे चलकर एक बड़े देश का राजा और हिन्दू-धर्म का रक्षक हुआ। सारांश यह, कि मातृ-शिक्षा का बालक के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिनकी माता ही ऐसी कायर हैं, कि पत्ता हिलने से भूत का भय करती हैं, और सभ्यता, उदारता, नम्रता आदि का भी ज्ञान नहीं रखतीं उनके बालक इन सद्गुणों की शिक्षा कहाँ से पा सकते हैं? और ऐसी अवस्था में यदि बालक कायर, अशिष्ट तथा मूर्ख हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अस्तु।

रानी की बातों को सुन, राजा की आशङ्काएँ बहुत कुछ मिट गईं। वे मन ही मन कहने लगे—रानी! तुझे अभी यह नहीं मालूम है, कि मैंने तुझे कंगाल बना दिया है और जिस पुत्र से तू विनोद कर रही है, उसके भविष्य का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा है। देखूँगा, राज्य देने का समाचार सुनकर तू क्या कहती है। परन्तु प्रश्न तो यह है, कि इस समाचार को, मैं तेरे सम्मुख कहूँगा किस हृदय से?

राजा इस प्रकार विचार ही रहे हैं, कि इतने ही में रानी की दृष्टि राजा पर पड़ी। पति को, इस प्रकार छिप कर देखते देख यह विचार कर कि इन्हें कहीं फिर मेरा मोह न घेर ले—रानी ने रोहित को सम्बोधन करते हुए कहा—बेटा, चलो चलें। तुम्हारे खेलने के लिए

सोने की पूँछवाला मृगशिशु तो लाये नहीं, और खेल देखने आ गये। यह कहती हुई, रानी, रोहित को लेकर चल दीं। महाराजा हरिश्चन्द्र, मन में—'रानी ठहर, तेरे लिये मैं सोने की पूँछ वाला मृगशिशु लाया तो हूँ, परन्तु तू उसे पसन्द करेगी या नहीं?' कहते हुए दौड़कर रानी के मार्ग में खड़े हो गये और रोहित को गोद में उठा लिया। रानी, अबतक यही समझ रही हैं, कि इन्हें पुनः स्त्री-मोह ने सताया है, इसलिये वे मुस्करा कर यह कहती हुई मार्ग काटकर चलदीं, कि पुत्र को भी ले लो, मैं अकेली ही रहूँगी। रानी को इस प्रकार मुस्कराकर जाते देख, राजा ने कहा—प्रिये तारा! यह विनोद का समय नहीं है। तुम्हारे चलने पर, मैं दौड़कर आगे आया, इसका कारण सोचो। पति की यह बात सुनकर तारा ठिठक गई। वे विचारने लगीं, कि क्या आज पति को कोई मानसिक-दुःख है, जो वे इस प्रकार कह रहे हैं? ऐसी अवस्था में, मैं यदि इनके समीप से चली जाऊँ, तो मुझे धिक्कार है। रानी को रुकी देख, राजा फिर कहने लगे—प्रिये तारा! आज का मिलन, अनिश्चित-समय के लिये अन्तिम मिलन है। अब क्या ठीक है, कब मिलें?

राजा की इस बात ने तो, रानी को कँपा दिया। वे ऐसी घबरा उठीं, कि उन्हें रोमांच हो आया। उन्होंने, अपना मुँह घुमाकर पति के मुँह की ओर जैसे ही देखा, वैसे ही सहम उठीं, कि आज पति का चेहरा बादलों से ढके हुए चन्द्रमा के समान, इतना मलीन क्यों है? इनके चेहरे से प्रकट है, कि इन्हे कोई आन्तरिक-पीड़ा है। वे दौड़कर पति के पास आईं और दीनता दिखाती हुई, उनका हाथ पकड़, नम्रता-पूर्वक कहने लगीं—नाथ! आपने यह

क्या कहा ? आज का मिलन अन्तिम-मिलन क्या है ? क्या इस दासी से रुष्ट हो, आपने किसी अन्य स्थान को जाने का विचार किया है, या और किसी कारण से आपको ऐसा करना पड़ेगा ? प्रभो ! शीघ्र कहिये, आपके इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

रानी की इस विनम्रता को देख, राजा आश्चर्य-चकित रह गये। वे, विचारने लगे, कि क्षणभर पहले जो रानी निठुर बनी हुई थी, वह इस प्रकार मेरा दुःख जानने के लिये क्यों व्याकुल हो उठी ? मैं अबतक यह निश्चय नहीं कर पाया, कि रानी स्वच्छ-हृदय है या कलुषित-हृदय, क्रूर है या सरल, अभिमानिनी है या विनम्र ! कहाँ तो वह, रूठी हुई की तरह जा रही थी और कहाँ लौट कर इस प्रकार नम्रता दिखा रही है ! मेरे प्रति इसको इतना प्रेम, और वह भी सुख में नहीं, किन्तु यह जानकर, कि पति इस समय दुःखित हैं ! मैं समझता हूँ, कि मुझे तो दान का फल तत्क्षण ही मिला है। यदि, मैं दान करके न आता तो इस स्त्री-रत्न को, जिसे मैं पत्थर समझ रहा था, कैसे जान पाता, कि यह पत्थर नहीं, किन्तु रत्न है।

राजा को इस प्रकार विचारमग्न देख, रानी की व्याकुलता और भी बढ़ गई। वे कहने लगीं—नाथ ! आप चुप क्यों हैं ? मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देते ? क्या यह दासी उस बात को सुनने के योग्य नहीं है ? यदि ऐसा है, तो कम से कम यही कह दीजिए, जिससे हृदय को कुछ सन्तोष तो हो।

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! ऐसी कौन सी बात हो सकती है, जो तुम्हें सुनाने योग्य न हो ? यदि मैं तुम्हें ही न सुनाऊँगा, तो सुनाऊँगा किसे ? और तुम्हीं न सुनोगी, तो सुनेगा कौन ? लेकिन

मैं, यही विचारता हूँ, कि कौन सी ऐसी सुखदायक बात है, जो तुम्हें सुनाऊँ। वह बात तो ऐसी है, जिसे सुनकर तुम दुःख पाओगी।

तारा—हृदयेश्वर, यह तो मैं आपकी मुखमुद्रा से ही समझ चुकी हूँ, कि कोई दुःखद बात है,लेकिन मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ, अतः यदि उस सारे दुःख को न उठा सकूँगी, तो कम से कम आधा दुःख तो बँटा ही लूँगी। इसलिए आप निःसङ्कोच कहिए।

हरिश्चन्द्र—प्राणेश्वरी, कर्त्तव्यवश मैंने, राज्य-वैभव सहित ससागर पृथ्वी विश्वामित्र को दान कर दी। उन्होंने, मुझसे याचना की, मैं, उनकी याचना खाली जाने देकर सूर्यवंश को कलङ्कित कैसे होने देता? अब, न तो अपना घर रहा है, न बार और न एक समय खाने को ही रहा है। बल्कि, एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा का अपने सिर पर ऋण है।

तारा—प्राणाधार, क्या इसे ही आप दुःख की बात मानते हैं? क्या इसी बात के सुनाने में आपको सङ्कोच हो रहा था? मैं तो समझती थी, कि कोई ऐसी बात हुई है, जिसके कारण सूर्यवंश के साथहीसाथ आपको भी कलङ्क लगने की आशङ्का है। प्रभो, यह तो महान हर्ष की बात है। इसके सुनने से मुझे दुःख क्यों कर हो सकता है? ससागर पृथ्वी का दान, ऊपर से एक सहस्र स्वर्णमुद्रा की दक्षिणा, और लेने वाले विश्वामित्र ऐसे ऋषि, इससे विशेष सौभाग्य की बात क्या हो सकती है? नाथ! आज आपने इस दासी को कृतार्थ कर दिया। आज, मेरा मस्तक गर्व से ऊपर उठ गया कि, मेरा पति ससागर पृथ्वी का दाता है। ससागर पृथ्वी के दान करने वाले को, रहने-खाने की चिन्ता हो,

यह आश्चर्य की बात है। स्वामी, रहने खाने की चिन्ता तो पशु-पक्षी भी नहीं करते, फिर हम तो मनुष्य हैं। आपके अटल-सत्य के प्रभाव से, सर्वदा आनन्द ही आनन्द है, आप किसी प्रकार की चिन्ता न कीजिये।

अबतक, राजा को चिन्ता थी, कि रानी को राज्यदान की बात असह्य हो उठेगी। वह, भारी विपत्ति की कल्पना से, काँप जायगी और मेरे इस कार्य का विरोध करेगी। लेकिन, रानी की बातों को सुनते ही, राजा की चिन्ता काफूर की तरह उड़गई। उसके स्थान पर, प्रसन्नता की झलक दिखाई देने लगी। वे, मन ही मन कहने लगे—तारा! मैं तुझे आज ही पहचान सका हूँ। मैं, नहीं जानता था, कि तू सहानुभूति की मूर्ति है। मैंने राज्य को दान नहीं दिया, बल्कि उसका इस तारा रूपी त्रिलोक की मूर्तिमान सम्पत्ति से बदला किया है। लेकिन तारा, अभी तेरी एक परीक्षा और शेष है।

हरिश्चन्द्र ने तारा से कहा—प्राणवल्लभे, तुमने मेरे इस कार्य का विरोध नहीं किया, इसके लिये तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। क्योंकि आगे चलकर, ऐसी-ऐसी स्त्रियें होंगी, जो, पति यदि किसी विपत्ति के समय भी उनका एक छल्ला बेंच लेगा, तो वे उसका विरोध करेंगी, उसे अपमानित करेंगी, और घर में कलह मचा देंगी।

तारा—आर्यपुत्र! क्या मैं सुख की ही साथिनी थी? मैं, राज्य के साथ विवाही गई थी, या आपके साथ? यदि आपके साथ विवाही गई थी, तो मेरेलिए आप बड़े हैं या राज्य? और जो राज्य आपने दान में दिया है, क्या उसे मैंने दान में नहीं

दिया है ? फिर, मैं विरोध क्यों करूँ ? भविष्य की स्त्रियों में से, जो अपने आपको पति की अर्द्धांगिनी मानेंगी, वे तो कदापि पति के किसी उचित कार्य का किसी समय भी विरोध न करेंगी, और जो पति की अपेक्षा सम्पत्ति को विशेष समझेगी, वे, पति यदि किसी उचित-कार्य में भी सम्पत्ति व्यय करेगा, तब भी उसका विरोध करेंगी। लेकिन, ऐसी स्त्रियों में भी जो बुद्धिमान होगी, वे मेरे चरित्र से कुछ न कुछ शिक्षा लेंगी ही।

हरिश्चन्द्र—प्रिये! तुम्हें तुम्हारे कुल, और तुम्हारे माता-पिता को धन्य है, जिनकी तुम पुत्री हो। वह नगर धन्य है, जहाँ तुम्हारा जन्म हुआ। साथ ही मैं भी धन्य हूँ, जिसे तुम्हारे समान स्त्री का पति बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

तारा—नाथ, सीमा से अधिक प्रशंसा करना, जिसकी प्रशसा की जाती है, उसका अपमान है। अतः अब आप क्षमा कजिये और इस सेविका की ऐसी प्रशंसा न करिये, जिसके कि यह योग्य नहीं है।

हरिश्चन्द्र—अच्छा प्रिये, अब ऐसी वातों में विशेप-समय लगाना उचित नहीं है। क्योंकि मुझे आज ही यहां से जाना है और एक मास के भीतर ही विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होना है। यदि, इस अवधि में मैं ऋणमुक्त न हो सका, तो विश्वामित्र, शाप देकर मेरे कुल का नाश कर देंगे। मैं उचित समझता हूँ, कि ऋणमुक्त होने के समय तक, मैं तुम्हें तुम्हारे पिता के यहाँ पहुँचा दूँ।

राजा की वात को सुनकर, रानी को वज्रघात-सा दुःख हुआ, लेकिन उन्होंने अपनी इस मर्म पीड़ा को धैर्य से दवाते

हुए कहा—प्रभो ! आप मुझे पिता के घर क्यों भेजते हैं ? क्या यहीं रहते हुए ऋणमुक्त होने का कोई उपाय नहीं कर सकते ?

हरि०—ना प्रिये, हम लोग यहाँ नहीं रह सकते। विश्वामित्र की आज्ञा, आज ही राज्य से चले जाने की है।

तारा—स्वामी, तो आपने कहाँ जाने का विचार किया है ?

हरि०—सिवा काशी के और कोई स्थान ही ऐसा नहीं है, जो राज्य से बाहर हो।

तारा-फिर क्या मैं काशी नहीं चल सकती ?

हरि०—प्रवास और वन के दुःख तुम न सह सकोगी, इसलिये तुम्हारा अपने पिता के घर जाना ही अच्छा है।

तारा—जीवन सर्वस्व, आप विचारिये तो कि आपके राज्य से बाहर चले जाने और मेरे इसी राज्य में पिता के घर रहने पर, विश्वामित्र की आज्ञा का पूरी तरह पालन कैसे होगा ? मैं आपकी अर्द्धाङ्गिनी हूँ, मेरे यहीं रहने पर, आपका आधा ही अङ्ग राज्य से बाहर गया और आधा अङ्ग तो यहीं रहा। इसके सिवा, जिन कष्टों को आप सह सकेंगे, उन्हे मैं क्यों न सह सकूँगी ? आधा अङ्ग कष्ट सहे और आधा अङ्ग सुख में रहे, यह कहाँ का न्याय है ? नाथ ! मैं और सब कुछ सुन सकती हूँ, पर यह बात आप न सुनाइये। छाया काया के, कुमुदिनी जल के, चन्द्रिका चन्द्र के और पत्नी पति के साथ ही रहेगी, विलग नहीं। मुझे, आप के साथ रहने में आनन्द है, पृथक् रहने में नहीं। आपके साथ रहने में मुझे जो कष्ट होंगे, वे मेरे लिये कष्ट नहीं, वरन सुख हैं, परन्तु आपसे पृथक् रहने पर, सुख भी मेरे लिये कष्ट ही हैं। बिना आपके, मैं स्वर्ग को भी तिलांजलि दे सकती हूँ, परन्तु

आपके साथ नर्क में भी, मैं आनन्द ही मानूँगी। जल से निकाल देने पर, मछली को जैसे सब आनन्द-दायक वस्तुएँ, अपने जीवन जल के बिना सुखदाई नहीं होतीं, वैसे ही स्त्री के जीवन, पति के बिना, स्त्री को भी सब सुख, दुःख ही हैं। मेरे लिये, सुख तो आपकी सेवा ही है. उसका योग प्राप्त न होना ही मेरे दुःख का कारण है। अतः हे प्रभो, इस दासी को आप अपनी सेवा से विलग न कीजिये और चाहे जो कुछ करिये।

हरिश्चन्द्र—प्रणाधिके, अभी तुम्हारा मेरे साथ चलना उचित न होगा। मैं, जहाँ जा रहा हूँ, वहाँ, रहने के लिये न तो कोई नियत-स्थान ही न किसी उद्योग का ही प्रबन्ध है। यहाँ तक, कि एक समय का भोजन भी पास नहीं है। ऐसी दशा में, मैं तुम्हे अपने साथ ले जाकर कष्ट में नहीं डालना चाहता। इसके सिवा, तुम स्त्री हो, स्त्री-जाति स्वभावत. सुकुमार होती है। तृषा,क्षुधा मार्ग के कष्ट आदि सहन करने के योग्य स्त्रियाँ नहीं होतीं। कदाचित तुमने मार्ग में इन कष्टों को सह भी लिया, तो काशी पहुँचकर, मैं तुम्हारे खाने, रहने आदि की चिन्ता करूँगा या ऋणमुक्त होने की ? इन सब बातों पर ध्यान देकर तुम्हें इन विचारों को बदलना और पिता के यहाँ रहना ही उचित है। यद्यपि, विश्वामित्र ने मेरे साथ ही, तुम्हें भी राज्य से चले जाने की आज्ञा दी है, परन्तु मैं उनसे इस बात की याचना कर लूँगा, कि तुम्हारे लिये जाने की आज्ञा निवारण करके, तुम्हें तुम्हारे पिता के यहाँ रहने की आज्ञा दे दें।

तारा—प्राणनाथ, मैं आपसे पहले ही प्रार्थना कर चुकी हूँ, कि आपकी सेवा के बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकती। मैंने,

जिन कष्टों को नहीं सहा है, उन कष्टों को सहन करने में आप कब अभ्यस्त हैं, जो आप उन्हें सह लेंगे और मैं न सह सकूँगी ? यदि आप उन्हें सहन करने में समर्थ होंगे, तो मैं क्यों असमर्थ रहूँगी ? रहा मेरे खाने-पीने का प्रश्न, किन्तु यह प्रश्न तो आपके लिये भी है। अतः जिस प्रकार आप भूखे रहेंगे, उसी प्रकार मैं भी रहूँगी। बल्कि आपके भोजन कर लेने पर भी, मैं बिना खाये रह कर आपकी सेवा कर सकती हूँ। इतना ही नहीं, वन-वन भटककर, बिना नींद लिये, आपकी सेवा कर सकती हूँ। प्रभो ! ऋण की चिन्ता आप ही को नहीं है, मुझे भी उसकी चिन्ता है। क्योंकि उस ऋण में, आधी रक़म की ऋणी मैं हूँ। सुख के समय और लाभ में तो पत्नी पति के साथ रहे, और दुःख तथा हानि के समय पति से पृथक् रहे यह मनुष्योचित कार्य नहीं है। किसी कवि ने कहा है:—

प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मजरी ।
पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जितानि रचयस्तानातनोरुत्सवान् ॥
तस्मिन्नद्य रसाल शाखिनिदशा दैवात् कृशामंचति ।
त्व चेन्मुंचासि चंचरीक विनयं नीचस्त्वदन्योऽस्तिकः ॥

अर्थात्-हे भौंरे ! वसन्त के आते ही जब आम में मंजरियाँ खिल उठीं, तब तो तूने उसके चारों ओर मंजु-मंजु गुंजार करते हुए, खूब मजा लिया। अब, दैववशात् आम के वृक्ष के कृश हो जाने—पुष्प-विहीन हो जाने—पर यदि तू उससे प्रेम न रखेगा, तो तुझसे बढ़कर नीच कौन होगा ?

स्वामी, जब भौंरा भी ऐसा करने पर नीच कहलाता है, तब मनुष्य और विशेषतः पत्नी का, ऐसा व्यवहार क्योंकर उचित कहा जा सकता है ? नाथ, मैं क्षत्रिय-कन्या हूँ, वीरपत्नी हूँ और वीर-माता हूँ। कष्टों के भय से, मैं आपकी सेवा का त्याग कदापि नहीं कर सकती। प्राणवल्लभ ! क्षत्रिय लोग देना जानते हैं, याचना करना नहीं जानते। याचना करना क्षत्रियोचित कार्य नहीं है। फिर आप मेरे रहने के लिये, विश्वामित्र से भीख माँगें, यह सूर्य-वंशी राजा और ससागर-पृथ्वी-दाता के लिये तो और भी विशेष-कलङ्क की बात है। आप, मेरे लिये वंश को दाग लगावें, यह नितान्त अनुचित है। इसलिये, कृपा करके आप ऐसी निष्ठुर आज्ञा न देकर, इस दासी को सेवा में साथ ही रखिये। यह सेविका, बिना आपकी सेवा के अपना जीवन नहीं रख सकती, न पति-वियोग की अपेक्षा, मृत्यु को बुरी ही समझती है।

हरिश्चन्द्र—प्रिये, कहाँ तो तुमने बिना सोने की पूँछवाला मृगशिशु लाये, मुझे अपने महल में आने से भी रोक दिया था और कहाँ आज इस प्रकार साथ चलने को कह रही हो ?

तारा—नाथ, यह बात तो मैं भूल ही गई थी। आपने खूब याद दिलाई। आप, सोने की पूँछवाला मृगशिशु लेकर ही आज पधारे हैं, इससे मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। क्या, राज्य का दान करना कोई साधारण कार्य था ? आपने, इस सोने की पूँछवाले मृगशिशु के समान असम्भव-कार्य को सम्भव कर दिखाया, फिर अब मेरी प्रतिज्ञा, अपूर्ण क्यों कर कहला सकती है ? प्रभो ! मैंने आपके साथ जो निठुरता का व्यवहार किया था, वह इसी अभिप्राय से, कि आप असंभव-कार्य को भी संभव कर दिखावें।

मेरी, यह अभिलाषा पूर्ण हुई। अब, मैं आपसे इस निठुर-व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करती हूँ।

हरिश्चन्द्र—तारा ! आज तुमको समझ सका, कि तुम कौन हो, मेरे प्रति तुम्हारे हृदय में क्या भाव हैं, और मेरे लाभ के लिये तुम अपने स्वार्थ को किस प्रकार ठुकरा सकती हो। कोई दूसरी स्त्री, तुम्हारी समता करने के लिये, युवावस्था में पति-सुख छोड़ने और इस प्रकार त्याग दिखाने में कदापि, समर्थ नहीं हो सकती। यद्यपि, मैंने अपना राज्य दान कर दिया है, तथापि उसके फल-स्वरूप तुम मुझे प्राप्त हुई हो। तुम, मेरे लिये अमूल्य हो, मेरी दृष्टि में संसार की और कोई वस्तु, तुम्हारे मूल्य के बराबर नहीं है। सांसारिक लोगों की यह प्रथा है, कि विदेश-गमन के समय मूल्यवान-पदार्थ को साथ न ले जाकर, किसी स्थान पर सुरक्षित रख देते हैं। इसी के अनुसार, मैं भी तुम्हें तुम्हारे पिता के यहाँ सुरक्षित रखने में अपना लाभ देखता हूँ।

तारा—स्वामी, आप और सब कुछ कहिये, परन्तु मुझे आपकी सेवा से दूर रहने को कदापि न कहिये। सुख के समय स्त्री चाहे पति से दूर रहे, परन्तु दुःख के समय, जो स्त्री सुख के लिये पति का साथ छोड़ देती है, वह स्त्री नहीं वरन् स्त्री-जाति का कलङ्क है। यदि आपको मेरी प्रशंसा करके, फिर इस प्रकार अपमानित करना है, तारा के नाम की गणना भी ऐसी कलङ्किनी-स्त्रियों में ही करानी है, तब तो जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिये। अन्यथा, इस दासी को साथ रखकर देखिये, कि यह आपकी कैसी सेवा करती है। उस समय आपको यह भी परीक्षा हो जायगी, कि यह आपकी अर्द्धाङ्गिनी कहलाने के योग्य है,

या नहीं। प्रभो! आपने जो युक्ति दी है उसके अनुसार भी विपत्ति के समय मूल्यवान-पदार्थ को समय-असमय के लिये साथ रखा जाता है, छोड़ा नहीं जाता। मूल्यवान-पदार्थ भी, विपत्ति की सहायता के लिए होते हैं, उनको सुरक्षित रखकर विपत्ति सही जाय, यह नीति-विरुद्ध सिद्धान्त है। नाथ! इस दुःखिनी को वियोग का दुःख असह्य है और वह भी कष्ट के समय। इस दासी की शोभा तो आप ही के साथ है। अबतक, राज्य-सुख भोगने में यह सेविका जिस प्रकार आपकी सहयोगिनी रही है उसी प्रकार कष्ट भोगने में भी सहयोगिनी रहेगी। पति-पत्नी सम्बन्ध ही, सहयोग के लिये होता है। अतः मुझे, इस समय आपका सहयोग करने से वंचित न कीजिये। मैं, अपने कारण से आपको किसी प्रकार भी कष्ट न होने दूँगी, बल्कि जो कष्ट होंगे, उनमें से आधे मैं बँटा लूँगी। जिस प्रकार, ऊदवत्ती की परीक्षा उसके जलने पर होती है, वैसे ही स्त्री की परीक्षा कष्ट में होती है। सुख के समय तो, स्त्री का पति-भक्ता होना कोई विशेष बात नहीं है। उसकी पतिभक्ति की परीक्षा, पति के संकट-काल में ही होती है। इसलिये, आप दया करके मुझे इस कसौटी के स्वर्ण सुयोग से, दूर न कीजिये। मैं मेरे लिये आपको कोई चिन्ता न होने दूँगी। मैं स्वयं ही, कष्ट के समय स्वावलम्बन ग्रहण करूँगी। इतने पर भी, यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे, तो मेरे लिये, मृत्यु का आलिङ्गन अनिवार्यतः आवश्यक हो जायगा।

हरिश्चन्द्र, मन-ही-मन तारा की प्रशंसा और अपने भाग्य की सराहना करते हुए, कहने लगे—एक तो वे स्त्रियें हैं,

जो दुःख के समय पति से पृथक् सुख से रहने में प्रसन्न होती हैं, और एक तारा है, जिसने सुख के समय तो मुझे अपने से दूर रखा, परन्तु दुःख के समय वह मेरे से दूर नहीं रहना चाहती। किसी दूसरी स्त्री से, यदि ऐसे समय कहा जाता, कि तुम दुःख में साथ न रहो पर सुख में रहो, तो वह प्रसन्न होकर कहती, कि अच्छा हुआ, जो मुझे इस दुःख से छुटकारा मिला। परन्तु धन्य है तारा को, जो मेरे इतना समझाने-बुझाने पर भी, इस आपत्तिकाल में मेरे साथ ही चलना चाहती है।

राजा ने जब देखा, कि तारा किसी प्रकार भी मेरा साथ न छोड़ेगी, तब उनको और कुछ समझाना अनावश्यक समझा। उन्होंने कहा—तारा, यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो देर न करो, शीघ्र तैयार हो जाओ। लेकिन इस बात का ध्यान रखो, कि साथ में एक कौड़ी भी लेने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि वस्त्र भी इतने साधारण हों, कि जिनसे अधिक-साधारण हों ही नहीं। और वे भी इतने ही हों, जितने के बिना काम न चले। रोहित के शरीर पर भी कोई मूल्यवान वस्त्राभूषण न रहे, उसके वस्त्र भी वैसे ही साधारण हों, जैसे साधारण मैंने बतलाए हैं।



प्रजा और विश्वामित्र



जो राजा, प्रजा का पुत्रवत् पालन करता है, उसके दुःख में दुःखी और उसके सुख में सुखी होता है, जिसके कार्य न्याय और धर्म के विरुद्ध नहीं होते, उस राजा को प्रजा भी अपने पितृवत् समझती है और ऐसे राजा के दुःख से, वह भी दुःखी, तथा सुख से सुखी होती है। आवश्यकता पड़ने पर, ऐसे राजा के लिये प्रजा, अपना तन, धन और प्राण तक समर्पण करने में सौभाग्य मानती है। सारांश यह, कि जिस राजा को प्रजा प्रिय है, उसकी प्रजा को वह भी प्रिय है। उसके विरुद्ध, जो राजा प्रजा को धन-शोषण द्वारा कष्ट में डालता है, उनके सुख और अधिकारों की उपेक्षा करता है, केवल अपने ही आनन्द मे आनन्द मानता है, उसकी प्रजा भी, राजा के प्रति अच्छे भाव नहीं रखती। वह, हृदय से राजा को कोसा करती है, तथा ऐसे राजा से पीछा छूटने को मनाया करती है। इससे सिद्ध है, कि राजा जैसी चाहे, अपनी प्रजा को वैसी ही बना सकता है। चाहे वह अपने अनुकूल बनावे, या प्रतिकूल।

विश्वामित्र से रुष्ट हो, सभासदो के सभा छोड़कर आते

ही, सारे नगर में यह संवाद बिजली की तरह फैल गया, कि आज, राजा ने राज्य-वैभव सहितससागर-पृथ्वी का दान विश्वामित्र को दे दिया और विश्वामित्र ने, उन्हें नगर छोड़ देने की आज्ञा दी है। महाराजा हरिश्चन्द्र, कुछ ही समय में इस नगर को उसी तरह सूना करके जाने वाले हैं, जैसे सूआ पींजरे को छोड़कर उड़ जाता है। इस भीषण-संवाद ने, सारे नगर-निवासियों में खलबली मचादी। प्रजा, हरिश्चन्द्र के विरह से होने वाले दुःख का अनुमान कर, और उनके न्याय-राज्य का स्मरण कर, वैसी ही अधीर हो उठी, जैसे जल से निकाल देने पर मछली। लोग, जहाँ-तहाँ झुण्ड के झुण्ड एकत्रित हो, इसी विषय की चर्चा करते हैं, कि राजा ने तो इस राज्यरूपी परतन्त्रता से अपनेको स्वतन्त्र कर लिया, परन्तु हमारी क्या दशा होगी। उस विश्वामित्र को धिक्कार है, जिसे ऋषि होकर राज्य-सुख का लोभ हुआ! उस निर्दयी को, राजा से राज्य लेकर, उनपर एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋण लादते, लज्जा भी नहीं आई। उस ऋषि से तो, हम गृहस्थी ही अच्छे हैं, जो छल द्वारा किसी की सम्पत्ति का हरण तो नहीं करते। उस पापी पर वज्र भी नहीं गिरा! राजा से ऐसा व्यवहार करते समय उसका हृदय क्यों नहीं फट गया, और जिस जीभ से उसने, राजा से राज्य माँगकर उन्हें दक्षिणा के ऋणजाल में फाँस लिया, तथा नगर छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी, वह टुकड़े-टुकड़े क्यों न होगई!

इस प्रकार, उस समय विश्वामित्र के लिये, जिसके मुँह में जो आया, वह वही कहने लगा। प्रजा को विकल और विश्वामित्र के प्रति सरोष देख प्रजा में के कुछ बुद्धिमान लोगों

ने कहा— यों विश्वामित्र पर क्रोध करके उन्हें दुर्वाक्य कहने से न तो अपना ही कुछ लाभ है, न राजा का ही। राजा राज्य-दान करके अपना कर्त्तव्य पाला है। यदि अपनी दृष्टि में राजा निर्दोष हैं, तो कोई ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे राजा को कुछ सुख मिले। हमारी समझ से तो, इस समय विश्वामित्र के पास चलकर, उनसे इस विषय में बात-चीत करनी उचित है। यदि वे, राजा पर जो ऋण है, वह हम से लेकर उन्हें ऋणमुक्त कर दें, तथा यदि और कुछ चाहे, तो और भी कुछ लेकर राजा को उनकी इच्छानुसार स्थान पर रहने की स्वतन्त्रता दे दें, तो इससे राजा का भी कुछ लाभ हो और अपनी सहानुभूति का भी परिचय मिले।

बुद्धिमानों की यह बात, सबको पसन्द आई। प्रजा में से, कतिपय मुख्य-मुख्य लोगों का एक डेपुटेशन बनाकर उसे विश्वामित्र के पास भेजा गया। इस डेपुटेशन के पीछे-पीछे प्रजा भी चली। प्रजा के इस झुण्ड में से कोई कहता था, कि मैं राजा के लिये इतना धन दे सकता हूँ, कोई कहता था, मैं इतना दे सकता हूँ और कोई कहता था, कि मैं अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपने आपको भी राजा के ऊपर न्यौछावर करने को तैयार हूँ। अस्तु।

विश्वामित्र, चिन्तित-भाव से बैठे हुए विचार रहे थे, कि हाय! मैं क्या करने आया था और क्या हो गया। मैंने विचारा था कि मैं हरिश्चन्द्र का मान-मर्दन करूँगा, उसको अपराध स्वीकार कराकर दण्ड दूँगा और इस प्रकार अपने तप-बल का प्रभाव उसपर प्रकट करके, भविष्य में किसी ऋषि की और विशेषतः मेरी, अवज्ञा न करने की प्रतिज्ञा कराऊँगा। परन्तु मैंने

अपने ही हाथों से अपना मान-मर्दन कर डाला, अपने ही मुख से अपने आपके लिये दण्ड माँग लिया और अपने आप ही हरिश्चन्द्र के सत्य से प्रभावित हो गया। एक मैं हूँ, जो वृक्षों की छाया में रहने वाला, भिक्षान्न से निर्वाह करने वाला होकर, आज चक्रवर्ती-राजा बनने जा रहा हूँ, और एक ससागर-पृथ्वी के स्वामी महाराजा हरिश्चन्द्र हैं, जिन्होंने प्रसन्नता के साथ अपना सर्वस्व मुझे देकर, ऊपर से ऋण लाद लिया और अब वनवासी के वेश में काशी जा रहे हैं। हम दोनों में विजयी कौन हुआ, मैं या हरिश्चन्द्र ? एक तो, इस राज्य रूपी जेल से छूटकर स्वच्छन्द तथा स्वतन्त्र हो गया और दूसरा अपनी स्वच्छन्दता तथा स्वाधीनता को क्रोध-सागर में डुबा इस राज्य-रूपी जेल में स्वयं ही आकर बन्दी हो गया। तपबल और सत्य-बल के संग्राम में किसको पराजय मिली ? हरिश्चन्द्र ! मेरा तप-बल तुम्हारे सत्यबल से परास्त हो गया; परन्तु मैं सहज में ही अपने तपबल को कलंकित और तुम्हारे सत्यबल को प्रशंसित न होने दूँगा। मैं, अन्त तक अपनेको कलंक से बचाने का उपाय करूँगा। क्रोध ने मेरा सर्वनाश कर दिया है, मुझे त्यागी से भोगी बना दिया है, मैं राजर्षि ही नहीं, ब्रह्मर्षि भी हो जाऊँ तो क्या, परन्तु मैं इस दुष्ट क्रोध पर विजय नहीं पा सका हूँ। परन्तु इस समय इस तरह पश्चात्ताप करने से लाभ के बदले हानि ही अधिक है। यदि मैं इसी समय पश्चात्ताप करूँगा और हरिश्चन्द्र को उसका राज्य लौटा दूँगा तो संसार में मेरी निन्दा होगी। सब लोग, हरिश्चन्द्र की प्रशंसा और मेरा उपहास करेंगे, तथा मुझे मार्ग चलना भी कठिन हो जायगा।

विश्वामित्र, इसी विचार-सागर में निमग्न थे, उसी समय सेवक ने, प्रजा के डेपुटेशन के आने की सूचना दी। विश्वामित्र समझ गये, कि ये लोग हरिश्चन्द्र के ही विषय में कुछ कहने आये होंगे इन्हें हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यवादी राजा के राज्य-त्याग का दुःख होगा, उसे ही सुनाने आये होंगे। ये लोग, निश्चित ही प्रशंसा के पात्र हैं, परन्तु इस समय, उनका मुझ मूर्तिमान-क्रूरता से, किसी बात की आशा करना ही व्यर्थ है। लेकिन उनकी बात सुननी उचित है, यह सोचकर उन्होंने डेपुटेशन को आने की आज्ञा दी।

प्रतिष्ठित प्रजाजनों के सामने आने और उनके प्रणाम कर चुकने पर विश्वामित्र ने कर्कश-स्वर में पूछा—क्या है?

डेपुटेशन के नेता ने उत्तर दिया—हम, आपसे कुछ प्रार्थना करने आये हैं।

विश्वामित्र—कहो, क्या कहना है?

नेता—हमने सुना है, कि महाराजा हरिश्चन्द्र ने, आपको राज्य दान में दे दिया है, और आज से आप हमारे राजा हुए हैं।

विश्वामित्र—हाँ।

नेता—राजा का कर्त्तव्य है, कि प्रजा के दुःखों को ध्यानपूर्वक सुनकर, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे।

विश्वामित्र—तुम अपना दुःख तो कहो।

नेता—जिसने अपना राज्य-वैभव एक क्षण में दान कर दिया, अपनी स्त्री या पुत्र की किंचित भी चिन्ता न की, उस महाउदार के सिर पर हमने सुना है, आपने एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋण लादकर, उसे यहाँ से चले जाने की आज्ञा दी है?

विश्वामित्र—तुम लोगो को बात का अच्छी तरह पता नहीं है। हरिश्चन्द्र ने, मेरे आश्रम की वन्दिनी अप्सराओं को छोड़ दिया। मैं, उसके इस कार्य का उपालम्भ देने आया, और मैंने उससे केवल यही कहा, कि तू अपना अपराध स्वीकार करले; परन्तु वह तो ऐसा हठी निकला, कि अपराध स्वीकार करना तो दूर रहा, उल्टे कहनेलगा, कि मैंने उन्हें दया करके राज-धर्मानुसार छोड़ा है। मैंने कहा—राज-धर्म तो दान देना भी है, तू अपना राज्य दान कर सकता है ? बस, इसी पर उसने अपना राज्य मुझे दान कर दिया। अब तुम्हीं बताओ, कि जो राजा ऋपियो के आश्रम की वन्दिनियो को छोड़ दे, हठ मे पड़कर अपना अपराध भी स्वीकार न करे, वलिक वात ही वात में अपना राज्य दूसरे को सौंप दे, वह राज्य करने योग्य कैसे कहा जा सकता है ?

नेता—उन्होने आपको राज्य दिया है, तो आप प्रसन्नता-पूर्वक राज्य कीजिये, हमें राज्य के विपय मे कुछ भी नहीं कहना है। हमारी प्रार्थना तो यह है, कि आपने उनके ऊपर जो ऋण लाद रखा है, वह हमसे ले लीजिये। वल्कि यदि अधिक लेने की इच्छा हो, तो अधिक ले लीजिये, परन्तु उन्हे यह स्वतन्त्रता दे-दीजिये, कि उनकी जहाँ इच्छा हो, वहाँ रहे। उन्हे यहाँ से जाने के लिये वाध्य न कीजिये। हरिश्चन्द्र, हम लोगों को पिता से अधिक प्रिय हैं। अतः उनके विपय में, हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार कीजिये। यदि आप, हरिश्चन्द्र को यह स्वतन्त्रता देने के बदले में हमारा सर्वस्व भी लेना चाहे, तो हम इसके लिये भी तैयार हैं। साथ ही, आपको हम यह भी विश्वास दिलाते हैं, कि वे आपके राज्य-कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेंगे और

राजमहल से दूर हम लोगों के घर में. शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे।

विश्वामित्र—तुम लोग यह बात मुझसे कहते हो, तो हरिश्चन्द से ही क्यों नहीं कहते, कि वह अपना अपराध स्वीकार कर ले ? मुझे, राज्य की आवश्यकता नहीं है। उसके हठ छोड़कर अपराध स्वीकार करते ही, मैं उसका राज्य उसीको लौटा दूँगा। फिर वह आनन्द से यहीं रहे।

सेना—हरिश्चन्द्र ने जब कोई अपराध किया ही नहीं है, तब हम उनसे अपराध स्वीकार करने के लिये कैसे कह सकते हैं ?

विश्वामित्र—तुम लोग भी, हरिश्चन्द्र की ही बुद्धि के मालूम होते हो। हरिश्चन्द्र ने अपराध किया है, फिर भी तुम कहते हो, किया ही नहीं !

सेना—खैर, किया होगा; हम, इस बात की मीमांसा नहीं करना चाहते। यदि उन्होंने अपराध किया है और उसे स्वीकार नहीं करते हैं, तो इसका फल वे भोगेंगे। परन्तु आपको उनपर का क्रोध हमसे लेकर, उन्हें यहीं रहने की आज्ञा देने में क्या आपत्ति है ? हम तो आपसे यही प्रार्थना करते हैं, कि आपको जब उन्हें कष्ट देना अभीष्ट नहीं है, तो उन्हें ऋणमुक्त करके यहाँ से चले जाने की आज्ञा लौटा लीजिये।

विश्वामित्र—मैंने तुम लोगों से जो कुछ कहा है, उसे तो समझते नहीं और अपनी ही कहे जाते हो। तुम हरिश्चन्द्र से कहो, कि वह अपना अपराध स्वीकार करले, बस, फैसला हुआ। फिर, न तो उसे कहीं जाने की ही जरूरत है, न राज्य छोड़ने की ही।

नेता—जब उन्हें राज्य का लोभ होगा, तब वे आप ही अपने अपराध को स्वीकार कर ेंगे। यदि अपराध स्वीकार न करेंगे, तो राज्य न पावेंगे। उन्हे, ऋणमुक्त करके, यहाँ रहने देने की बात से और अपराध स्वीकार करने से तो कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर ऐसा करने में आपको क्या आपत्ति है ?

विश्वामित्र इसका क्या उत्तर देते ? अतः उन्हें अन्याय का ही आश्रय लेना पड़ा और डेपुटेशन की बात को सत्य जानते हुए भी, उन्हें यही कहना पड़ा कि तुम लोग भी दुराग्रही हो, अतः यहाँ से निकल जाओ !

विश्वामित्र ने, उसी समय सेवकों को आज्ञा दी, जिन्होंने इन सभ्य-गृहस्थों को निकाल दिया। जाते समय, इन लोगों ने विश्वामित्र के प्रति घृणा प्रकट करते हुए कहा—दुराग्रही हम नहीं, बल्कि आप हैं, जो अपने राज्य-दाता को, इस प्रकार कष्ट में डालने का प्रयत्न करते और उसे झूठ अपराध स्वीकार करने के लिये विवश करते हैं।

डेपुटेशन की सफलता की आशा में नगर के शेष लोग, राज-सभा के समीप ही खड़े थे। डेपुटेशन के बाहर निकलते ही, सब लोग उसके पास दौड़ गये, परन्तु उसका उत्तर सुनकर, सब की आशा, निराशा में परिणत हो गई। प्रजा कहने लगी, कि आप लोगों का अपमान भी हुआ और सफलता भी न मिली।

नेता ने कहा—कार्य करना अपने अधिकार की बात थी, फल मिलना अपने अधिकार से परे की बात है। रही अपमान की बात, सो जिस विश्वामित्र ने अपने राज्य-दाता हरिश्चन्द्र को निकल जाने की आज्ञा दे दी, वह यदि हमें निकाल दे, तो इसमें

आश्चर्य की बात ही क्या है? आपको और हमें, इसके लिए किंचित भी दुःख न मानना चाहिये।

डेपुटेशन के असफल होने से प्रजा को बहुत दुःख हुआ। वह उसी प्रकार सिर पर हाथ रख-रखकर दुःख करने लगी, जैसे मधु के नष्ट होजाने पर मधुमक्खी। विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के स्वभावो एवं न्यायकारिता आदि का, तुलनात्मकविचार प्रजा के हृदय को विदीर्ण किये डालता था। उधर, स्त्रियों में भी घर-घर यही चर्चा हो रही है, और वे तारा के स्वभाव आदि का स्मरण कर, दुःख कर रही हैं। सब स्त्री-पुरुष, राजा के महल के सम्मुख आकर एकत्रित होगये और उनके महल से बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे।

१४

दीन-वेश में नृप-परिवार।

यह संसार, एक चक्र के समान परिवर्तनशील है। जो आज बालक हैं, वे ही कल बूढ़े दीख पड़ेंगे। जो आज बूढ़े हैं, वेही कल बालक के रूप में होजायँगे। जो आज सुखी है, वही कल दुःखी हो सकता है, और जो दुःखी है, वह सुखी हो सकता है। अस्तु।

जो, कुछ समय पहले एक विशाल-राज्य के स्वामी थे, अलंकारादि से जिनका शरीर सजा रहता था, वे ही महाराजा हरिश्चन्द्र और उसी राज्य की साम्राज्ञो महारानी तारा, इस समय दीन से भी दीन हैं। तथा वे विश्वामित्र, जो थोड़ी ही देर पहले वनवासी थे, भिक्षा ही जिनका आधार था, इस समय एक विशाल-राज्य के सम्राट हो गये हैं। संसार की, यह परिवर्तनावस्था होते हुए भी, जो अपने सुख-वैभव का घमण्ड करते हैं, या जो अपने दुःख से कातर होते हैं, उन्हें अज्ञानी के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिये ज्ञानी लोग कहते हैं, कि न तो सुख में हर्षित होओ और न दुःख में घबराओ।

हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित; अपने राजसी-वेश को दीनों के वेश में परिणत कर, महल से बाहर निकले। हरिश्चन्द्र के जिस मस्तक पर स्वर्ण-मुकुट शोभा पाया करता था, उसी मस्तक पर

आज केशों का मुकुट है। जिस शरीर पर बहु-मूल्य वस्त्राभूषण रहते थे, उस शरीर पर केवल एक पुराना वस्त्र है, जिसमें से आधा पहिने और आधे से शरीर का ऊपरी-भाग ढाँके हुए हैं। रानी और रोहित भी इसी वेश में हैं! तीनों के शरीर पर, आभूषण की जगह उनके चिन्ह मात्र अवशेष हैं। इतना होने पर भी, इनके चेहरे से असाधारण तेज छिटक रहा है।

मनुष्य की स्वभाविक-सुन्दरता या कुरूपता, किसी समय और किसी वेश में भी नहीं छिपती। उसे छिपाने के उपाय भी किये जायँ, तब भी वह नहीं छिपती। तपस्वी का शरीर यद्यपि दुर्बल होता है, वस्त्र भी किसी विशेष प्रकार के नहीं रहते, फिर भी उसके शरीर के तेज और सुन्दरता की समता, अनेक वस्त्रालंकार-धारी दुराचारी का शरीर कदापि नहीं कर सकता। इसी प्रकार इस समय हरिश्चन्द्र-तारा और बालक रोहित उस वेश में हैं, जो दीनों का होता है, लेकिन, उनका तेज इस वेश में भी शोभा दे रहा है।

हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित, तीनों राजमहल से निकलकर, विश्वामित्र के समीप आये। विश्वामित्र, इन लोगों को देखकर, आश्चर्य-चकित हो विचारने लगे कि क्या यह वही राजा है, जो अवध के मणि-मुक्तामय राज्य-सिंहासन पर बैठता था, जिसके सिर पर मुकुट शोभा पाता था, जिसके ऊपर चँवर दुला करते थे और छत्र छाया किये रहता था? क्या यह वही रानी है, जो बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत रहती थी, अनेकों दासियें जिसकी सेवा में उपस्थित रहती थीं? क्या यह वही महारानी-तारा है, जो महलों में उसी प्रकार शोभा देती थी, जैसे आकाश

में चन्द्रमा ? क्या यह वही बालक है, जिसके लिये संसार के बहुमूल्य-पदार्थ तुच्छ माने जाते थे, जो अवध का भावी-शासक कहलाता था और प्रजा, जिससे, भविष्य की अनेकानेक आशाएँ करती थी ? वही राजा, वही रानी और वही बालक, आज इस वेश में हैं, फिर भी इनके चेहरे पर विषाद का चिन्ह मात्र नहीं है ! राजा ने तो मुझे सब दान कर दिया, इसलिये उसका ऐसा करना तो कोई विशेषता नहीं है, परन्तु रानी तो उससे भी बढ़-कर निकली। स्वभावतः आभूषण-प्रिय स्त्रियों में से एक यह है, जिसने सब आभूषणों को त्याग दिया। इस वेश में, इसके ललाट की सुहाग-सूचक सिन्दूर की बिन्दी कैसी शोभा देरही है, जैसे किसी स्वर्णाभूषण पर रत्न जड़ा हुआ हो। मैं विचारता था, कि रानी स्त्री-स्वभावानुसार, सुख-त्याग के दुःख से भयभीत हो, पति के इस कार्य का विरोध करेगी, परन्तु धन्य है इसे, जो इस दशा में भी पति का सहयोग करने जा रही है।

राजा, रानी और रोहित ने, विश्वामित्र को प्रणाम करके कहा—महाराज, अब हमें आज्ञा दीजिये। मैं, आज अपनी प्राणों के समान प्रिय प्रजा को, आपके हाथों में अर्पण करके जारहा हूँ। आज से प्रजा के पिता, प्रभु, पालक तथा रक्षक आप ही हैं। मैं आशा करता हूँ, कि आप इसपर उसी प्रकार प्रेमपूर्वक शासन करेंगे जैसे पिता, पुत्र पर शासन करता है।

विश्वामित्र ने, राजा के कथन को सुन तो लिया, परन्तु ग्लानि के मारे सिर ऊपर न उठा सके। पहले वे विचारते थे, कि जाते समय मैं राजा को यह कहकर अपमानित करूँगा, कि तुम्हारे, तुम्हारी स्त्री या पुत्र के शरीर पर यह वस्तु है, जिसे रखने का

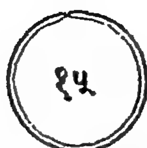
उन्हें अधिकार नहीं है। लेकिन राजा ने, अपने, तारा के और बालक के शरीर पर, लज्जा की रक्षा के लिए, केवल एक-एक वस्त्र रखा था और वह भी पुराना। इसके सिवा उनके पास कोई भी ऐसी वस्तु न थी, जिसके लिए विश्वामित्र को कुछ कहने का अवसर मिले। यहाँ तक, कि पैरों में जूते भी नहीं थे।

विश्वामित्र को सिर नीचा किये देख, और उनके ऐसा करने के कारण को समझ, बिना उनके उत्तर की प्रतीक्षा किये ही महाराजा हरिश्चन्द्र, रानी तथा बालक को लेकर चल दिये। बाहर आते ही, प्रजा उनके साथ हो ली। आगे-आगे राजा, उनके पीछे गोद में बालक को लिये हुए रानी, अपने पूर्वजों की राजधानी अयोध्या से बाहर निकले। साथ के स्त्री-पुरुष, इनके वियोग के दुःख से विलाप करते जाते थे, परन्तु राजा और रानी के मुख पर, दुःख की रेखा तक न थी। हरिश्चन्द्र और तारा ने, सब स्त्री-पुरुषों को लौट जाने के लिये कहा, परन्तु उस विलाप के समय में इनके इस कथन को कौन सुनता था? सब लोग, नगर से बाहर भी साथ ही साथ आये। राजा, इन लोगों को लौटते न देख, चिन्तित हुए, कि यदि ये लोग मेरे साथ आये, तो बड़ा अनर्थ होगा। विश्वामित्र, इसके लिए मुझे ही अपराधी ठहराकर कहेंगे, कि मेरे राज्य को निर्जन बनाने का उपाय कर रहा है। अनेक प्रकार से कहने-सुनने पर भी जब ये लोग न लौटे, तब राजा और रानी नगर के बाहर एक स्थान पर ठहर गये। नगर के सब पुरुष, हरिश्चन्द्र को और नगर की सब स्त्रियाँ तारा को, घेरकर खड़ी हो गईं। पुरुष तो राजा से कह रहे हैं, कि आप जहाँ रहिये, वहीं से न जाइये। विश्वामित्र के राज्य से, हमलोगों को कष्ट होगा।

आपके ऊपर का ऋण हम दिये देते हैं। आप, राज्य-कार्य न करके, यदि शान्ति से हमलोगों के यहाँ बैठे भी रहेंगे, तब भी अन्याय-उल्लूक आपके प्रताप-तेज के सामने छिपे ही रहेंगे। यदि इसपर भी आप जावें ही, तो हमलोग भी आपके साथ चलेंगे। हमारे लिये अयोध्या वहीं है, जहाँ आप हों। आपके बिना, अयोध्या भी हमें नर्क के समान दुःखदायी होगी।

हरिश्चन्द्र के पास तो पुरुषवृन्द, इस प्रकार विनय कर रहा है, और उधर राजपुरोहित, प्रधान तथा नगर के अन्य प्रतिष्ठित-पुरुषों की स्त्रियें, तारा से कह रही हैं, कि आपने तो राज्य नहीं दिया है, फिर आप क्यों जाती हैं ? राजा ने राज्य दिया है और उन्हें विश्वामित्र नहीं रहने देते, तो उनका जाना तो ठीक भी है, परन्तु आप क्यों जायँ ? आपके जाने की तैयारी देखकर हम-लोगों को बहुत दुःख हो रहा है, अतः हमारी प्रार्थना है, कि आप यहीं रहें। यदि विश्वामित्र, आपको राजमहल में न रहने देंगे, तो हम आपको अपने यहाँ रक्खेंगी, परन्तु आपका जाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। यदि आप न मानेंगी, तो हम भी आपके साथ-साथ चलेंगी।

राजा और रानी से, प्रत्येक स्त्री-पुरुष इसी प्रकार कह रहा है। प्रत्येक को, पृथक्-पृथक् कबतक समझाया जायगा, इस विचार से दोनों ने भाषण द्वारा ही, प्रजा को समझाना उचित समझा। राजा और रानी, एक-एक टीले पर खड़े हो गये। जिस टीले पर राजा खड़े थे, उसके चारों ओर पुरुष, और जिस पर रानी खड़ी थीं, उसके चारों ओर स्त्रियें खड़ी होकर उनके मुँह की तरफ़ देखने लगीं।



प्रजा को उपदेश

लोगों पर, उपदेश का प्रभाव, या तो भय से पड़ता है, या प्रेम से। भय-प्रदर्शन द्वारा जो उपदेश मनवाया जाता है, वह उपदेश तभी तक अपना प्रभाव रख सकता है, जबतक कि भय है। भय के नष्ट होने के साथ ही, उपदेश का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। लेकिन, जिस उपदेश का प्रभाव प्रेम से होता है, वह किसी समय भी नष्ट नहीं होता, वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है। उदाहरणार्थ एक वह राजा उपदेश दे, जो किसी शक्ति विशिष्ट से सम्पन्न है, और एक वह त्यागी दे, जिसमें राजा के समान कोई शक्ति नहीं है। इन दोनों में से, राजा का उपदेश तभी तक माना जावेगा, जबतक उसमें वह शक्ति है। उस शक्ति के न रहने पर, वह उपदेश भी न रहेगा। लेकिन, त्यागी यदि स्वयं भी न रहे, तब भी उसका उपदेश नष्ट न होगा। सारांश यह, कि इन दोनों प्रकार के उपदेशों में से, प्रेमपूर्वक दिया हुआ उपदेश उत्कृष्ट है। लेकिन, इस उपदेश के लिए यह आवश्यक है, कि उपदेशक स्वयं वैसा आचरण करके, आदर्श स्थापित करे। वह, त्याग दिखावे। जबतक वह स्वयं त्याग नहीं दिखलाता, केवल दूसरों

को ही उपदेश देता है, तबतक, उसके उपदेश का भी कोई प्रभाव नहीं होता।

वक्ता पर, जब श्रोताओं की अपूर्व श्रद्धा होती है, तभी श्रोता-लोग ध्यानपूर्वक वक्ता का उपदेश सुनते हैं। जहाँ, वक्ता के प्रति, लोगो के हृदय मे श्रद्धा का अभाव है, वहाँ वक्ता का वक्तव्य और श्रोता का श्रवण, दोनो ही निरर्थक जाते हैं। महराजा हरिश्चन्द्र पर, जनता की अपार श्रद्धा थी, अत: उनके वक्ता बनकर खड़े होनेपर, श्रद्धा से ओतप्रोत जनता, ध्यानपूर्वक अपने हितैषी महा-राजा का उपदेश सुनने लगी।

पुरुषों से घिरे हुए टीले पर खड़े होकर, महाराजा-हरिश्चन्द्र उनसे कहने लगे—

मेरे प्यारे भाइयो ! आप लोग मेरे साथ यहाँ तक आये, और मेरे वियोग से दुःखित हो रहे हैं, तथा मेरे साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, यह आप लोगो का अनुग्रह है। लेकिन, आप लोग इस बात पर विचार कीजिये, की मुझ से आपलोगों को इतना प्रेम होने का कारण क्या है ? भाइयो ! यह प्रेम मुझ से नहीं, किन्तु सत्य से है। जिस हरिश्चन्द्र के लिये आप इतना दुःख कर रहे हैं, आंसू बहा रहे हैं, यहाँ तक कि अपना घरबार छोड़ कर, जिसके साथ जाने को आपलोग तैयार हैं, वही हरिश्चन्द्र, यदि असत्याचारी होता, अपने स्वार्थ के लिये आप लोगो को दुःख में डालता, आपके अधिकारादि की अवहेलना करता, दुराचरण में पड़कर यही राज्य किसी वेश्या को दे देता, तो आप लोग मेरे जाने से ही प्रसन्न न होते, किन्तु स्वयं भी मेरे निकालने का उपाय करते। लेकिन, मैंने सत्याचरण किया है, अपने कर्त्तव्य का

पालन करते हुए, इस राज्य को दान में दिया है, इसीसे आलोगों की मेरे प्रति श्रद्धा है। ऐसी अवस्था में, आप लोगों का मुझ से यहीं रहने का आग्रह करना, उचित नहीं हैं। मेरे यहीं रहने से जो प्रतिज्ञा मैंने विश्वामित्र से की है, वह भङ्ग होगी और प्रतिज्ञा-भंग ही असत्याचरण है। मैं, अबतक आपका राजा रहा हूँ, मेरा इस प्रकार सत्यपालन में कायरता दिखाना, आपलोगों के लिये भी लज्जास्पद बात है।

अब, आप लोग साथ चलने का कहते हैं, परन्तु आप लोग ही विचारिये, कि आपलोगों के मेरे साथ चलने और नगर को जनशून्य बना देने से, सत्य कलङ्कित होगा, या उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी? विश्वामित्र ने मुझे केवल स्त्री-पुत्र को साथ लेजाने की आज्ञा दी है, आपलोगों को लेजाने की नहीं। मैंने भी, उनसे यही प्रतिज्ञा की है। फिर, आपके चलने का अर्थ यही हुआ, कि या तो मैंने विश्वामित्र को राज्य नहीं दिया, या उनसे जो प्रतिज्ञा की थी, वह भङ्ग की। मैं, आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ, कि आप लोग प्रसन्नतापूर्वक यहीं रहें और मेरी चिन्ता न करें। प्रेम, साथ-साथ चलने के बाह्य-आचरण से नहीं, बल्कि सत्यपालन के आन्तरिक-आचरण से किया जाना उचित है। यदि, आपलोगों का मुझपर प्रेम है, तो मैं आपसे यही कहता हूँ, कि जिस सत्य के लिए मैंने अपने पूर्वजों के समय से शासित राज्य को दान कर दिया, और अपनी राजधानी तथा आप लोगों को छोड़कर जारहा हूँ, उसी सत्य के पालन में तत्पर रहो। सत्य से, कभी पैर पीछे न हटाओ, न उसके पालन में होनेवाले कष्टों से भयभीत होओ।

बन्धुओ! आजतक मैं राजा रहा और आप लोगों पर शासन

करता रहा, परन्तु आज से विश्वामित्र राजा हुए हैं। अब, वेही शासन करेंगे। मैं आशा करता हूँ, कि आप लोग उन्हें भी वैसा ही सहयोग प्रदान करते रहेंगे, जैसा कि मुझे करते रहे हैं।

अब, आप लोग कहते हैं, कि हमें विश्वामित्र के शासन में दुःख होगा। लेकिन मित्रो! यह केवल आपके हृदय की दुर्बलता-मात्र है। आज तो मैं राज्य को दान में देकर जारहा हूँ, इसलिये आप लोग मुझ से ऐसा कह रहे हैं, किन्तु यदि मेरी मृत्यु होजाती, तो दूसरा शासक आप पर शासन करता या नहीं? वह शासक भी यदि आप लोगों पर अत्याचार करता, तो आप किससे कहते? भाइयो! दुःख केवल दुर्बल-आत्मा को हुआ करता है, सबल-आत्मा वाले मनुष्यों के तो, दुःख कभी समीप ही नहीं फटकता। आपलोग, सत्य के बल को संचय करके बलवान बनिये फिर किसी की क्या शक्ति है, जो आपको दुःख दे सके। राजा तथा प्रजा का तो ऐसा सम्बन्ध है, कि प्रजा पर अत्याचार करनेवाला राजा एक क्षण भी राज्यासन पर नहीं ठहर सकता। पहिले तो विश्वामित्र स्वयं ही बुद्धिमान हैं, इस समय वे क्रुद्ध होकर चाहे जो कुछ कहे, परन्तु वे नीतिज्ञ हैं, इसलिये प्रजापर कदापि अत्याचार न करेंगे। लेकिन सम्भव है, उन्होने कभी अत्याचार किया, तो आप भी सत्याग्रह को अपना अस्त्र बनाकर, उससे विश्वामित्र के अत्याचार का प्रतिकार करें। अत्याचार के भय से भागना, वीरों का काम नहीं, बल्कि कायरों का काम है। वीर लोग तो, सदा अत्याचार का प्रतिकार ही करते हैं। आप लोग, सूर्य-वंशी राजाओं की प्रजा हैं, अतः इस प्रकार कायर बनकर, उन्हें कलङ्कित करना, आपलोगों को शोभा नहीं देता।

प्रियवरो ! मेरा राज्य, मेरा देश, मेरी प्रजा और मेरी राजधानी, मैं और किसी समय इस आनन्द से नहीं छोड़ सकता था, जिस आनन्द से आज छोड़ रहा हूँ। और समय में, यदि कोई मुझसे छुड़ाना भी चाहता, तो मैं उस छुड़ानेवाले का प्रतिकार करता, उससे युद्ध करता और उस युद्ध मे मैं स्वयं ही आपलोगों से सहायता लेता। परन्तु मैं सत्यपालन के लिये उन सब चीजों को—जिन्हें मैं अन्त समय तक किसी दूसरे को न लेने देता—आज प्रसन्नतापूर्वक छोड़ रहा हूँ। कर्त्तव्य और सत्य के आगे, राज्य-वैभव-सुख तृण के समान हैं और वन-वन के महान्-कष्ट, राज्य-सुख की अपेक्षा अत्यधिक सुख-दाता हैं। जिस सत्य और कर्त्तव्य के लिए, मैं इन सब को छोड़ रहा हूँ, उस सत्य और कर्त्तव्य का, आप लोग भी पालन करें। उस समय आप भी जान जावेंगे, कि सत्य और कर्त्तव्य के आगे राज्य-वैभव कितना तुच्छ है।

अब, मैं आप लोगों से यही कहता हूँ, कि आप लोग सत्य-पालन में मेरी सहायता करिये, उसमें वाधा न पहुँचाइये। आप लोगों का, घर लौट जाना ही उचित है। मुझे, आज ही अवध की सीमा को छोड़ना है, और सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। आपलोगों को साथ लेकर, मैं कदापि नहीं जा सकता। और यदि नही जाऊँगा, तो प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होऊँगा, जो मेरे साथ ही आपके लिए भी कलंक की वात है। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग अब मेरे साथ, एक-क़दम भी न चलकर, अपने-अपने घर लौट जावेंगे। आपके भूतपूर्व राजा की, आपसे अन्तिम प्रार्थना यही है, कि आप आगे वढ़कर, मेरे सत्य को कलंकित न करें।

मैं अब आपको यही आशीर्वाद देता हूँ, और आप भी मुझे यही आशीर्वाद दीजिये, कि हमलोग सत्य-पालन में दृढ़ रहें।

हरिश्चन्द्र के इस भाषण को, लोग चुपचाप सुनते और आँखो से आँसू बहाते रहे। पशु-पत्ती और वृत्त भी, हरिश्चन्द्र के इस यथार्थ परन्तु करुणापूर्ण-भाषण को सुनकर, जड़वत् खड़े हो गये, तो सहृदय-मनुष्यों में यह शक्ति कब हो सकती थी, कि वे हरिश्चन्द्र के इस कथन का कुछ प्रतिवाद करें ! अस्तु।

दूसरी ओर, तारा की सखिये और अन्यान्य स्त्रियें, अपने नेत्रों के जल से तारा के चरण धोती हुई उनसे प्रार्थना कर रही हैं, कि आप न तो राज्य देने ही में साथ थीं, न दक्षिणा का मौखिक-ऋण लादने में ही, फिर आप क्यों जाती हैं ? उनके इस प्रकार प्रार्थना करने पर, तारा यों कहने लगीं:—

मेरी प्यारी माताओ, बहनो तथा पुत्रियो ! यद्यपि मैं, आज आप लोगों से एक अनिश्चित समय के लिए बिछुड़ रही हूँ, परन्तु यह सौभाग्य की बात है, कि मैं पति की सेवा के लिये जारही हूँ। मेरे साथ ही, आप लोगों के लिए भी यह प्रसन्नता की बात है, कि आप ही की जाति में से, तारा नाम की एक क्षुद्र-स्त्री, पति की सेवा के लिये अपने सब सुखों को छोड़ रही है। यद्यपि आप लोग पातिव्रत के नियमों से जानकार हैं, तथापि इस समय वियोग के दुःख में पड़कर आप उन्हे भूल रही हैं, अतः मुझे यहीं रहने के लिए कह रही हैं। लेकिन आप ही विचारिये, कि जब मैं उनकी अर्द्धाङ्गिनी हूँ, तो जो दान उन्होने दिया, क्या वही दान मैंने नहीं दिया है ? जो ऋण उनपर है, क्या वही ऋण मुझ पर नहीं है ? फिर वे तो कष्ट सहें और मैं कष्ट से बचने के लिए

यहीं रह जाऊँ, यह कैसे उचित है ? सुख के समय पति के साथ रहकर, दुःख के समय उनका साथ छोड़ देना, क्या पतिव्रता के लिये उचित है ? बहिनो ! आप लोग तो अपने धर्म पर स्थिर रहें अर्थात् अपने पति की सेवा करें, और मुझे पति की सेवा-त्याग का उपदेश दें, यह आप लोगों को शोभा नहीं देता। आप लोग मेरे लिये जो प्रेम दर्शा रही हैं, यह पतिसेवा का ही प्रताप है। यदि मैं पति-सेवा से विमुख होकर, आपके पास आती और कहती कि आप मुझे स्थान दें, तो सम्भवत ही नहीं बल्कि निश्चय ही, आप लोग मेरा तिरस्कार करके, मुझे पतित से पतित समझतीं और मुझे घृणा की दृष्टि से देखतीं। लेकिन, पति-सेवा के लिए मैं सब सुखों को छोड़कर उनके साथ जारही हूँ, इसीसे आप लोग मुझसे इस प्रकार रहने के लिए, आग्रह कर रही हैं। जिस पति सेवा का यह प्रताप है, उसे मैं कदापि नहीं छोड़ सकती और आपसे भी यही प्रार्थना करती हूँ, कि आप लोग यह अनुचित आग्रह न करें। स्त्री का धर्म, केवल पतिसेवा है। वस्त्राभूषण आदि, पतिसेवा के सन्मुख तुच्छ हैं।

बहिनो ! इस समय महाराजा का साथ छोड़ देने से, मैं तो कलंकिनी होऊँगी ही, परन्तु साथ ही सारा स्त्री-समाज भी कलंकित होगा। सब लोग, मेरे साथ ही, स्त्रीजाति-मात्र को धिक्कारेंगे और कहेंगे, कि स्त्रियें स्वार्थिनी और कपटी होती हैं। वे, तभी तक पति का साथ देती हैं, जबतक पति सुखी है—अर्थात् धन-वैभव-सम्पन्न है। धन के न रहते ही, और पति के ऊपर किसी प्रकार का कष्ट आते ही, वे पति को छोड़ देती हैं। मैं, अपने साथ ही सारे स्त्री-समाज को, केवल दुःखों के भय से, यह कलंक नहीं

लगने दे सकती। मैं, पति के साथ वन-वन भटक कर, जो कष्ट होंगे उन्हे सहती हुई, पति की सेवा करके संसार को यह दिखा देना चाहती हूँ, कि स्त्रियें कैसी विपम-अवस्था मे भी, पति की सेवा नहीं छोड़तीं। जो पुरुष, स्त्रियो को धूर्तिनी आदि समझकर उनका अपमान करते हैं। उन्हें भी मेरे चरित्र से मालूम होगा, कि स्त्रियें क्या हैं और उनका अपमान करके हम कितना अन्याय करते हैं।

वहिनो! आप लोगों का मुझपर जो प्रेम है, वह अवर्णनीय है। इस प्रेम का कारण, मेरी पतिसेवा ही है। इसलिये मेरा आपसे यही कहना है, कि आप लोग पति की सेवा में सदा रत रहे, इन वस्त्राभूषणादि की अपेक्षा पति से अधिक प्रेम रक्खें और अन्यान्य धार्मिक-कार्यों की अपेक्षा, पति सेवा को अधिक महत्व दें। स्त्री के लिये, पति-सेवा के समान दूसरा कोई नैतिक-धर्म नहीं है।

वहिनो! अव आप लोग मेरे साथ चलने के विचारों को त्यागकर मेरे प्रेम का परिचय, अपने पति की सेवा द्वारा दीजिये। जिन वहिनों के पति नहीं हैं, वे ईश्वर की सेवा करें और अपना सारा समय उसीके भजन में व्यतीत करें।

वहिनो! दिन ढलता जारहा है, इसलिये आप लोग मुझे आशीर्वाद देकर विदा कीजिये। मैं, आपसे केवल यही आशीर्वाद चाहती हूँ, कि किसी भी समय और किसी भी अवस्था में, मैं पति-सेवा को विस्मृत न करूँ। लेकिन, आप लोग इस बातको ध्यान में रक्खें, कि आशीर्वाद उन्हीं लोगों का फलदायक होता है, जो स्वयं भी उसके अनुसार कार्य करते हों।

तारा के इस भाषण ने, सब स्त्रियों को आश्चर्य-चकित कर

दिया। वे चित्रलिखित-सी रह गईं और अपने आपको धिक्कारने लगीं। कुछ स्त्रियें, तारा को आभूषण भेंट देने लगीं, परन्तु तारा ने उन्हें यह कहकर लेने से इनकार कर दिया, कि मेरे आभूषण मेरे पति हैं, जो मेरे साथ ही हैं। यदि उनकी अपेक्षा इन आभूषणों को मैं बड़ा समझती, तो मेरे पास के आभूषणों को ही क्यों छोड़ आती?

अवध-निवासी स्त्री-पुरुषों में से, बहुतों की इच्छा राजा-रानी के साथ जाने की थी; परन्तु दोनों के भाषणों को सुनकर, उनके ये विचार बदल गये। उनके साथ जाने की अपेक्षा, अयोध्या में रहकर, सत्य और कर्त्तव्य के पालन को ही, उन्होंने अच्छा समझा। सबने प्रसन्नचित्त से, उच्चस्वर में महाराजा-हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की जय का गगनभेदी घोष किया।

महाराजा-हरिश्चन्द्र, और रोहित को गोद में लिये हुए रानी, इस कोलाहलमय जनसमूह से बाहर निकलकर, वन की ओर चलीं! उन्हें, इस प्रकार जाते देख, सबलोग विलाप करने लगे, परन्तु फिर किसी ने, राजा का पीछा करना उचित न समझा। इन लोगों के विलाप को सुनकर, पशु-पक्षी भी विकल होने लगे और राजा तथा रानी के भी आँसू निकल पड़े, लेकिन उन्होंने, सत्यरूपी-रुमाल से उन्हें तत्क्षण पोंछ डाला।

वे राजा और रानी, जिनकी सवारी के लिये अनेक वाहन उपस्थित रहते थे, महल से बाहर निकलने पर हज़ारों सेवक साथ होते थे, जिनके आगे-आगे वन्दीजन यशगान करते चलते थे, जिनको प्रणाम करने के लिए प्रजा पंक्तिबद्ध मार्ग पर खड़ी होती थी, आज पैदल, नंगे पाँव और अकेले ही वन को जारहे हैं।

वे रानी, जो आभूषण के भार से ही थकी-सी जान पड़ने लगती थीं, आज बालक रोहित को गोद में लिए, पति के पीछे-पीछे चल रही हैं। जिनके पैर रखने के लिए पुष्प बिछाये जाते थे, वे ही आज कँटीले और पथरीले मार्ग पर चल रहे हैं। इतना सब-कुछ होते हुए भी, इस वीर-दम्पति के मुँह पर, चिन्ता की एक रेखा तक नहीं है। बालक रोहित भी, चुपचाप माता-पिता के साथ चला जा रहा है।

जबतक, राजा और रानी, वृक्षों की ओट में आकर दीखना बन्द न हुए, तबतक प्रजा बराबर उन्हीं को ओर टकटकी बाँधकर देखती और विलाप करती रही। जब, वे दृष्टि से अदृश्य होगये, तब सब लोग, उसी प्रकार मन मारकर घर लौटे, जिस प्रकार कोई अमूल्य-पदार्थ खोकर लौटता है।





वन के पथिक



संसार का यह नियम है, कि एक दुःखी आदमी अपने दुःख से उतना नहीं घबराता, जितना एक सुखी-मनुष्य दुःख पड़नेपर घबराता है। जो नीचे ही है, वह यदि गिरे, तो उसे उतनी चोट नहीं पहुँचती, जितनी चोट ऊपर से गिरने वाले को पहुँचती है। इसीके अनुसार, हरिश्चन्द्र और तारा, जिन्होंने अपनी आज की अवस्था की कभी कल्पना भी न की थी, जो यह भी न जानते थे, कि नंगे पाँव पैदल वन के मार्ग में चलना कैसा होता है; उनको आज दीन-वेश में, नंगे पाँव, वन के कण्टकाकीर्ण-पथ पर चलने से अधिक कष्ट होना चाहिये था, परन्तु ये लोग न मालूम कैसे वज्र-निर्मित हैं, कि इनको नाममात्र का भी दुःख नहीं है, वरन् प्रसन्न-चित्त हैं।

पुत्र सहित राजा-रानी, अवध को अन्तिम प्रणाम कर, काशी जाने के लिए वन की ओर चल दिये। मार्ग में, रोहित को कभी राजा ले लेते हैं और कभी वह स्वयं ही पैदल चलने लगता है। राजा और रानी के कोमल-पैरों में काँटे और कंकर चुभते जाते हैं, जिससे खून निकल-निकल कर, पैरों में इस प्रकार लग रहा है, जैसे पाँवों में मेहँदी लगाई हो।

राजा और रानी का, प्रजा को समझाने-बुझाने में बहुत समय व्यतीत होगया था, जिससे सूर्यास्त होने में कुछ ही समय बाकी रह गया था। अवध से, इनके थोड़ी दूर जाते ही सूर्य इस प्रकार अस्त होगया, जैसे इनका दुःख देखना उसे असह्य हो उठा हो।

रात का समय है। भयानक-जङ्गल साँय-साँय कर रहा है। जिन राजा-रानी के कानों में, सदा मधुर-मधुर बाजो और गानों का शब्द पड़ा करता था, वे ही वन के पशुओं के शब्द सुन रहे हैं। वह बालक, जो रात के समय हिंडोले पर झूला करता था, भयानक वन में कभी माता की और कभी पिता की गोद में चिपटा चला जा रहा है और उन पशुओं के शब्द, तथा सन्नाटे में वृक्षों की मुरमुराहट, सुन रहा है। अँधेरा होने से मार्ग नहीं दीखता, इससे कभी-कभी किसी का पाँव ऊँचा-नीचा पड़ता जाता है। ऐसे समय में, पति पत्नी का और पत्नी पति का हाथ पकड़कर एक-दूसरे की सहायता करते जाते हैं। राजा और रानी, दोनों के पैर काँटे लगने के कारण खून से भर गये है, परन्तु दोनो ही चुप हैं। रानी तो यह विचार कर चुप हैं, कि यदि मैं कहूँगी, तो पति के हृदय को दुःख होगा और ये कहेंगे, कि मेरे ही कारण से तुम्हे दुःख हो रहा है। और राजा विचारते हैं, कि जो कष्ट मुझे हो रहे हैं, वे ही रानी को भी होते होंगे, फिर रानी स्त्री होते हुए उन कष्टों को चुपचाप सह रही है, तो मैं तो पुरुष हूँ। मैं क्यों कायरता प्रकट करूँ। रानी, स्वयं कष्ट सहकर मेरे लिये आदर्श उपस्थित करती है और इस प्रकार मुझे धैर्य की शिक्षा प्रदान कर रही है।

बालक का लिये हुए दोनों पथिक, जैसे-तैसे एक वृक्ष के समीप पहुँचे। दिनभर से भूखे तो थे ही, इस समय भी पास कुछ न था, जो खाते। इसलिये, चुपचाप उसी वृक्ष के नीचे सो रहे। हिंसक पशुओं से रक्षा के लिए, कुछ देर राजा जागते रहे और कुछ देर रानी। इस प्रकार, अनेकों सेवकों से सुरक्षित महलों के रहनेवाले, कोमल-शय्या पर सोनेवाले राजा-रानी और रोहित ने, वन के मध्य, एक वृक्ष के नीचे भूमि पर कुछ देर सोकर और कुछ देर जागकर रात बिताई।

अरुणोदय के समय राजा-रानी उठ बैठे। परिश्रम के कारण, एक तो वैसे ही दोनो के मुख, लाल होरहे थे, ऊपर से अरुणोदय की लाली, उनके चेहरे पर पड़कर, उन्हें ऐसे लाल बना रही थी, जैसे पूर्णिमा के दो चन्द्रमा उदय हुए हों।

राजा और रानी, परमात्मा का स्मरण करके उसे धन्यवाद देने लगे, कि तेरी ही कृपा से हम कर्त्तव्य तथा सत्य के पालन एवं कष्ट सहन करने में समर्थ हुए हैं। जहाँ अन्य लोग दुःख के समय परमात्मा को कोसने लगते हैं, वहाँ हरिश्चन्द्र और तारा धन्यवाद दे रहे हैं। वे लोग अपने आपको कष्ट में नहीं समझ रहे हैं, किन्तु यह समझ रहे हैं 'कि हम सत्य की परीक्षा दे रहे हैं।'

परमात्मा के स्मरण से निवृत्त हो, राजा और रानी, रोहित को लेकर फिर मार्ग तय करने लगे। बारह पहर से अधिक समय व्यतीत हो चुका है, तब से ये लोग भूखे ही हैं। कुछ दूर चलने पर, बालक के स्वभावानुसार, रोहित को भूख लगी। भूख तो कल भी लगी थी, परन्तु वह भूख रोहित के लिये सह्य थी और आज की भूख असह्य है। वह तारा से खाने के लिये

माँगने लगा, परन्तु तारा के पास मौखिक-आश्वासन के सिवा और क्या था, जो देती ? बालक के अधिक कहने-सुनने पर, तारा ने वन के थोड़े से जङ्गली-फल तोड़कर रोहित को दिये, परन्तु रोहित को ये फल कब अच्छे लग सकते थे, जो वह खाता ? उसने, उन फलों को चखकर फेंक दिया और मां से फिर खाने को माँगने-लगा।

समय की गति बलवान है। जो राजा और रानी, नित्य दूसरों को भोजन बाँटा करते थे, जिनके आश्रय से हजारों-मनुष्य नित्य भोजन पाते थे, वे ही राजा-रानी, आज दो दिनों से स्वयं ही भूखे हैं। जिस रोहित के लिये, अनेकानेक भोज्य-पदार्थ सदा विद्यमान रहते थे, जो उन्हें आग्रह करने पर भी नही खाता था, अमृत के समान स्वादिष्ट फलों को जो अपने साथ खेलने वाले बालकों को बाँट दिया करता था, वही बालक रोहित, आज भूख से विकल हो रहा है और उसे वे जङ्गली फल खाने को मिल रहे हैं, जिनको उसने कभी देखा भी न था।

सन्तान के क्षुधातुर होने और भोजन माँगने पर न दे सकने के कारण, माता-पिता को कितना खेद होता है, यह बात सभी जानते हैं। हरिश्चन्द्र और तारा को भी, रोहित के भूख-भूख चिल्लाने से वही दुःख हो रहा है, परन्तु इसका उपाय क्या ? तारा, रोहित को आश्वासन देती जारही है, कि देखो आगे तुम्हे भोजन देती हूँ, परन्तु यह आश्वासन कब तक काम कर सकता था ?

हरिश्चन्द्र, पुत्र की दशा से विकल हो रहे थे। वे, मन-ही-मन कह रहे थे, कि मैं कैसा अभागा-पिता हूँ, जो अपने क्षुधा-

पीड़ित-बालक का दुःख भी निवारण नहीं कर सकता ! इन लोगों को, इस प्रकार कष्ट मे डालने का कारण मैं ही हूँ, परन्तु इस समम मैं क्या कर सकता हूँ ?

राजा, एक तो दो-रोज से भूखे थे, दूसरे चलने से भी अत्यधिक थक गये थे, तीसरे गर्मी के मारे प्यास से कण्ठ सूखा जा रहा था। ऊपर से, बालक की क्षुधा का दुःख, उन्हें और भी अधीर किये देता था। वे, चलते-चलते एक वृक्ष के नीचे, मूर्छित होकर गिर पड़े। तारा, पति की यह दशा देख, घबरा उठीं। उधर रोहित भी अपनी भूख भूल, तारा से पूछने लगा, कि पिताजी क्यो गिर गये ? तारा ने, रोहित को राजा के पास बैठा दिया और उसके हाथ में पत्ते देकर कहा—बेटा, तुम अपने पिता पर पवन करो। रोहित, अपने छोटे-छोटे हाथो से पिता पर पवन करने लगा और रानी, राजा के लिए जल की चिन्ता करने लगीं !

आवश्यकता, आविष्कार की जननी है। बिना आवश्यकता के, आविष्कार नही होता। घर बनाना, भोजन बनाना, कपड़े बनाना आदि प्रत्येक आविष्कार, आवश्यकता के कारण ही हुए हैं। बिना आवश्यकता का अनुभव किये, किसी आविष्कार की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। रानी, यद्यपि राजमहल की रहने वाली थीं, वन कैसा होता है, उसके वृक्ष कैसे होते हैं तथा वनपर किस प्रकार चढ़ा जाता है, और दोने किस प्रकार बनाये जाते हैं, आदि बातें वह न जानती थीं; लेकिन जल की आवश्यकता ने उन्हें वृक्ष पर चढ़ना और दोना बनाना भी सिखा दिया। रानी को, जब इधर-उधर जल न देख पड़ा, तब वह, एक वृक्ष पर चढ़कर जलाशय देखने लगीं। थोड़ी दूरी पर उन्हे एक सरोवर

दृष्टि पड़ा। वे वृक्ष से उतरकर, दौड़ती हुई उस सरोवर पर गईं और उसी में से एक कमल का पत्ता तोड़, उसका दोना बना, उसमें जल भरकर पति के पास लाईं।

रानी को, पैदल चलने का यह पहला ही अवसर है। वे, दो-दो दिन से भूखी हैं, पैरों में काँटो के लगने से असह्य-पीड़ा अनुभव कर रही हैं, परन्तु इन सब बातो की कुछ भी परवाह न कर, पति के लिए दौड़कर पानी ले आईं। यदि, आज की स्त्रियो की तरह तारा होतीं, तो सम्भवतः पहले तो इन सब दुःखों को सहन करने को तैयार ही न होतीं। कदाचित तैयार भी हो जातीं, तो वन के मध्य पति की इस दशा को देखकर, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जातीं। परन्तु, तारा ने, ऐसी अवस्था मे भी धैर्य और दृढ़ता न छोड़ी।

रानी ने, जल लाकर पति के मुँह पर छिटका। शीतल-जल के छींटो से, राजा की मूर्छा दूर हुई और आँखे खुलीं। राजा की आँखें खुलते ही, रानी ने कहा—नाथ जल पीजिये।

राजा ने जल पिया। तृषा दूर होने और शान्ति मिलने पर राजा ने पूछा—प्रिये! इस निर्जन-वन में, यह जल तुम कहाँ से लाईं? इस जल ने तो इस समय मेरे लिए अमृत का गुण किया है।

तारा प्रभो! मैं इसे समीप ही के एक सरोवर से लाई हूँ।

हरिश्चन्द्र—प्रिये, मैं तुम्हे साथ नहीं लाता था, परन्तु अब मैं अनुभव करता हूँ, कि यदि तुम साथ न होतीं, तो मेरी दुःख की नाव पार नहीं जा सकती थी। तुम, मेरे लिये अद्वितीय-सुखदात्री सिद्ध हुई हो।

तारा—स्वामिन् ! मेरे पास सुख है, तभी तो मैं सुखदात्री हूँ न ?

हरिश्चन्द्र—हाँ, यदि तुम्हारे पास सुख न होता, तो तुम सुखदात्री कैसे हो सकती थीं ?

तारा—प्रभो ! आप दुःख से घबरा जाते हैं, अतः आपके पास जो दुःख है, वह आप मुझे दे दीजिये और मेरे पास जो सुख है, वह आप ले लीजिये।

हरिश्चन्द्र—यह कैसे हो सकता है ? सुख-दुःख कोई पदार्थ तो हैं नहीं, जो बदल लिये जायँ। मुझे तो यह आश्चर्य होता है, कि तुम इस दशा में भी अपने को सुखी मान रही हो। सुख को, दुःख से बदलने का उपाय क्या है, उसको कुञ्जी क्या है, यह बताओ। और यह भी बताओ, कि तुम ऐसे कष्ट सहती हुई भी अपने आपको सुखी कैसे मान रही हो, तथा तुम्हें दुःख से घबराहट क्यों नहीं होती ?

तारा—नाथ, जिस समय आपने राज्य दान करने का समाचार सुनाया—उस समय दुःख मुझे पीसने आया था। आप ही विचारिये, कि इस समाचार को सुनने पर, कैसे-कैसे वीर भी दुःखित हो सकते हैं ? दुःख मुझे पीसने तो आया, परन्तु मैंने जान लिया, कि यह मेरा शत्रु है। शत्रु के समझ लेने पर, सब उससे सावधान रहते और उसे जीतने का उपाय करते हैं। इसीके अनुसार, मैंने दुःखरूपी शत्रु को—जिसे कि मैं उस समय तक जानती ही न थी—जीतकर क़ैद कर लिया। यदि, मैं उससे भय खाजाती, अर्थात परास्त हो जाती, तब तो वह मुझे पीस ही देता, परन्तु मैं, उससे भयभीत नहीं हुई। अब, जब से मैंने

उसे कैद कर लिया है, वह शत्रुता की जगह मेरा उपकार कर रहा है और मुझे ऐसे-ऐसे काम करना सिखा रहा है, जिन्हें करना मैं न जानती थी।

रानी की बात सुनकर, राजा बहुत ही प्रसन्न हुए और रानी को धन्यवाद दे कहने लगे, कि मैं समझता था, कि तुम राज्य आदि छूटजाने और इस प्रकार भूखे रहकर जङ्गल मे चलने के दुःख से दुःखित हो जाओगी, परन्तु तुम तो इस समय भी अपने आपको सुखी बता रही हो।

तारा—प्रभो, मैं दुःखित तो तब होऊँ, जब आपका राज्य छूटा हो। आपका राज्य छूटा नहीं है, बल्कि कृत्रिम-राज्य के बदले अलौकिक और वास्तविक-राज्य प्राप्त हुआ है।

हरिश्चन्द्र—तारा, यह तो तुम अत्युक्तिपूर्ण बात कह रही हो।

तारा—नहीं नाथ, मैं आपको बताती हूँ, कि आपका वह राज्य कृत्रिम कैसे था और इस समय का राज्य कैसे अकृत्रिम है। आप, जहाँ सोने के उस सिंहासन पर बैठते थे, जिसके छिनजाने आदि बातों का सदा भय बना रहता था, वहाँ आप कुश के उस सिंहासन पर बैठे हैं, जिसके विषय में किसी प्रकार का भय नहीं है। कभी आप यह कहे, कि राजा लोग कुशासन पर नहीं बैठते, सिंहासन पर ही बैठते हैं। परन्तु वे राजा कुशासन की उत्कृष्टता को नही जानते। आपने, उस सोने के सिंहासन की अपेक्षा इस कुशासन को बड़ा समझा, इसीसे उसे त्यागकर इसे अपनाया है।

हरिश्चन्द्र—यह तो तुमने ठीक कहा।

तारा—स्वामी, उस राज्य में आप पर जो चवँर ढुला करता था, वह तभी तक पवन करता था, जबतक कि कोई उसे हिलाता रहता था। हिलाना बन्द होते ही, वह पवन देना भी बन्द कर देता था। लेकिन, यह प्राकृतिक-पवन ऐसा चवँर है, कि सदैव हिला करता है और इसीके दिये हुए पवन से मैं, आप तथा सारा संसार जी रहा है। वह चवँर तो केवल आप ही को पवन देता था और उसके न होने से संसार का काम चल सकता है; परन्तु यह चवँर तो सबको पवन देता है और इसके दिये हुए पवन के बिना, कोई जीवित नहीं रह सकता। इस प्रकार, उस कृत्रिम चवँर की अपेक्षा यह अकृत्रिम-चवँर विशेष आनन्द का दाता है।

प्रभो, उस राज्य में आपके सिर पर जो छत्र रहता था, वह तो आडम्बर था, वास्तविक छत्र नहीं। इसके सिवा वह छत्र केवल आप ही पर छाया रखता था, परन्तु यह वृक्षरूपी छत्र आडम्बर-रहित और सब पर छाया रखनेवाला है। उस छत्र की छाया के बिना सबको दुःख नहीं हो सकता, परन्तु इस छत्र की छाया के बिना, मनुष्य, पशु पक्षी, आदि सब दुःखी हो सकते हैं।

आपके उस राज्य में, सब जीव आपसे भय खाते थे, वह राज्य क्रोध, अहङ्कार आदि पैदा करनेवाला था, परन्तु इस राज्य में क्रोध, अहङ्कार, वैर आदि का नाम भी नहीं है। यह राज्य प्रेम का है। देखिये, ये हरिण आपकी ओर कैसी आँखें फाड़कर प्रेम से देख रहे हैं। आप, जब उस राज्य के स्वामी थे, तब कभी हरिण इस प्रकार निर्भय आपके राजसिंहासन के समीप आते थे?

नाथ, उस राज्य में गायकगण आपको कृत्रिम गाना सुनाते थे, वन्दीजन आपकी अत्युक्तिपूर्ण-प्रशंसा करते थे, परन्तु इस राज्य में पत्तीगण आपको अकृत्रिम-राग सुनाते हैं। अब आप ही बतलाइये, कि इस राज्य की समानता वह राज्य कैसे कर सकता है ? उस राज्य में यदि कुछ लोग आपके हितचिन्तक थे, आपसे प्रेम करते थे, तो कुछ लोग आपके अहितचिन्तक और आपसे ईर्ष्या करनेवाले भी रहे होंगे; परन्तु इस राज्य मे आप से ईर्ष्या करनेवाला कोई भी नहीं है।

रानी की बात सुनकर, राजा उनकी बुद्धि और उनके धैर्य पर प्रसन्न हो उठे। वे कहने लगे—तारा, तुमने तो इस दशा में भी मुझे एक उस राज्य से भी अच्छे राज्य का स्वामी बनाया। तुम स्त्री नहीं, वरन् एक शक्ति हो। तुमने, मुझे शक्ति प्रदान की, तभी मैं उस राज्य को त्यागकर, इस राज्य को प्राप्त कर सका हूँ। वास्तव में, तुमने मेरे दुःख की गठड़ी ले लो। अब मुझे दुःख नहीं रहा, इसलिये चलो चलें। मार्ग तो चलने से ही कटेगा।

रोहित को लेकर, राजा-रानी फिर चलने लगे। पिता के मूर्छित होकर गिर जाने और माता-पिता को बातचीत करते देख बालक रोहित भूख के होते हुए भी शान्तचित्त बैठा था; लेकिन बालक अपनी भूख को कबतक दबा सकता है ? वन के खट्टे-तूरे फलों से उसकी तृप्ति नहीं हुई थी, इसलिये वह, माता-पिता से पुनः खाने को माँगने लगा।

जिस देव ने, राजा को सत्य से डिगाने का प्रण किया था, वह विश्वामित्र के राज्य ले लेने और हरिश्चन्द्र को राज्य से निकाल देने पर यह विचारकर प्रसन्न हुआ था, कि अब हरिश्चन्द्र सत्य

का पालन न कर सकेगा। परन्तु राजा को सत्यपालन के लिए इस प्रकार कष्ट सहते देख, वह आश्चर्यचकित होगया। इस समय उसने विचारा, कि इन्हें राज्य छूटने आदि का कैसा दुःख है, इसकी परीक्षा मैं स्वयं लूँ। इस विचार से, वह एक वृद्धा का रूप धारण करके, सिरपर लड्डुओं का पिटारा रख, हरिश्चन्द्र और तारा के साथ हो गया। वह एक लड्डू हाथमें ले, रोहित को बताकर उसे ललचाता था और विचारता था, कि देखें रोहित जो भूख से विह्वल है, तथा राजा-रानी, जो अपने पुत्र की भूख से दुःखित हैं, लड्डू माँगते हैं, या नहीं। रोहित, अपने साथ की वृद्धा को लड्डू बताते देख, अपनी माता की ओर देखने लगा। तारा ने रोहित से कहा—बेटा, ऐसे लड्डू तो तुम नित्य ही खाते थे और अब आगे चलकर और भी खाओगे।

माता-पिता के ही स्वभाव का संस्कार, बालकों मे हुआ करता है। जिनके माता-पिता स्वयं माँगना नहीं जानते, वे बालक भी प्रायः ऐसे ही हुआ करते हैं। ऐसे बालकों को, यदि कोई स्वयं भी कुछ देने लगता है, तो वे नहीं लेते, माँगना तो दूर रहा। रोहित बालक है, वह भी आज दो दिनो से भूखा है, परन्तु उसने उस वृद्धा से लड्डू नहीं माँगा, न माँ से ही कहा कि तुम मुझे माँग दो।

वृद्धा, अपने लड्डुवाले हाथ को रोहित के समीप इस तरह लेजाती है, मानों उसे लड्डू देरही हो। परन्तु जिस तरह कोई घृणित-वस्तु की ओर नहीं देखता, इसी तरह रोहित ने भी, माता की बात सुनने के पश्चात् उसकी ओर नहीं देखा, न हरिश्चन्द या तारा ने ही उससे कहा, कि तू मेरे भूखे-बालक को एक लड्डू

देदे। तारा, मन-ही-मन यह अवश्य कहती है, कि यह वृद्धा रोहित को आश्वासन देने के लिए खूब आगई। इसके आजाने से मेरे बालक का मार्ग सुगम हो गया और वह अपने भूख के दुःख को बहुत कुछ भूल गया।

रोहित, राजा और रानी की ऐसी दृढ़ता देख, वृद्धा रूप-धारी देव, निराश हो, अपना-सा मुँह लेकर एक तरफ को चलता बना।

राजा, रानी और रोहित, काशी में गंगा तट पर पहुँचे। गंगा की धारा को देखकर, उन्हे अपूर्व हर्ष हुआ। दोनो, उस धारा से अपनी तुलना करते हुए, परमात्मा से प्रार्थना करने लगे, कि हे प्रभो, हमारी धारा भी गंगा की धारा की तरह सदा एक-सी रहे।

गंगा की धारा को देखकर, राजा कहते हैं—गंगे! तू हिमालय से निकल कर समुद्र में जा रही है। न तो तू किसी के लौटाने से लौटती है, न किसी के बाधा देने पर बाधित होती है। बल्कि जो तेरे मार्ग को रोकता है, उसका तू अविराम विरोध करती है। तेरी धारा सम है, उसके मध्य कहीं भी विषमता नहीं है। तेरी ही तरह, मैं भी इस संसार रूपी हिमालय से निकल कर, परमात्मा रूपी समुद्र में जाना चाहता हूँ। जिस प्रकार, तेरे जल की धारा नहीं लौटती, उसी प्रकार मुझे भी अपने सत्य की धारा न लौटने देनी चाहिए और उस धारा में विघ्न-कर्त्ता झूठ का निरन्तर विरोध करते हुए, समवेग से धारा को चलने देना चाहिए। अबतक तो मैं, अपने इस कर्त्तव्य पर स्थिर रहा हूँ; और आशा है, कि आगे भी दृढ़ रहूँगा।

गंगे, तू जिस प्रदेश में होकर निकली है, उन प्रदेशों को हरा-भरा बनाकर, वहाँ के लोगों को सुख देती गई है। मैं भी अवध से काशी आया हूँ, परन्तु यहाँ के लोगों को, मैं क्या शान्ति प्रदान कर सकूँगा, यह नहीं कह सकता।

उधर रानी कह रही है—गंगे! तेरा नाम भी स्त्रीवाचक है और मैं भी स्त्रियों में से हूँ। मैं, अब अपनी और तेरी तुलना करती हूँ।

जिस प्रकार तू हिमालय से निकलकर समुद्र को जाती है, उसी प्रकार हम स्त्रियें भी पीहर को छोड़कर, ससुराल जाती हैं। जिस तरह तू अपने एक समुद्र को छोड़कर दूसरे में जाने का विचार नहीं करती, उसी तरह हम भी एक ससुराल छोड़कर दूसरी में जाने का विचार नहीं करतीं। जैसे तू समुद्र में जाकर मिल जाती है; दूसरी नहीं जान पड़ती, उसी तरह हम भी ससुराल में जाकर मिल जाती हैं, दूसरी नहीं जान पड़तीं। जिस तरह तू अपने उद्गम स्थान पर तो कलकल करती है, परन्तु समुद्र में पहुँच कर, शान्त और गम्भीर बन जाती है, उसी तरह हम भी पीहर में तो कलकल करती हैं, परन्तु ससुराल में शान्त और गम्भीर बन जाती हैं। जिस प्रकार तेरी एक धारा होने से तू पावन कहाती है, उसी प्रकार हम में भी जो एक धारा रखती हैं, वे पावन कहाती हैं। जिस प्रकार तू निःस्वार्थ-भाव से समुद्र में जाती है, उसी प्रकार हम भी निःस्वार्थ-भाव से ससुराल जाती हैं। जैसे तू अविराम बहती और उस बहाव में बाधा पहुँचानेवाले का विरोध करती रहती है, उसी प्रकार हम भी पति-सेवा तथा उनके हित-चिन्तन में संलग्न रहतीं और उसमें

बाधा पहुँचानेवाले विषयों का विरोध करती हैं। जिस प्रकार तू अपनी धारा को रोकनेवाले पहाड़ो को चीर डालती है, उसी प्रकार हम भी अपने पतिहित की धारा को रोकनेवाले सुखों को चीर डालती हैं। गंगे! अब बता, ऐसा करना तूने हम स्त्रियों से सीखा है, या हम स्त्रियें तुझसे सीखी हैं?

गंगे! यदि मैंने कोई अहङ्कार की बात कही हो, तो मुझे क्षमा कर। क्षमा के अतिरिक्त, मैं तुझसे यह और माँगती हूँ, कि मेरी जो धारा इस समय चल रही है, अन्त तक यह ऐसी ही बनी रहे।

गंगा से, दम्पति ने इस प्रकार अपनी तुलना की और वहाँ से उठकर धर्मशाला में आये।

धर्मशाला बनवाने का अभिप्राय तो यह होता है, कि वे दीन-दुःखी लोग, जिनके रहने का कोई स्थान नहीं है और जो अपना और प्रबन्ध नहीं कर सकते हैं, उन्हें उसमे रहने दिया जाय। लेकिन, आजकल सुना जाता है, कि प्रायः किसी बड़े आदमी के आने पर, या उनके आने की सूचना मिलने पर, धर्मशाला से ग़रीबों को तो निकाल दिया जाता है, या नहीं ठहरने दिया जाता है, और धनिकों के लिए समूची-धर्मशाला या उसका कुछ भाग सुरक्षित (रिजर्वड्) कर दिया जाता है। परन्तु, जिन धर्मशालाओं में ऐसा होता है, वे धर्मशालाएँ, वास्तव में धर्मशाला नहीं, बल्कि धनिकों की विलासशाला हैं।



काशी में



निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीःसमाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

अर्थात्—नीतिनिपुण-मनुष्य निन्दा करें, चाहे स्तुति करें। लक्ष्मी आवे, अथवा स्वेच्छानुसार, चली जावे। चाहे आज ही मृत्यु हो जाय, या युगान्तर में हो। किन्तु धीर मनुष्य न्याय-मार्ग से एक क़दम भी विचलित नहीं होते।

ऊपर, जो श्लोक कहा गया है, इसीके अनुसार, हरिश्चन्द्र तारा और रोहित, दो दिन से भूखे होते हुए, तथा पास में एक पैसा न होते हुए भी, किसी से भीख माँगने, या और अनुचित-रीति से, अपनी क्षुधा मिटाने का विचार भी नहीं करते। इस प्रकार कष्ट सहकर भी, नीति को न छोड़ने से ही, अनेक युग बीत जाने पर भी, लोग हरिश्चन्द्र और तारा की प्रशंसा करते, तथा उनके चरित्र को पठन-श्रवण करते हैं।

रोहित को लिये हुए राजा-रानी, धर्मशाला मे आये। धर्मशाला का व्यवस्थापक, दीन-वेशधारी राजा-रानी को देख, आश्चर्य-चकित हो विचारने लगा, कि आजतक इस धर्मशाला में अनेकों स्त्री-पुरुष, धनिक और निर्धन आये, परन्तु ऐसा सुन्दर एक को भी नहीं देखा। कहीं, सौन्दर्य ही तो मनुष्यरूप धारण करके नहीं आया है? ऐसा सोचकर, उसने राजा से पूछा, कि आप कौन हैं और यहाँ किस अभिप्राय से पधारे हैं।

राजा—हम, दीन श्रमजीवी हैं। जीविकोपार्जन के लिए यहाँ आये हैं और इस धर्मशाला में ठहरने के इच्छुक हैं। हमें कहीं थोड़ा-सा स्थान दे दीजिए, जहाँ हम लोग रह सकें।

व्यवस्थापक—आप लोगो को, जितने और जिस स्थान की आवश्यकता हो, ले लीजिए।

हरिश्चन्द्र—हम दीन हैं, इसलिए हम विशेषस्थान पर अपना अधिकार नही करना चाहते। हमें तो एक छोटी-सी खोली दे दीजिए और उसका किराया बतला दीजिए।

व्यवस्थापक—किराया! यहाँ तो किसी से किराया नहीं लिया जाता, न कोई किराया देकर रहनेवाला आता ही है। यह तो धर्मशाला है। यहाँ, दीनों को रहने के लिए स्थान भी दिया जाता है और भोजन भी दिया जाता है।

राजा—यदि ऐसा है और हमें इस धर्मशाला में, किराये पर कोई स्थान नहीं मिल सकता, तो फिर हम कोई और स्थान ढूँढेंगे। बिना किराया दिये तो हम नहीं रह सकते।

व्यवस्थापक—आप लोग जब दीन हैं, तो किराया कहाँ से देंगे? और यदि किराया देकर रहेगे, तो क्या, यहाँ का भोजन भी न करेंगे?

हरिश्चन्द्र—मैं, यहाँ से धर्मार्थ मिलनेवाला भोजन भी नहीं कर सकता, न विना किराया दिये रह ही सकता हूँ। मैं जिसतरह से अपना उदरपोषण करूँगा, उसी प्रकार से किराया भी दूँगा।

व्यवस्थापक—ऐसा क्यों ?

राजा—इसलिए, कि मैं दीन हूँ, परन्तु भिखारी नहीं।

व्यवस्थापक—क्या तुम्हारे स्त्री-पुत्र या केवल पुत्र भी यहाँ भोजन न करेंगे !

राजा—नहीं।

व्यवस्थापक—पुत्र तो अभी बालक है, उसे भोजन करने देने में क्या हर्ज है ?

राजा—एक समय का भिक्षा का या धर्मार्थ मिला हुआ भोजन भी संस्कारों मे अन्तर डाल सकता है।

राजा की बातें सुनकर, व्यवस्थापक बहुत ही प्रसन्न हुआ। वह मन-ही-मन कहने लगा, कि यद्यपि ये हैं तो दीन, परन्तु हैं कोई नीतिज्ञ और भले आदमी। उसने, इन्हें अपनी धर्मशाला से जाने देना उचित न समझा और एक छोटा-सा स्थान बतलाकर उसका किराया भी कह दिया। स्त्री-पुत्र सहित राजा, उस छोटी-सी कोठरी में गये। राजा ने, तारा से कहा—तुम जबतक इसे झाड़-बुहार कर साफ करो, तबतक मैं नगर से उद्योग द्वारा कुछ भोजन-सामग्री ले आऊँ।

जिन राजा के यहाँ सदैव हजारों मजदूर काम किया करते थे, वे ही राजा आज मजदूरों के दल में सम्मिलित हो मजदूरी कर रहे हैं। और जो रानी सदैव हजारों दास-दासियों पर आज्ञा करती थीं, वेही आज अपने हाथ से झाड़ू निकाल रही हैं।

यद्यपि दोनों ही वह कार्य कर रहे हैं, जिसे करने का आजतक समय न आया था, तथापि दोनों ही प्रसन्न हैं और विचार रहे हैं, कि हम सत्य के लिये तपस्या कर रहे हैं।

बात की बात में रानी ने, कोठरी झाड़-बुहारकर साफ़ करदी और आसपास की दूकानो से भोजन बनाने के लिये किराये पर बरतन भी ले आई। यह कर चुकने पर, वह विचारने लगी, कि पति नगर में उद्योग से भोजन-सामग्री लेने गये हैं, परन्तु वे इस समय सिवा मज़दूरी के और क्या करेंगे ? वे मज़दूरी करके लावेंगे, तब मैं भोजन बनाकर दूँगी, इसमें मेरी क्या विशेषता होगी ? वे, इधर दो दिन से भूखे हैं, फिर भी मजदूरी करने गये हैं और वे मज़दूरी करके लावेंगे, मैं बनाऊँगी, तबतक फिर भूखे रहेंगे ! इधर मैं उस समय तक यों ही बैठी रहूँगी, जबतक पति मज़दूरी करके कुछ लावें। जब वे मज़दूरी करने गये हैं, तब मुझे मज़दूरी करने में क्या हर्ज है ! मैं तो उनकी अर्द्धांगिनी हूँ। अबतक वे राजा थे, तो मैं रानी थी। अब वे मज़दूर हैं, तो मैं भी मज़दूरनी हूँ। मेरा स्त्री होना तभी सार्थक है, जब मैं उनके आते ही उन्हें भोजन परस दूँ।

इस प्रकार विचार करके, रानी पड़ोस की स्त्रियों के समीप जाकर कहने लगीं, आप लोगों के यहाँ यदि कोई मज़दूरी का कार्य हो, तो कृपा करके मुझे बतलाइये। तारा तथा रोहित के रूप-सौन्दर्य को देख और उनकी बात सुन, उन स्त्रियों का हृदय भर आया। वे, आपस में कहने लगीं, कि यह है तो कोई भद्र-महिला, परन्तु है विपद्ग्रस्त। उनमें से एक ने रानी से पूछा, कि आप कौन हैं और क्या-क्या काम कर सकती हैं ?

रानी—मैं मजदूरनी हूँ। पीसना, कूटना, बरतन माँजना, कपड़े धोना आदि सब कार्य करना जानती हूँ और प्रत्येक कार्य अच्छा तथा बहुत शीघ्रता-पूर्वक कर सकती हूँ।

तारा की इस बात ने, उन स्त्रियों के हृदय में और भी करुणा उत्पन्न करदी। वे कहने लगीं, कि तुम मजदूरनी तो नहीं जान पड़तीं, हाँ, विपत्ति की मारी चाहे मजदूरी करने लगी होओ। हमें, तुमसे मजदूरी कराना उचित नहीं प्रतीत होता, अतः हम तुम्हें वैसे ही, जो चाहिये सो दिये देती हैं।

रानी—आपकी दृष्टि में, यदि मैं सम्मान के योग्य हूँ, तो आप लोग मुझे भीखमंगी न बनाइये, और कोई मजदूरी का कार्य देने की कृपा कीजिये। यदि कोई कार्य न हो, तो नाहीं कर दीजिये, जिसमें मुझे देर न हो। क्योंकि मैं स्वयं भी भूखी हूँ, तथा बालक भी भूखा है। देर करने से, हमें भोजन बनाने में भी देर होगी, जिसका परिणाम यह होगा, कि हमें अधिक समय तक भूख सहनी पड़ेगी। मैं, विना मजदूरी किये तो आप लोगों से कुछ नहीं ले सकती।

स्त्रियों ने जब समझ लिया, कि यह ऐसे न लेगी, तब उन्होंने तारा को कुछ काम दिये। तारा ने, उन कार्यों को इतना शीघ्र और इतनी कुशलतापूर्वक किया, कि सब स्त्रियें तारा की कार्यकुशलता पर मुग्ध हो गईं। उन्होंने तारा को मजदूरी दी। मजदूरी पाकर, तारा ने भोजन बनाने की सामग्री खरीदी और शीघ्रता से भोजन बनाकर रोहित को परसा। सदा के अनुसार, रोहित माता से कहने लगा, कि तुमभी भोजन करो; परन्तु तारा ने उसे समझाया, कि तेरे पिता के आ जाने पर मैं भी भोजन करूँगी।

तारा के समझाने-बुझाने पर रोहित ने भोजन किया।

रोहित को भोजन कराकर, रानी द्वारपर बैठ, पति की प्रतीक्षा करने लगी। उधर राजा, इस विचार से कि बालक और स्त्री भूखी हैं, मज़दूरी मिलते ही, भोजन बनाने की सामग्री खरीदकर, स्थान पर आये। राजा के आने पर रानी ने कहा— नाथ, भोजन कीजिये। राजा, साश्चर्य पूछने लगे, कि भोजन बनाने की सामग्री लेकर तो मैं अब आरहा हूँ, तुमने भोजन कहाँ से बना लिया?

रानी—प्रभो, यह बात आप भोजन करके फिर पूछिये। हाँ यह मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ, कि यह भोजन न्यायोपार्जित है, अन्यायोपार्जित नहीं।

रानी के विश्वास दिलाने पर राजा ने भोजन किया। राजा ने कुछ भोजन करके रानी से पूछा—प्रिये, अब बताओ कि यह भोजन बनाने की सामग्री, तुमने कहाँ से और कैसे प्राप्त की? मुझे आश्चर्य होता है, कि तुमने इतने ही समय में सामग्री कैसे प्राप्त करली जो भोजन बना डाला।

रानी— प्रभो, आप यह भोजन बनाने की सामग्री कहाँ से लाये हैं?

राजा—यह तो मैं मज़दूरी करके लाया हूँ।

रानी—मज़दूर की स्त्री भी मज़दूरनी ही होती है। आप जब मज़दूरी करने गये थे, तो फिर मुझे मज़दूरी करने में क्या लज्जा हो सकती थी? जिस प्रकार आप मज़दूरी करके लाये हैं, उसी प्रकार मैं भी मज़दूरी करके लाई हूँ। आपको जब अन्यायवृत्ति प्रिय नहीं है, तो मुझे वह क्यों प्रिय हो सकती है? न आप

अन्यायवृत्ति से भोजन लाये हैं, न मैं ही अन्यायवृत्ति से लाई हूँ। आपकी लाई हुई भोजन-सामग्री शेष रहेगी। गृहस्थी का कर्त्तव्य है, कि अल्प संचय करे, तो अपने यहाँ भी कम से कम एक-दो समय की भोजन-सामग्री, तो शेष होनी ही चाहिए। स्वामी हमलोगों को अब किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। क्या आप और मैं दोनों मिलकर, अपना पेट भरने के लिये भी न कमा सकेंगे?

रानी की बात सुनकर, राजाको सन्तोष हुआ। वे आश्चर्य-पूर्वक कहने लगे—तारा तुमने तो गजब कर दिया। तुम-सी स्त्री पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

वे राजा और रानी, जो कुछ ही दिन पहले, राज्य-वैभव में, अच्छे-अच्छे भोजनों में और महलों के निवास में सुखी थे, अब गरीबीपूर्ण-जीवन में, रूखे-सूखे भोजन में, और धर्मशाला की एक छोटीसी किराये की कोठरी में ही सुख मानते हैं। जिनके कार्यों में हजारों मजदूर लगे रहते थे, वे स्वयं आज मजदूरी करते और ऐसा करते हुए भी अपने-आपको सुखी समझते हैं। इस गरीबी को दूर करने के लिये, किसी अन्यायपूर्ण कार्य करने की इच्छा, कभी स्वप्नमें भी नहीं करते। इसीलिये नीतिकारों ने कहा है, कि धीर-मनुष्य चाहे जैसी परिस्थिति में हो किन्तु वे कभी भी न्यायमार्ग नहीं छोड़ते। अस्तु।

राजा और रानी, इसी प्रकार मजदूरी करके, सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे। रानी, अपने गृहकार्यसे निवृत्ति पाकर, पड़ोस के घरों में मजदूरी करने जाती और राजा सवेरे ही जाकर, मजदूरों के दल में सम्मिलित होजाते। राजा और रानी को देखकर

लोग आश्चर्य करते, और विचारते कि ये कौन हैं ? परन्तु न तो कोई इन्हें पहचान ही सका, न इन्होंने ही, किसी को अपना परिचय दिया। अपने दल में, एक नये-मजदूर को सम्मिलित होते देख, मजदूर लोग भी आपस में साश्चर्य कानाफूसी करते, कि यह विचित्र-मजदूर कौन है ? इसका ललाट कितना भव्य है, भुजाएँ कैसी लम्बी हैं, वक्षस्थल कैसा चौड़ा है और शरीर कितना सुन्दर तथा सुडौल है ? यह कोई देव तो नहीं है, जो मजदूर के वेश में हम से कुछ छल करने आया हो ? यह मजदूरी के तो सभी कार्य जानता है, परन्तु इसके पास मजदूरी का कोई औजार नहीं हैं ? इन मजदूरों में से एक मजदूरने साहस करके राजा से पूछा—महाशय, हम आपका परिचय जानना चाहते हैं।

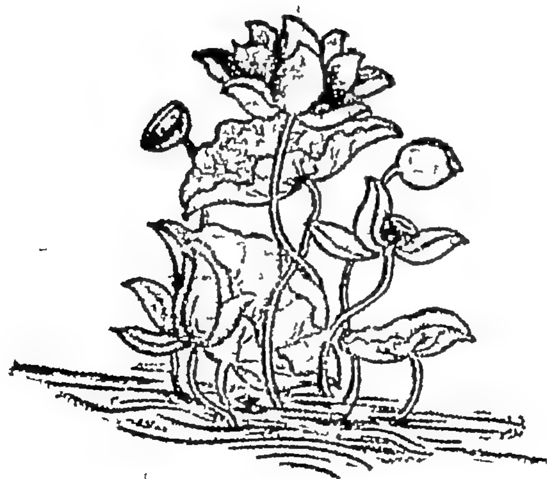
राजा—भाई, जैसे मजदूर आप हैं, वैसा ही मजदूर मैं भी हूँ। मजदूरों का विशेष परिचय क्या ? हम सबको तो अपनी मजदूरी के कार्य का ध्यान रखकर, आपस में सहयोग रखना चाहिए।

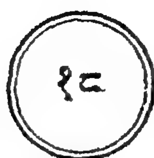
राजा का यह उत्तर सुनकर, उसे और कुछ पूछने का साहस ही न हुआ।

राजा को, जो लोग अपने यहाँ मजदूरी पर लेजाते, वे भी उनके कार्य से प्रसन्न रहते। मजदूरी के जितने भी कार्य होते हैं, राजा उन सभी को जानते थे। पहले के लोग, इसीलिए अपनी सन्तान को, सब कार्य सिखलाते थे, कि किसी समय और किसी भी दशा में वह भूखों न मरे।

मजदूरों से, राजा का अच्छा प्रेम हो गया। राजा, उन्हें

उचित सन्म्मति देते और यथा सामर्थ्य उनकी सहायता भी करते रहते। इस प्रकार, सब मजदूर उनके अनुगामी बन गये और महाराजा-हरिश्चन्द्र का, यहाँ मजदूरों पर एक छोटा-सा राज्य हो गया।





ऋण-चिन्ता



प्रिया न्याय्या वृत्तिमलिनमसुभंगेप्यसुकरं—
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ॥

विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां—
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ १ ॥

अर्थात्—सत्पुरुषों को यह तलवार की धार जैसा कठिन व्रत किसने बताया है ! जो, प्राण जाने पर भी मलिन और पाप कर्म नहीं करते; किन्तु न्यायोपार्जित आजीविका ही जिनको प्रिय है। वे दुष्टों से,या अल्पधन वाले सज्जनों से भी, याचना करना तो जानते ही नहीं। ज्यो २ विपत्ति आती है, त्योंही वे नहीं घबराते हुए सदा उच्चपद के ही विचार करते और उच्चता के ही अनुगामी बनते जाते हैं।

एक तो आज के वे लोग हैं, जो ऋण लेकर देने की सामर्थ्य होते हुए भी नहीं देते हैं—या तो यह कह देते हैं, कि हमने लिया

ही नहीं है, या दिवाला निकाल देते हैं—और एक हरिश्चन्द्र हैं; जिन्होंने विश्वामित्र से ऋण नहीं लिया है, केवल दक्षिणा देना जबान से कह मात्र दिया है, तब भी उन्हें देने की चिन्ता है। इस अन्तर का कारण यही है, कि आज के ऐसा करने वाले लोगों ने तो अन्यायवृत्ति को अपना साधन मान रखा है, लेकिन हरिश्चन्द्र को न्यायवृत्ति ही प्रिय थी।

महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा यद्यपि मजदूरी करते हुए आनन्द-पूर्वक दिन व्यतीत करते हैं, भोजनादि में उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है, परन्तु विश्वामित्र का ऋण उन्हें चैन नहीं लेने देता। इनके पास, एक हजार स्वर्णमुद्रा के स्थान पर एक पैसा भी नहीं है। जहाँ आज के लोग, पास होते हुए भी, लिया हुआ ऋण देने से इनकार कर देते हैं, वहाँ हरिश्चन्द्र पास में कुछ न होते हुए भी ऋणमुक्त होने को चिन्तित हैं। यदि वे चाहते, तो अपने वचन-दान की रकम अदा करने से इनकार कर देते, परन्तु वे सत्यवादी थे। सत्यवादी मनुष्य मुँह से कही हुई बात को पूरी न करना जानते ही नहीं। इसीलिए इन्हें इस ऋण की पूर्ण चिन्ता है। यद्यपि ऋण की चिन्ता राजा और रानी दोनों को है, परन्तु रानी अपनी चिन्ता दबाये हुए हैं, और राजा की चिन्ता उनकी आकृति पर भी, अपना प्रभाव जमाये हुए है। इस चिन्ता से, वे सदा व्यथित रहते हैं। एक दिन, इसी चिन्ता में निमग्न-दशा में राजा को नींद आगई। कुछ देर पश्चात्, वे सोते से एक दम चौंक कर बैठ गये और फिर चिन्ता-सागर में निमग्न हो गये। पति को, इस प्रकार चौंकते देख, रानी ने उन से चौंकने का कारण पूछा। हरिश्चन्द्र कहने

लगे—प्रिये, विश्वामित्र का ऋण मुझ पर लदा है, वह बोझ मुझे किसी समय भी शान्ति नहीं लेने देता।

ज्ञानी के सन्मुख, जब कोई अपना दुःख कहने लगता है, तब ज्ञानी, उस दुःखी के दुःख को सान्त्वना और धैर्य देकर कम कर देते है, परन्तु मूर्खलोग, उस दुःख को और भी बढ़ा देते हैं। बहुत से लोग ऐसे भी सुने जाते हैं, जो किसी के अपना दुःख कहने पर, उससे सहानुभूति प्रकट करना तो दूर रहा, उल्टे या तो अपना ही दुःख रोने लगते हैं, या अनावश्यक उपदेश देने लगते हैं। लेकिन तारा बुद्धिमती थीं, उन्होंने ऐसे समय में पति को धैर्य बँधाना ही उचित समझा।

पति की बात सुन कर, तारा कहने लगीं—नाथ आप ऋण की चिन्ता क्यों करते हैं? जैसा ऋण आप पर है, वैसा ही ऋण मुझ पर भी तो है! फिर आप अकेले चिन्ता क्यों करें? किसी न किसी प्रकार ऋण से भी मुक्त हो ही जावेंगे।

हरिश्चन्द्र—लेकिन ऋण से मुक्त होंगे कैसे? अपनी आय तो केवल इतनी ही है, कि उसमें अपना ही निर्वाह हो, फिर एक-सहस्र स्वर्णमुद्रा कहाँ से आवेंगी, जो ऋण दिया जा सकेगा?

तारा—स्वामी, आप जब अयोध्या से चले थे, तब आपके पास खाने को तो कुछ भी नहीं था, न यही आशा थी, कि काशी में हमें कुछ मिल जायगा। फिर यहाँ आपका काम किस प्रकार चल रहा है, कि आप भी भोजन करते हैं और—गृहस्थियों का कर्त्तव्य पालन करते हुए—अतिथि-सत्कार भी करते हैं?

राजा—उद्योग से।

तारा जिस उद्योग से खाने को मिल रहा है, उसी उद्योग

से ऋण भी दिया जावेगा। आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं?

राजा—यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि उद्योग द्वारा हमारी जो आय है, वह इतनी नहीं है, कि उसमें जीवन-निर्वाह भी कर सकें और ऋणमुक्त भी हो सकें। फिर किस आधार पर चिन्ता न करूँ?

तारा—प्रभो, यदि हमारी नीयत साफ है, यदि हम अपने सत्य पर अटल हैं, यदि हमको ऋण चुकाने की सच्ची चिन्ता है, तो ऋण अवश्य ही चुक जावेगा, आप धैर्य रखें। ऋण तो उनका नहीं चुकता, जो ऋण चुकाने की ओर से उदासीन हैं। आप उसके लिये चिन्तित हैं, अतः आप तो अवश्य ही ऋण-मुक्त होंगे।

रानी की बात सुनकर राजा को धैर्य हुआ। कुछ दिन तो राजा-रानी उसी प्रकार अपने कार्य मे लगे रहे, परन्तु अवधि के कुछ ही दिन शेष रहने पर, राजा को पुनः ऋण-चिन्ता ने घेर लिया। आज, राजा ने सोचा कि जैसे भी हो, ऋण-मुक्त होना चाहिए। उस दिन, वे मजदूरी करने नहीं गये और अपने आपको किसी के यहाँ नौकर रखकर, ऋण की मुहरें लेने के विचार से बाजार में गये। वहाँ, वे एक बड़ी-सी दुकान पर जाकर खड़े हुए और दूकान के एक सेवक से कहा, कि मुझे सेठ से कुछ कहना है। दीन-वेश-धारी राजा को पहले तो वह सेवक टालता रहा, परन्तु राजा के विशेष अनुनय-विनय करने पर, उसने सेठ को सूचना करदी, कि एक मजदूर आप से कुछ बात करना चाहता है।

जिन मजदूरों की कमाई पर धनिकों का जीवन निर्भर है, जो

श्रमजीवी आप छोटे रहकर भी दूसरों को बड़ा बनाते हैं, प्रायः उन्ही श्रमजीवियों की बात को, उन्हीं के द्वारा बड़े बनाये गये लोग सुनते ही नही हैं। वे, उन श्रमजीवियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, उनके दुःख पर कोई ध्यान नहीं देते, बल्कि विशेष कहने-सुनने पर उनके साथ अभद्रता-पूर्ण व्यवहार तक कर डालते सुने जाते हैं। वे, धन के कारण धनान्ध हो जाते हैं। ऐसे ही मनुष्यों को लक्ष्य करके, उर्दू के एक कवि कहते हैं:—

नशा दौलत का बदअतवार को जिस आन चढ़ा।
सर पै शैतान के एक और शैतान चढ़ा॥

अर्थात्—अनुभवशून्य और क्षुद्रहृदय मनुष्य पर जिस क्षण सम्पत्ति का नशा चढ़ गया, उस समय मानों शैतान के सिर पर एक और शैतान चढ़ गया।

जो अविवेकी-मनुष्य, सम्पत्ति पाकर धनान्ध बन बैठते हैं, वे उन श्रमजीवियों की अपेक्षा कब करने लगे, जिन्होने उन्हे बड़ा बनाया है और जो स्वयं गरीब रहकर, कष्ट उठाकर, फटे टूटे कपड़े पहन-कर भी, इन्हें धनिक बनाते तथा अच्छी-अच्छी भोजन-सामग्री और अच्छे-अच्छे कपड़े देते हैं। यद्यपि यह है सर्वथा अनुचित, क्यो कि दीनो पर दया न करना, अपने उपकारी का उपकार न मानना, मनुष्योचित कार्य नहीं है, परन्तु धन के मद में, उन्हे अपने कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रहता। धन के नष्ट होने पर, जब वे भी उसी श्रेणी में आजाते हैं, तब उन्हें अपनी भूल चाहे प्रतीत हो और तब वे श्रमजीवियों से भले ही प्रेम करने लगें, परन्तु इसके पहले ही यदि वे इस बात को समझ लें, तो ऐसा पश्चात्ताप करने का अवसर ही क्यों आवे? अस्तु

मजदूर वेश-धारी राजा से, वात-चीत करना धनान्ध-सेठ को कब उचित प्रतीत हो-सकता था ? उसने राजा की ओर देखकर अपने कार्य-कर्त्ताओं से कहा, कि इसे कोई मजदूरी का काम हो तो दे दो।

राजा—मैं, मज़दूर तो हूँ ही, और मज़दूरी मेरा धन्धा ही है, परन्तु इस समय मैं मज़दूरी के लिये नहीं आया हूँ। मैं, आपसे एक ऐसी बात कहना चाहता हूँ, जिसमें आपका भी लाभ है और मेरा भी लाभ है।

सेठ ने, यह विचार कर, कि यह मज़दूर मेरे लाभ की क्या बात बता सकता है और कौन इससे बात करने में अपना समय तथा अपनी प्रतिष्ठा का नाश करे, राजा को धुतकार दिया। राजा, वहाँ से निराश हो, दूसरी दूकान पर गये, परन्तु वहाँ भी यही दशा हुई। इसी प्रकार, राजा कई दूकान पर गये, परन्तु किसी ने भी उनकी बात न सुनी। जिस प्रकार, हीरे की परीक्षा न जानने के कारण, भीलनी उसकी उपेक्षा करके घूँघची को महत्व देती है, उसी प्रकार दीन-वेश-धारी राजा की भी कोई परीक्षा न कर सका और उन्हें सब जगह से निराश होना पड़ा।

इस तरह, कई सेठों से अपमानित होने पर भी, राजा निराशा को दबा, उद्योग करते रहे। एक सेठ ने, राजा के यह कहने पर, कि मैं आपको आपके लाभ की बात बताता हूँ, राजा की बात सुनना स्वीकार किया। राजा ने कहा—मैं, लिखना-पढ़ना, नापना-तौलना धरना-उठाना, खरीदना-बेचना आदि व्यापार-सम्बन्धी सब कार्य जानता हूँ। इतना ही नहीं, मैं, एक चतुर-सैनिक की तरह माल की रक्षा भी कर सकता हूँ। मैं ऋणी हूँ, अतः आप मेरा ऋण

देकर, मुझे अपने यहाँ नौकर रख लीजिये, और जबतक मैं ऋण-मुक्त न होजाऊँ, आप मुझसे काम लीजिये। मेरा वेतन, ऋण में जमा करते रहिये, मैं आपसे व्यय के लिए भी कुछ न लूँगा

सेठ—फिर खायगा क्या ?

राजा—मेरी स्त्री मजदूरी करती है, उसी मजदूरी से मेरा भी निर्वाह हो जायगा।

सेठ—तुझ पर कितना ऋण है ?

राजा—एक सहस्र मुहरें।

सेठ—एक सहस्र मुहरें। क्या जुआ खेला था ?

राजा—नहीं।

सेठ—फिर इस दशा में तुझ पर इतना ऋण कैसे होगया ? क्या किसी और व्यसन का तुझे अभ्यास है ?

राजा—मैं, व्यसन के समीप भी नहीं जाता, मुझे एक ब्राह्मण की दक्षिणा देनी है, यही ऋण है।

सेठ—तेरा जितना वेतन नहीं होगा, उससे अधिक तो एक सहस्र स्वर्णमुद्रा का सूद हो जायगा। इस प्रकार तो हमारी मुद्राएँ तुझसे कभी पूरी ही नहीं हो सकतीं। इसके सिवा तेरा विश्वास क्या ? हज़ार मुहरें तुझे देदें और तू भाग जाय, तो हम कहाँ ढूँढते फिरें ?

राजा—आप विश्वास रखिये, मैं कदापि नहीं भाग सकता।

सेठ—हमको विश्वास करके मूर्ख नहीं बनना है। एक-हज़ार स्वर्ण-मुद्रा की दक्षिणा देने वाला और दूकान सम्बन्धी सब कार्य जानने वाला मनुष्य, इस वेश में कदापि नहीं रह सकता। चल,

जा यहाँ से। अनावश्यक-बातें करके हमारा समय नष्ट न कर। तेरी यह ठगाई, यहाँ नहीं चलने वाली है?

राजा—सेठ महाराज, आप मुझे नौकर रखकर तो देखिये, कि मैं आपकी दूकान को किस उन्नत दशा पर पहुँचाता हूँ।

सेठ—पहले अपनी उन्नति तो करले, फिर हमारी दूकान की उन्नति करना। अपना पेट तो भरा नहीं जाता और चला है हमारी दूकान की उन्नति करने!

इस सेठ का भी, ऐसा शुष्क और अपमान-जनक उत्तर सुनकर, राजा निराश हो गये। वे, अपने स्थान पर आये और तारा से कहने लगे—आज मैंने अपनी मजदूरी भी खोई, जगह-जगह अपमानित भी हुआ, परन्तु किसी ने मेरी पूरी बात भी न सुनी, न कार्य ही सिद्ध हुआ। अब क्या करूँ और किस प्रकार ऋण से छुटकारा मिले?

तारा—नाथ, विपत्ति के समय ऐसा ही होता है। यदि ऐसा न हो और कोई किसी प्रकार की सहायता दे या बात पूछने-सुनने लगे, तो फिर वह विपत्ति ही कैसी? स्वामी, विपत्ति के समय तो केवल धैर्य धारण कीजिये। जिस सत्य के लिए, हम इस विपत्ति को सह रहे हैं, वही सत्य हमें इस चिन्ता से मुक्त करेगा।

तारा ने, यद्यपि हरिश्चन्द्र को बहुत कुछ धैर्य दिया, परन्तु उन्हें शान्ति न मिली। ऋण की चिन्ता ने, उनके शरीर को दुर्बल और कान्ति को क्षीण बना दिया। ऋण की अवधि का दिन, जैसे-जैसे समीप आता जाता था, वैसे ही वैसे राजा का भोजन-पानी भी छूटता जाता था। होते होते यह दशा होगई, कि राजा चलने-फिरने से भी अशक्त हो गये।

मनुष्य के लिए, चिन्ता जितनी दुःखदाई होती है, उतना और कोई कष्ट दुःखदाई नहीं होता। चिन्ता, भीतर ही भीतर मनुष्य को भस्म कर देती है। किसी कवि ने कहा है:—

चिन्ता ज्वाल शरीर में, दव लागी न बुझाय।
बाहर धुआं न नीसरे, अन्दर ही जल जाय॥
अन्दर ही जल जाय, जरे ज्यों काँच की भट्टा।
रक्त मांस जर जाय, रहे पिंजर की ठट्ठा॥
कह गिरधर कविराय, सुनो रे सज्जन मिन्ता।
वे नर कैसे जियें, जिन्हें तन व्यापी चिन्ता॥

ऋण-चिन्ता से व्याकुल राजा, अनेक प्रकार के उपाय विचारते हैं, लेकिन सब ओर उन्हें निराशा ही निराशा देख पड़ती है। इस समय, आशा का ऐसा कोई तन्तु नहीं दिखाई देता, जिसके सहारे वे इस चिन्ता को कुछ देर के लिये भी भूलें। चिंता से अत्यधिक आतुर हो, वे परमात्मा से प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो, जिस सत्य के लिये मैंने राज्य-पाट छोड़ा, मैं मजदूर तथा रानी मजदूरनी बनी, अनेक प्रकार के कष्ट सहे, वह सत्य, क्या इस थोड़े से ऋण के लिये चला जायगा? सत्य जाने के पहले, यदि मृत्यु हो जाय, तो अति ही श्रेष्ठ है, परन्तु सत्य न जाने पावे।

पति की यह दुःखावस्था, रानी से देखी नहीं जाती। वे, पति को धैर्य भी बँधाती जाती हैं और विचारती हैं, कि यदि पति के वचन की रक्षा मेरे प्राण देने से होती हो, तो मैं इसके लिये भी तैयार हूँ।

जहाँ, आज की स्त्रियें केवल थोड़े से आभूषणों के लिये,

पति के वचन की रक्षा का ध्यान नहीं रखतीं-थोड़े से आभूषण दे देने से पति के वचन की रक्षा होती हो, तो इसके लिये भी तैयार नहीं होतीं, वहाँ रानी अपने प्राण देकर भी पति के वचन की रक्षा करने को तैयार हैं। यदि आज की स्त्रियें, तारा का आदर्श सामने रखें, तो सर्वस्व देने को तैयार होजायँ, जैसे देवकी ने वसुदेव के वचन की रक्षा के लिये अपने पुत्र दे दिये थे और कौशल्या ने पति के वचन की रक्षा के लिये राम को, सहर्ष वन जाने दिया था। अस्तु।

राजा को तो, ऋण की चिन्ता है और तारा को, राजा की चिन्ता है। वे विचारती हैं, कि मैंने जिन पति के लिये सब सुख तृण की तरह छोड़ दिये, जिन पति का मुखचन्द्र देखकर, मैं मजदूरी करती हुई भी कुमुदिनी की तरह प्रसन्न रहती थी, उन पति की तो यह दशा है; अब, मैं क्या करूँ? इसी चिन्ता के कारण, रानी के नेत्रों से, अविरल अश्रुधारा बह रही है।

आज, अवधि का अन्तिम दिन है। राजा, इसी चिन्ता में विकल पड़े हैं, कि आज के सूर्य में ऋण कैसे चुकाया जाय? रानी भी, ऋण और पति की चिन्ता से विकल हैं। दोनों के नेत्रों से, आँसू बह रहे हैं और दोनों ही इस तरह उदास हैं, जैसे शरीर में प्राण ही न हों। उसी समय, विश्वामित्र आकर, धर्मशाला के द्वार पर हरिश्चन्द्र के लिये पूछने लगे। तारा और हरिश्चन्द्र की विकलता, विश्वामित्र का बोल सुन कर, और भी बढ़ गई। वे विचारने लगे, कि अवधि पूरी होने से विश्वामित्र आये हैं, अब इनका ऋण कहाँ से चुकाया जाय। राजा, ऋण चुकाने से इनकार तो कर नहीं सकते, और पास कुछ है नहीं। अतः

वे सोचते हैं, कि अब उन्हें क्या उत्तर दूँगा? इसी भय के मारे, उनकी जबान सूख गई।

राजा और रानी जिस कोठरी में रहते थे, उसके द्वार पर विश्वामित्र कृतान्त की तरह आ खड़े हुए। वे, अपनी क्रोधपूर्ण-वाणी से कहने लगे—कहाँ है हरिश्चन्द्र!

हरिश्चन्द्र को इस प्रकार विकल और विश्वामित्र को द्वार पर खड़े देख, तारा धैर्य धर कर बाहर निकली। उनने, हाथ जोड़कर विश्वामित्र को प्रणाम किया और कहा—आपने बड़ी कृपा की, जो पधारे। कहिये; क्या आज्ञा है?

विश्वामित्र, क्रोधित होकर कहने लगे—क्या तू नहीं जानती, कि मैं क्यों आया हूँ? तेरा पति कहाँ है? उससे कह, कि मेरा ऋण दे।

तारा—महाराज, आपका ऋण अवश्य देना है। आप महाजन हैं और हम ऋणी हैं। लेकिन यदि हमारे पास कुछ होता और हम देने की सामर्थ्य रखते, तो जब राज्य देने में भी देर नहीं की, तब दक्षिणा का ऋण देने में क्यों देर करते? इस समय आप क्षमा कीजिए और कृपा करके कुछ अवधि और दे दीजिए। यदि हम लोग जीवित हैं तो आपका ऋण देंगे ही, किन्तु यदि आपने हम लोगों को क्रोध से भस्म ही कर दिया, तो इससे न तो आपका ऋण ही वसूल होगा, न हम ऋणमुक्त ही होंगे।

विश्वामित्र, अपनी आँखो को लाल-लाल करके कहने लगे—तुम लोगों के ये काम हैं। इस प्रकार धूर्तता करने पर तुम लोग उतारू हुए हो! क्या इसीलिए वह धूर्त आप तो छिप गया और तुझे भेजा है?

तारा—आप, अपना क्रोध संवरण कीजिए और विचारिये, कि जिस समय हम लोग अयोध्या से चले थे, उस समय हमारे पास एक समय खाने इतना अन्न भी तो नहीं था ! फिर हमने अपने दिन कितने कष्ट से निकाले होंगे ? हमारा आपका, राज्य देने-लेने के कारण घनिष्ठ-सम्बन्ध है, इस कारण आपको हमारा दुःख-समाचार पूछकर सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी । इस सम्बन्ध से नहीं, तो आप महाजन हैं और हम ऋणी हैं; इस नाते भी आपको हमारी कुशल पूछना उचित था । लेकिन आप तो और क्रुद्ध हो रहे हैं ! यदि हमारे पास ऋण देने योग्य कोई वस्तु होती और फिर हम ऋण न देते, तब तो आपका क्रुद्ध होना उचित भी था, परन्तु जब हमारे पास ऐसी कोई चीज ही नहीं है, जिससे हम ऋण दे सकें, तब आप अकारण ही क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं ?

विश्वामित्र—मैं तुमसे ऋण माँगने आया हूँ, ज्ञान सीखने नहीं । यदि तुम्हारे पास उस समय कुछ नहीं था और इस समय भी कुछ नहीं है, तो मैं इसका क्या करूँ ? इस बात को पहले ही सोच लेना था । लेकिन तब तो हठवश राज्य भी दे दिया और दक्षिणा भी देना स्वीकार किया, और अब, जब दक्षिणा की अवधि की समाप्ति के दिन मैं दक्षिणा की मुद्राएँ लेने आया, तब वह तो छिप गया और तुम इस प्रकार उत्तर देती हो ! यदि तुम्हारे पास देने को नहीं है, तो अपने पति से कहो, कि वह अभिमान छोड़कर अपना अपराध स्वीकार करले । अपराध स्वीकार कर लेने पर, मैं दक्षिणा भी छोड़ दूँगा और राज्य भी लौटा दूँगा ।

आज की सी स्त्रियें होतीं, तो सम्भवतः अपने पति से कहतीं, कि अब तो कष्ट-सहिष्णुता की सीमा हो गई, अब कबतक सत्य को लिए फिरेंगे। जरा-सा अपराध स्वीकार कर लेने पर, इस ऋण-चिन्ता से भी छूटते हैं और राज्य भी मिलता है। लेकिन तारा, सत्यपालन और पतिवचन की रक्षा के लिए, न मालूम कितना साहस रखती हैं, कि इतने कष्ट सहने पर भी वे पति के कार्य को न तो अनुचित ही बताती हैं, न उनसे यही कहना चाहती हैं, कि आप अपराध स्वीकार करलें। अस्तु।

विश्वामित्र की बात सुनकर, तारा कहने लगीं—महाराज, आप और सब कुछ कहिए, लेकिन सत्य छोड़ने के लिए कदापि न कहिए। जिस सत्य के लिए, हमने इतने कष्ट सहे और सह रहे हैं, उस सत्य को अन्त समय तक भी हम नहीं छोड़ सकते। हमें, राज्य-सुख का उतना लोभ नहीं है, जितना लोभ सत्य का है। यह तो किसी लोभी-मनुष्य से चाहे हो जाय, कि थोड़े से लोभ के लिए सत्य छोड़ दे, परन्तु हम से यह कदापि न होगा।

विश्वामित्र—हाँ! अभी अभिमान बाकी है? फिर यह बात किसे सुनाती हो, कि हमारे पास कुछ नहीं है? चाहे कुछ हो या न हो, सत्य छोड़ो या मत छोड़ो, हमारी दक्षिणा दे दो, बस हम चले जायँ। मैं तो समझता था, कि हरिश्चन्द्र ही हठी है, तुम बुद्धिमान होओगी, परन्तु तुम तो उससे भी ज्यादा हठ करने वाली जान पड़ती हो!

तारा—महाराज, हम ऋण देने से तो इनकार नहीं करते हैं, हमारी प्रार्थना केवल यही है, कि हम इस समय देने में असमर्थ हैं। हमारे पास, इस समय ऋण चुकाने की कोई सुविधा

नहीं है। आप, बुद्धिमान हैं, अनुभवी हैं और हमारे महाजन हैं, इसलिए मैं आपसे पूछती हूँ, कि आप ही कोई उपाय बताइये, जिससे हम आपका ऋण चुका सकें। यदि आप उपाय बतावें और फिर हम उस उपाय से, आपका ऋण न चुकावें, तो हम अवश्य अपराधी हैं।

विश्वामित्र—उपाय भी तुम ही पूछोगी? अपने पति के लिए तुम ऐसी सुखदात्री हो, कि उसे बोलने का भी कष्ट न होने दोगी? अच्छा, लो मैं उपाय बताता हूँ, किन्तु क्या उस उपाय को करोगी?

तारा—महाराज, आप जो उपाय बतावेंगे, वह न्यायोचित ही होगा, इसलिए हम कदापि उसके करने से पीछे नहीं हट सकते।

विश्वामित्र—मैं, यही उपाय बताता हूँ, कि तुम लोग बाजार में बिको और मेरा ऋण चुकाओ।

यह बात सुनकर, साधारण-मनुष्य को क्रोध आना स्वाभाविक था। दूसरी स्त्री होती, तो कहती, कि जिससे लिया जाता है, उसे भी बिककर नहीं दिया जाता; तो मेरे पति ने तो तुम्हें वचन-दान ही दिया है, अतः जब होगा, तब देंगे, बिकें क्यों? लेकिन तारा के समीप, लिया हुआ देना और वचन-दान देना, दोनों एक ही समान थे। उन्हें जिस तरह भी हो, उस तरह ऋण देना स्वीकार था, इसलिए विश्वामित्र की बात से उन्हें दुःख या क्रोध के स्थान पर प्रसन्नता हुई। वे कहने लगीं—महाराज, आपने ठीक उपाय बताया। यह उपाय अबतक मेरी बुद्धि में आया ही न था, अन्यथा आपको इतना क्रोध करने और कुछ

कहने-सुनने का कष्ट ही न करना पड़ता। आपने, ऋण चुकाने का उपाय बता दिया है, इसलिये आज आपके ऋण से हम अवश्य-ही मुक्त हो जावेंगे। आपने, यह उपाय बताने की बड़ी कृपा की है। मैं, आपको इस कृपा के लिये धन्यवाद देती हूँ।' अब, हम ऋण-मुक्त भी हो जावेंगे और आप अपना लेना भी पा जावेंगे। आप ठहरिये, मैं आज ही के सूर्य में ऋण चुकाये देती हूँ।

तारा की बात सुनकर, विश्वामित्र आश्चर्यमग्न हो गये और विचारने लगे, कि यह स्त्री, स्त्री नहीं, वरन् एक शक्ति है, जो पति का ऋण चुकाने के, लिये, बिकने को भी तैयार हो गई। धन्य है इसे, और इसके पति को भी धन्य है, जिसे ऐसी स्त्री प्राप्त हुई है।





आत्म विक्रय



संसार में, तीन प्रकार के मनुष्य हैं। एक तो वे, जो बिना लिये ही देते हैं, अर्थात् ऋणी नहीं हैं, परन्तु दान-स्वरूप देते हैं। दूसरे वे हैं, जो किसी का लेकर देते हैं और तीसरे वे हैं, जो किसी प्रकार भी नहीं देते। अर्थात् न दान ही देते हैं, न लिया हुआ ऋण ही। ये तीनों प्रकार के मनुष्य क्रमशः उत्तम, मध्यम और नीच माने जाते हैं। बिना लिये देने में तो विशेषता है, परन्तु लेकर देने में कोई विशेषता नहीं है। फिर भी, संसार में ऐसे-ऐसे मनुष्य निकलेंगे ही, जो लेकर नहीं देते। ऐसे मनुष्यों की गणना न तो उत्तमों में ही होती है, न मध्यमों में ही।

किसी से ऋण लेकर उसे चुकाना भी जब मध्यम-दर्जे की बात है; अर्थात् अच्छा है, तो बिना लिये देना, या केवल वचन से देने का कहकर, अनेक कष्ट सहकर भी देना, कितनी विशेषता की बात है, इसे पाठक विचारें। लेकिन, भारत में, ऐसे कई उदाहरण हैं, कि अपने वचन की रक्षा के लिये, अपनी सन्तान तक को मृत्यु के मुख में दे दी। राज्य से वंचित रखकर, अपने

प्रिय-पुत्र को धन भेज दिया और आत्मविक्रय द्वारा, वचन का पालन किया। अस्तु।

विश्वामित्र को द्वार पर ठहराकर, तारा वहाँ आई, जहाँ महाराजा-हरिश्चन्द्र पड़े-पड़े अपने भाग्य को कोस रहे थे। तारा ने उनसे कहा—नाथ, उठिये। अब चिन्ता की कोई बात नहीं है। ऋण-मुक्त होने का उपाय विश्वामित्र ने बता दिया है। आप, मुझे बाजार में बेचकर ऋण चुका दीजिये। ऐसा करने से हम लोग ऋण की चिन्ता से भी मुक्त हो जायँगे, अपना सत्य भी रह जायगा और विश्वामित्र को उनका लेना भी मिल जायगा।

तारा की बात सुनकर, हरिश्चन्द्र आश्चर्य-मिश्रित-दुःख से कहने लगे—क्या मैं तुम्हें बेच दूँ? क्या आज मेरी परिस्थिति ऐसी हो गई है, कि मुझे स्त्री बेचनी पड़ेगी? हाय! हाय! स्त्री-विक्रेता पुरुष कहाने की अपेक्षा तो मृत्यु श्रेष्ठ है। तुम, स्त्री होती हुई भी, मुझसे कई गुना श्रेष्ठ हो, जो अपने पति के वचन की रक्षा के लिए स्वयं बिकने को तैयार हो, लेकिन मैं पुरुष होते हुए भी, अपने कर्त्तव्य के पालन में असमर्थ हूँ। हे ईश्वर! अब कौन कह सकता है, कि तू और सत्य नहीं है? यदि ऐसा होता, तो आज तारा किस विश्वास से बिकने के लिए तैयार होती?

राजा, स्वयं ही इस प्रकार दुःख-सागर में निमग्न हैं, ऊपर से विश्वामित्र और कठोर वाक्य सुना रहे हैं। वे कह रहे हैं—ऐ गर्वी राजा! तेरा गर्व अभी नहीं गया है? क्या अब स्त्री बेंचेगा? देख, मैं तेरी जीवन-नौका किस प्रकार दुःख के सागर में छोड़ूँगा, तब तो तुझे मालूम होगा ही, कि आश्रम की अप्सराओं को छोड़ देने और फिर हठ करने का क्या फल होता है।

हरिश्चन्द्र से तारा कह रही हैं—स्वामी, आप चिन्ता न कीजिए। मैं, किसी और कारण से नहीं बिक रही हूँ, किन्तु सत्य-पालन के लिए बिक रही हूँ। सत्य-पालन के समय, इस प्रकार की चिन्ता करना, वीरों का काम नहीं है। सूर्य ढलता जा रहा है, इसलिए अब देर न कर शीघ्र उस बाज़ार में चलिए, जहाँ दास-दासी का क्रय-विक्रय होता है। उस बाज़ार में मुझे बेचकर, विश्वामित्र को एक सहस्र मुहरें दे दीजिये और हर्ष मनाइये, कि आज ही के सूर्य में हमने ऋण चुका दिया। इस समय आप शोक न कीजिये। शोक की कोई बात नहीं है, वरंच प्रसन्नता की बात है, कि अपना सत्य न जायगा।

रानी, यद्यपि उसी सत्य के पालन की बात कह रही हैं, जिसके लिये राजा ने स्वयं भी इतने कष्ट सहे हैं, लेकिन फिर भी दुःख के मारे राजा का खून सूखा जाता है। उन्होंने रानी की बात का कुछ भी उत्तर न दिया। पति को शोकमग्न और निरुत्तर देख, रानी ने विचारा, कि पति स्वयं न तो मुझे बिकने की स्वीकृति ही दे सकेंगे, न चलने के लिए आगे ही होंगे। इधर सूर्य ढलता जाता है। यदि सूर्यास्त के पहले ऋण न चुका दिया, तो सत्य भ्रष्ट भी होंगे और बिकने का जो लाभ होना चाहिए, वह भी न होगा।

इस प्रकार विचार करके, रानी ने अपने पास की शेष भोजन-सामग्री से कोठरी तथा बर्तन का किराया चुकाकर, जिसकी जो वस्तु थी, वह उसे सौंप दी और इधर-उधर से थोड़ा-सा घास एकत्रित कर, सिर पर रख* पति से कहने लगीं—स्वामी!

*—बिकनेवाले दास-दासी, अपने सिर पर थोड़ी-सी घास रख लेते थे, यह उनका चिन्ह माना जाता था।

—सम्पादक

चलिये। यह दुःख करने का समय नहीं, किन्तु सत्य-पालन का समय है। सूर्य, अस्ताचल की ओर जा रहा है। यदि सूर्यास्त के पहले ऋण न चुका दिया गया, तो आप प्रतिज्ञा-भ्रष्ट हो जायेंगे।

तारा को बिकने के लिए उद्यत देख, हरिश्चन्द्र के प्राण सूखने लगे। वे, अपने मुख से कुछ भी न बोल सके। विश्वामित्र भी, तारा को बिकने के लिए उद्यत देख, अवाक् रह गये। वे, मन ही मन कहने लगे, कि मैं समझता था, मैं योगी हूँ, मुझमें तप का बहुत बल है, अपने तपोबल से मैं जिसे चाहूँ, नीचा दिखा सकता हूँ, परन्तु यह मेरा भ्रम था। ये जो गृहस्थी हैं, इन्होंने अपने सत्य-बल से मुझे भी नीचा दिखा दिया। पहले तो हरिश्चन्द्र ने ही राज्य देकर मेरा मान भङ्ग किया, और अब दक्षिणा के लिए बिककर, तारा मेरे रहे-सहे अभिमान को भी नष्ट कर रही है।

तारा समझ गई, कि दुःखमग्न पति, बिना मेरे चल दिये, कदापि न रहेंगे। अतः वे रोहित को गोद में लेकर, बाजार की ओर चल दीं। तारा को जाते देख, विवश हो हरिश्चन्द्र भी साथ हो लिये। आगे-आगे, पुत्र को लिये हुए तारा, उनके पीछे हरिश्चन्द्र और हरिश्चन्द्र के पीछे विश्वामित्र चलते हुए उस बाजार में पहुँचे, जहाँ दास-दासियों का क्रय-विक्रय होता था।

दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा, भारत में भी किसी समय प्रचलित थी, लेकिन जिस समय अन्य देशों में यह प्रथा जोरों पर थी, उस समय, इतिहास से प्रकट है कि भारत से इस प्रथा का अन्त हो चुका था। भारत में यद्यपि दास-दासी ं

क्रय-विक्रय की प्रथा थी अवश्य, लेकिन दास-वाणिज्य के विषय में, लेखकों ने योरोप के दासों के साथ होनेवाले जिन घृणित और अमानुषिक व्यवहारों का वर्णन किया है, उनके कलङ्क से भारत सदा बचा रहा है। भारत, सदा से सहृदय-देश है। उसने दासों पर वैसा अत्याचार कभी नहीं होने दिया, जैसा अत्याचार योरोप में दासों पर होता था। इतिहासकार कहते हैं, कि इंगलैंड में तो उन्नीसवीं सदी तक यह प्रथा बराबर जारी थी और अब भी वहाँ के निवासी प्रतिज्ञा-बद्ध-कुली के रूप में, इस प्रथा को बराबर मानते हैं। भारत में भी कहीं-कहीं दासत्व प्रथा अभी शेष है, जैसे कि राजस्थान के राजाओं के दास, कभी दासत्व से मुक्त नहीं होते—लेकिन दास-व्यवसाय नहीं होता और इस शेष प्रथा का भी क्रमशः अन्त होता जा रहा है। अस्तु।

रानी ने विचारा, कि पति तो दुःखवश मुझे बेंच न सकेंगे, इसलिए मैं स्वयं ही अपने-आपको बेंचूँ। वे बाजार में आवाज़ देकर कहने लगीं—भाइयो! मैं दासी हूँ, गृह के सब कार्य मैं कर सकती हूँ, अतः जिसको दासी की आवश्यकता हो, वह मुझे खरीद ले।

रानी के स्वरूप को देखकर लोग आश्चर्य करने लगे, कि यह दासी तो विचित्र प्रकार की है। इस बाज़ार में, अबतक ऐसी सुन्दर और सुडौल शरीरवाली दासी, कभी बिकने न आई थी। इसकी सुकुमारता और इसके रूप-लावण्य से प्रकट है, कि यह कोई भद्र महिला है, परन्तु विपत्ति की मारी बिक रही है। इन लोगों में से, एक ने तारा से पूछा ही तो, कि तुम कौन हो, कहाँ रहती हो और क्यों बिकती हो?

तारा—मैं, पहले ही कह चुकी हूँ, कि मैं दासी हूँ। दासी का विशेष परिचय क्या ? हाँ, यदि आपलोग चाहें, तो मैं क्या-क्या काम कर सकती हूँ, यह अवश्य पूछ सकते हैं।

वह—तुम्हारा मूल्य क्या है ?

तारा—ये ऋषि (विश्वामित्र) जो खड़े हैं, इन्हीं की मैं और मेरे पति ऋणि हैं। इन्हें, एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ देनी हैं। जो कोई इनकी एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देनी चुका दे, मैं उसी के साथ दासीपना करने के लिये चलने को तैयार हूँ।

तारा का मूल्य सुनकर, लोग आपस में कहने लगे, कि एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ दे, ऐसी कोमलाङ्गी-दासी खरीद-कर क्या करेंगे ? जो स्वयं ही इतनी कोमल है, यह हमारा काम क्या करेगी ?

उन लोगों में से कोई विश्वामित्र से कहने लगा, कि तुम साधु हो, तुम्हें धन की ऐसी क्या आवश्यकता है, जो इसको बिकने के लिए विवश करते हो ? कोई राजा के लिए ही कहता है, कि यह कैसा पुरुष है, जो अपने सामने अपनी ही स्त्री को बिकती देखता है ? और कोई तारा के लिए ही कहने लगा, कि यह स्वयं ही न मालूम कैसी स्त्री होगी, तभी तो इसका पति अपनी उपस्थिति में इसे बिकने देता है। इस प्रकार तीनों के लिए कटु-शब्द कह-कहकर, सब लोग चले गए। किसी ने भी तारा को खरीदने का विचार न किया।

जिस स्थान पर तारा बिकने के लिए खड़ी थीं, वहीं एक वृद्ध और अनुभवी-ब्राह्मण खड़ा हुआ, सब बातें सुन रहा था। तारा की बातों और उसके लज्जादिक गुणों से उसने अनुमान

किया, कि यह कोई विपद्ग्रस्त विदुषी महिला है, जो अपने आपको वेंच रही है। इसके लक्षणो से प्रकट है, कि यह गुणवान और सच्चरित्र है। वे लोग मूर्ख हैं, जो एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा को इसकी अपेक्षा अधिक समझते हैं।

इस प्रकार विचारकर, वृद्ध-ब्राह्मण तारा के पास जा, उससे कहने लगा—भद्रे! तुम्हारे लक्षणों से प्रकट है, कि तुम किसी बड़े-घर की स्त्री हो और विपत्ति की मारी अपने आपको वेंचकर, इनका ऋण चुका रही हो। लेकिन क्या इतना और बता सकती हो, कि यह ऋण किस बात का देना है?

तारा—दक्षिणा का ऋण है।

ब्राह्मण—आपका नाम, गोत्र आदि क्या है?

तारा—इसके लिये तो मैं कह ही चुकी हूँ, कि मैं दासी हूँ, दासी का नाम गोत्र आदि क्या पूछना?

ब्राह्मण—यद्यपि तुम्हारे सद्गुणों के कारण, तुम्हारे एक-एक नाखून के लिये सहस्र-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देना अधिक नहीं हैं, लेकिन मैं तुम्हारी कही हुई, एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देने में भी असमर्थ हूँ। मेरे पास, केवल पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। यदि तुम अपने बदले पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ दिलाना स्वीकार करो, तो मैं देने को तैयार हूँ।

ब्राह्मण की बात सुनकर, तारा विचारने लगीं, कि अब क्या करना चाहिए? देनी तो एक सहस्र मुहरें हैं और ये ब्राह्मण पाँच-सौ ही देते हैं! प्रसन्नता की बात है, कि जहाँ किसी ने मुझे एक पैसे में भी नहीं खरीदना चाहा था, वहाँ इन्होंने मेरी क़ीमत पाँचसौ मुहरें तो लगाई। इन मुहरो से यद्यपि सब ऋण तो न

चुकेगा, परन्तु विश्वामित्र को आधी दक्षिणा मिल जाने से, वे शान्त अवश्य हो जायँगे। पाँचसौ मुहरें पाजाने पर, वे शेष मुहरों के लिए पति को कुछ और समय दे देंगे, उस समय में पति इन की शेष मुहरें भी चुका देंगे और कुछ ही दिन में मुझे भी छुड़ा लेंगे। इनका भाग्य-सूर्य, इसी समय विपत्ति के बादल में छिपा है, जो सदा न छिपा रहेगा।

इस प्रकार विचार कर, तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा—स्वामी, ये ब्राह्मण पाँचसौ मुहरें देते हैं। ऋण चुकाने के लिए तो यद्यपि ये मुहरें पर्याप्त नहीं हैं, परन्तु आधा ऋण अवश्य चुक जायगा। अब, आप जैसी आज्ञा दें, वैसा करूँ।

विश्वामित्र ने, तारा की बात सुनकर विचारा, कि इसको बिकवाकर पाँचसौ मुहरें ले लेना ही ठीक है। पाँचसौ मुहरें जो शेष रहेंगी, उनका भी मैं राजा से अभी देने के लिए तकाज़ा करूँगा। राजा के पास अब तो स्त्री भी नहीं है, जो उसे बेंचकर शेष ऋण देगा। इस प्रकार वह कष्ट से घबरा कर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, बस! बात खतम हो जायगी! इसके सिवा, यह रानी अबतक इसे धैर्य देती रही है! इसके बिकजाने पर, फिर कोई धैर्य देनेवाला भी न रहेगा। परिस्थिति के दुःख, स्त्री-वियोग के दुःख और मेरे ऋण के दुःख से कातर हो, यह अवश्य ही अपराध स्वीकार कर लेगा।

हरिश्चन्द्र तो दुःख के आवेश में तारा की बात का कुछ उत्तर दे न सके, इसी बीच विश्वामित्र कहने लगे—उससे क्या पूछती हो? पाँचसौ मुहरें देता है तो पांचसौ दिलाओ, जिसमें मुझे कुछ सन्तोष तो हो।

विश्वामित्र की इस घात ने, हरिश्चन्द्र के दुःखित-हृदय में तीर का काम किया। वे, मन ही मन कहने लगे—हाय ! सिर पर ऋण होना भी कितने दुःख की बात है। यदि, आज मैं ऋणी न होता, तो तारा के इस प्रकार बिकने और विश्वामित्र के बाण-ऐसे वचन सहने की, क्या आवश्यकता होती ? संसार के वे लोग नितान्त अभागे हैं, जिनपर दूसरे का ऋण है। और वे लोग बड़े भाग्यशाली हैं, जिनपर किसी का ऋण नहीं है। इतने अनुभव के बाद आज मैं कहता हूँ, कि ऋण के समान दूसरा कोई दुःख नहीं है। लेकिन ऋण उन्हीं के लिये दुःखदाता है, जो उसे चुकाना चाहते हैं और अपना सत्य पालन करना चाहते हैं। जो दूसरे का ऋण डुबाने वाला है, उसके लिये तो ऋण का होना और न होना दोनों समान हैं।

विश्वामित्र की बात सुन, तारा अपने पति से कहने लगी—नाथ, ऋषि को इतनी मुहरें मिल जाने से कुछ सन्तोष हो जायगा, इसलिए आप मुझे बिकने की आज्ञा दीजिये।

कुछ ही दिन पूर्व, जो दूसरों को दासत्व से मुक्त कराते थे, जो मानव-विक्रेताओं को दंड देने का प्रबंध करते थे, जो स्वयं दूसरे की परतन्त्रता का हरण करते थे, अपनी ही स्त्री को बिकते देख, उन्हीं दानवीर महाराजा-हरिश्चन्द्र के हृदय की जो दशा हुई होगी, वह अवर्णनीय है।

रानी के बहुत समझाने-बुझाने पर भी, राजा मुख से तो कुछ न बोल सके, लेकिन गर्दन हिलाकर, उन्होंने रानी को बिकने की स्वीकृति देदी। रानी ने, ब्राह्मण से कहा—महाराज, लाइये, पाँचसौ मुहरें ही दीजिये। ब्राह्मण ने, पाँचसौ मुहरें राजा को गिन दीं, राजाने उन्हें लेकर, चुपचाप विश्वामित्र को सौंप दीं।

मुहरें गिनकर, ब्राह्मण ने जैसे ही तारा से कहा, कि 'दासी चलो', वैसे ही हरिश्चन्द्र को वज्राघात-सा दुःख हुआ। जो रानी हजारों सेविकाओं से सेवित थी, वह आज दूसरे के घर दासी बनकर जारही है, इस दुःख ने हरिश्चन्द्र मूर्छा खाकर गिर पड़े। उन्हें, यह दुःख असह्य हो उठा, कि आज से रानी, 'दासी' कही जावेगी। इस समय, उनके हृदय को जो दुःख हो रहा है, वह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है।

रानी, पति को मूर्छित होकर गिरते देख, घबरा उठीं और मनमें कहने लगीं, कि मैं अबतक तो इन्हें धैर्य बँधाती रहती थी, इनके दुःख को किसी प्रकार कम करती रहती थी, लेकिन अब इनकी क्या दशा होगी? ये तो अभी से इस प्रकार अधीर हो उठे हैं, अब क्या करूँ? ब्राह्मण से पति को समझाने के लिये आज्ञा प्राप्त कर, रानी ने हरिश्चन्द्र के मुख पर अंचल से हवा की और उन्हें उठाकर बैठाया। हरिश्चन्द्र को कुछ सचेत देख, रानी कहने लगीं—नाथ, यह समय दुःख करके मूर्छित होने का नहीं है, किन्तु सत्य पालने का है। सूर्यास्त होना ही चाहता है और अभी आधा ऋण बाक़ी है। यदि शेष ऋण के लिये विश्वामित्र ने अवधि न दी और बिना ऋण चुकाये सूर्य अस्त होगया, तो आप सत्य से पतित होजावेंगे। सत्यपालन के समय, मूर्छित होने से काम नहीं चल सकता, इसके लिये तो हृदय को वज्र के समान दृढ़ बनाना पड़ता है। आप तो, मेरे जाने से ही इस प्रकार दुःखी हो रहे हैं, लेकिन मैं तो आपसे भी जुदी हो रही हूँ और पराये घर की दासी भी बन रही हूँ। यदि मैं भी आप ही की तरह दुःखित होजाऊँ, तो फिर सत्य का पालन कैसे हो

सकेगा ? नाथ, जिस सत्य के लिए आपने राज्य-पाट छोड़ा, जिस सत्य के लिए आपने भूख-प्यास आदि दुःख सहते हुए मजूरी की; जिस सत्य के लिए विश्वामित्र के मर्मभेदी वचन सुने, जिस सत्य के लिए मैं बिकी हूँ, क्या उस सत्य को आप खोना चाहते हैं ? सत्य को जाने देना, वीरोचित और क्षत्रियोचित कार्य नहीं है। इस समय आपको प्रसन्न होना चाहिये, कि मुझे जिस ऋण की चिन्ता थी, जिस ऋण के कारण सत्य के चले जाने का सन्देह था, उस ऋण में से आधा ऋण चुक गया। आप, किसी प्रकार की चिन्ता या दुःख न कीजिये, न मेरे लिए यह विचारिये, कि यह रानी थी और अब दासी हो गई। मैं सदा से दासी हूँ, आज से नहीं। स्त्रियें, जन्म से ही दासी होती हैं। जो स्त्री, किसी की दासी न होकर स्वतन्त्र रहती है, वह पतित गिनी जाती है। इसके सिवा, मैं किसी और कारण से दासी नहीं बनी हूँ, किन्तु सत्यपालन के लिए दासी बनी हूँ। यह तो ब्राह्मण ने मुझे खरीदा है, लेकिन इस समय यदि कोई चाण्डाल भी मेरा मूल्य देता, तो मैं प्रसन्नता-पूर्वक उसकी भी दासी बनना स्वीकार कर लेती। अपने सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए, चाहे ब्राह्मण की दासी होऊँ, या चाण्डाल की, दोनों बराबर ही हैं ! मुख्य-कार्य, सत्य को न जाने देना है, दासी बनना तो गौण-कार्य है, जो परिस्थिति पर निर्भर है। आप पुरुष हैं, क्षत्रिय हैं और सूर्यवंश में जन्म धारण किया है। इतने कष्ट तो आपने सह लिये, अब थोड़े से कष्ट से अधीर होकर सत्यपालन से वंचित रहना, आपके लिए शोभा नहीं देता। आप सत्य पर विश्वास तथा धैर्य रखिये और प्रसन्नता से मुझे आशीर्वाद देकर विदा दीजिये।

मेरे भाग्य में यदि आपकी सेवा करना लिखा होगा, तो मैं फिर आपके दर्शन करूँगी।

रानी के इन शब्दों ने, राजा के मृतवत् शरीर में बिजली दौड़ा दी। वे, सत्य का स्मरण कर दुःख को भूल गये और उठ खड़े हुए। उन्होंने रानी से कहा—तारा, मेरे सत्य की रक्षा तुम्हीं ने की है। यदि तुम न होतीं, तो मैं कभी से सत्य-भ्रष्ट हो गया होता। तुम जो कहती थीं, कि आधा ऋण मुझपर है, और मैं आपके कष्ट को बँटा लूँगी, वह तुमने सत्य कर दिखाया। अब शेष ऋण की कोई चिन्ता नहीं है, तुमने ऋण चुकाने का मार्ग मुझे बता दिया है। अब मैं तुम्हें प्रसन्नता-पूर्वक विदा करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ, कि जिस सत्य के लिए तुमने इतने कष्ट सहे हैं, वह सत्य तुम्हारी रक्षा करे।

तारा—नाथ, आपको धन्य है। अब आप इस पुत्र को सम्हालिये। बिकी मैं हूँ, यह नहीं बिका है।

पुत्र को पति के हाथ में सौंप, पति को प्रणाम कर, जैसे ही रानी चलने को हुई, वैसे ही रोहित चिल्ला उठा और दौड़कर माता से चिपटकर कहने लगा—माँ, तुम कहाँ जाती हो? मैं तुम्हारे ही साथ चलूँगा। मुझे छोड़कर मत जाओ, मैं तुम्हारा रोहित हूँ।

पुत्र के ये शब्द, माता के हृदय में क्या भाव उत्पन्न कर सकते हैं, यह बात सभी जानते हैं। तारा के हृदय में भी वही बात हुई, लेकिन उन्होंने धैर्य धारण करके कहा—बेटा, मैं इन ब्राह्मण महाराज की सेवा करने जाती हूँ, तुम अपने पिता के पास रहकर इनकी सेवा करना।

रोहित—माँ, मैं पिता की सेवा करना नहीं जानता। मैं तो

उन्हें प्रणाम करना जानता हूँ, सो प्रणाम किये लेता हूँ। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा और जब तुम पिता की सेवा करना सिखला दोगी, तब पिता की सेवा करूँगा

तारा ने जब देखा, कि रोहित किसी प्रकार भी पति के पास न रहेगा और कदाचित रह भी गया, तो पति को इसके पालन-पोषण में कष्ट होगा; तब उनने ब्राह्मण से प्रार्थना की, कि महाराज ! यह बालक मुझे नहीं छोड़ता है। यदि आप आज्ञा दें, तो मैं इसे भी साथ ले लूँ।

ब्राह्मण— मैं, घर में अकेला नहीं हूँ, किन्तु मेरे यहाँ पुत्र, पुत्र-बधू आदि भी हैं। मैंने, तुम्हें उनसे पूछकर नहीं खरीदा है, इसलिए इसी बात की चिन्ता है, कि वे लोग इस विषय में मुझे न मालूम क्या कहें। अब, यदि इसे और साथ लोगी, तो इसके हठ करने, रोने आदि के समय समझाने-बुझाने, तथा इसके खिलाने-पिलाने आदि में, तुम्हारा बहुत-सा समय जावेगा और तुम काम न कर सकोगी। इसके सिवा, मैं तुम्हे भी खाने को दूँ और इसे भी खाने को दूँ, इस प्रकार दो मनुष्यो का भोजन-व्यय क्यों सहन करूँ?

ब्राह्मण की अन्तिम बात सुनकर, राजा मन-ही-मन कहने लगे—सत्य ! तू अच्छी कसौटी कर रहा है। जिस बालक के सहारे से और सैकड़ों लोग भोजन करते थे, आज उसी बालक का भोजन भी भार हो रहा है।

ब्राह्मण की बात के उत्तर में रानी कहने लगीं—महाराज, यह बालक बड़ा ही विनीत है। हठ करना या रोना तो यह जानता ही नहीं है। आप स्वयं बुद्धिमान हैं, इसके लक्षणों से ही

जान सकते हैं, कि यह बालक कैसा होनहार है। इसके लिए मैं आपसे पृथक् भोजन न लूँगी, आप मेरे लिए जो कुछ देंगे, उसी में से खाकर, यह भी आपका कुछ काम करता रहेगा। कृपा करके, आप इसे ले चलने की आज्ञा दे दीजिये।

ब्राह्मण ने देखा, कि जब यह इसके लिए और भोजन भी न लेगी, बल्कि अपने ही भोजन में से खिलावेगी और यह लड़का बिना भोजन लिए ही मेरा काम भी करेगा, तब साथ चलने का कहने में क्या हर्ज है ? इस प्रकार विचार करके, ब्राह्मण ने रानी को आज्ञा दी, कि तुम उसे अपने साथ ले चल सकती हो। ब्राह्मण की स्वीकृति पा, पुत्र को लेकर रानी ब्राह्मण के साथ चल दी। राजा, खड़े-खड़े तबतक उन्हीं की ओर देखते रहे, जबतक वे आँखों से ओझल न होगई, लेकिन रानी ने, राजा की ओर घूमकर इसलिये न देखा, कि इन्हें मेरे घूमकर देखने से अधिक दुःख होगा।

जाते समय, रानी ने मन-ही-मन यह अवश्य कहा, कि ऐ संसार की स्त्रियो! मेरी दशा से तुम लोग कुछ शिक्षा ग्रहण करो। मैं, वही तारा हूँ, जो कुछ दिन पहले एक विशाल-राज्य के महाराजा की रानी थी। मैंने, पति के वचन की रक्षा के लिए ही, राज्य-सुख त्यागकर कष्ट सहे हैं और अब दासीत्व स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, यदि इससे भी विशेष कष्ट हों तो सहन करूँगी। आज, यदि मैं राज्य-सुख के कारण गृहस्थी के कार्यों को न जानती होती, या जानकर भी करने में लज्जा या आलस्य करती, तो अपने पति की सहायता कभी न कर पाती। आप लोग भी, धन-वैभव के मद में स्त्रियोचित-कार्यों में कभी लज्जा

या आलस्य न करें, अन्यथा आपका जीवन तो कष्टमय होगा ही, लेकिन आप सत्य का भी पालन न कर सकेंगी। इसके सिवा, पति के सत्य की रक्षा के लिए, अपने प्राण तक देने में सङ्कोच न करें। आप लोग, यदि इस बात का ध्यान रखेंगी, तो अपने धर्म का भी पालन करेंगी और संसार में अक्षय-कीर्ति भी प्राप्त करेंगी। अस्तु।

रानी, ने, यद्यपि राजा को बहुत-कुछ धैर्य दिया था, और राजा ने धैर्य धारण भी किया था, लेकिन रानी के आँखों से ओझल होते ही, राजा का धैर्य छूट गया। रानी को दासी बनाना पड़ा, इस दुःख से वे कातर हो उठे और मूर्छित होकर गिर पड़े। पुत्र का वियोग भी उन्हें असह्य हो उठा। वे, भूमि पर पड़कर उसी प्रकार तलफने लगे, जैसे जल से बाहर निकाली जाने पर मछली तलफती है।

विश्वामित्र ने, राजा की इस दुःखावस्था से लाभ उठाना उचित समझा। उनका अनुमान था, कि इस समय यदि मैं राजा से ऋण का तक़ाजा करके, इन्हें कुछ कटु-वाक्य कहूँगा और दूसरी ओर अपराध स्वीकार करने से लाभ का लोभ दूँगा, तो सम्भव है, यह अपना अपराध स्वीकार करले। इस प्रकार विचार कर, विश्वामित्र अपने वाग्बाण द्वारा, हरिश्चन्द्र के दुःखित हृदय को और भी छेदने लगे। वे, कहने लगे—अरे निर्लज्ज ! सूर्य अस्त होना चाहता है, तुझे शेष ऋण देने की चिन्ता नहीं है ? यदि स्त्री-पुत्र इतने प्रिय थे, यदि तू दक्षिणा नहीं दे सकता था, तो फिर तूने किस बल पर हठ की थी ? अब, या तो तू मेरी शेष स्वर्ण मुद्राएँ सूर्यास्त के प्रथम देदे, अन्यथा अपनी हठ छोड़कर

अपराध स्वीकार कर ले। अपराध स्वीकार करता हो, तो मैं ये पाँचसौ मुहरें भी लौटाता हूँ जिससे रानी को फिर छुड़ा ले-शेष पाँचसौ मुहरें भी छोड़ता हूँ और तेरा राज्य भी तुझे लौटाता हूँ।

विश्वामित्र ने, ये बातें कहीं तो थीं किसी और अभिप्राय से, लेकिन फल कुछ और ही हुआ। विश्वामित्र तो विचारते थे, कि मेरी इन बातों से राजा सत्य छोड़ना स्वीकार कर लेगा, लेकिन विश्वामित्र की इन बातों ने, राजा को एक प्रकार की शक्ति प्रदान की। वे, रानी की अन्तिम शिक्षा को याद करके खड़े हो गये और विश्वामित्र से कहने लगे—आप और जो चाहे, वह कटु-वचन कहें, लेकिन सत्य छोड़ने का कदापि न कहें।

परित्यजेच्च त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेतेभ्यां न तु सत्यं कथंचन॥
त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्॥
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मतां।
त्यजेच्छब्दं तथा काशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत्॥
विक्रम वृत्रहा जह्यात् धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
नन्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन॥

अर्थात्—त्रैलोक्य के राज्य पर लात मारना, स्वर्ग-साम्राज्य को परित्याग करना, एवं इनसे भी बढ़कर कोई वस्तु हो, तो उसे भी परित्याग करना मुझे स्वीकार है, परन्तु सत्य से विलग होना मुझे कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। पृथ्वी, जल, वायु, ज्योति

सूर्य, अग्नि, चंद्रमा, ये सब अपने गुण और अपनी प्रकृति को चाहे छोड़ दें, परन्तु मैं सत्य को किसी भी प्रकार न छोड़ूँगा।

महाराज, जिस सत्य के लिए मैंने राज्य देने में भी सङ्कोच न किया, जिस सत्य के लिए स्त्री-पुत्र सहित मैंने वन के कष्ट सहे, जिस सत्य के लिए मैं मजदूर और रानी मजदूरनी बनी, जिस सत्य के लिए मेरी स्त्री बाजार में दासी बनकर बिकी और मैं खड़ा-खड़ा देखता रहा, उस सत्य को क्या अब पाँचसौ मुद्राओं के ऋण से भीत हो, जाने दूँगा? इतने कष्ट तो सह लिए और अब जरा से कष्ट के लिए, क्या मैं अपना सत्य छोड़ सकता हूँ? ऋषिजी, आप ठहिरिये। मैं, आज सूर्यास्त के पहले ही ऋण चुका दूँगा। कैसे चुकाऊँगा, इसके लिए रानी मुझे मार्ग बता गई है, मैं उसी मार्ग का अवलम्बन करूँगा।

विश्वामित्र को, इस प्रकार उत्तर देकर, महाराज हरिश्चन्द्र, रानी के छोड़े हुए घास को अपने सिर पर रख, बाजार में घूम-घूमकर आवाज देने लगे—कि मैं दास हूँ, कोई मुझे खरीद लो।

विशाल-शरीर वाले और सुन्दर दास को बिकते देख, बाजार के लोगों के हृदय में वैसा ही आश्चर्य हुआ, जैसा रानी को बिकते देखकर हुआ था। इन लोगों ने, राजा से उसी प्रकार प्रश्न किये, जैसे रानी से किये थे; लेकिन राजा ने यही उत्तर दिया, कि मैं दास हूँ, मेरी जात-पाँत, मेरा निवासस्थान आदि क्या पूछना? हाँ, यह मैं अवश्य बताये देता हूँ, कि संसार में पुरुषोचित जितने भी कार्य हैं, मैं, उन सब को कर जानता हूँ।

राजा ने, यद्यपि सब काम जानना और करना स्वीकार किया, लेकिन पाँचसौ मुहरें देकर उन्हें खरीदना किसी को भी उचित

न जँचा। सब लोग, मूल्य अधिक बताकर, मुँह बिचकाते हुए चल दिये।

दास-दासी के व्यवसाय के बाजार में, एक-भंगी, इन लोगों के आने के पहले से ही खड़ा था। वह रानी के बिकने का हाल देख चुका था औ राजा तथा विश्वामित्र की आपस में जो बातें हुई थीं, उन्हें भी सुन चुका था। वह मन-ही-मन विचारता था, कि कैसे अच्छे दास-दासी बिकते हैं, परन्तु ये लोग मेरे यहाँ चलना क्यों स्वीकार करेंगे? इसी विचार से वह रानी के बिकने के समय नहीं बोला था और इसी विचार से अब भी चुप है!

लोगो के, इस प्रकार चुपचाप बिना मूल्य लगाये चले जाने से, राजा को बड़ी निराशा हुई। वे, चिन्ता करने लगे, कि क्या मुझे कोई न खरीदेगा? क्या आज सूर्यास्त के पहले मैं अपना ऋण न चुका सकूँगा? यदि ऐसा हुआ, तो इस कलङ्क को रखने के लिये मुझे कहीं स्थान भी न मिलेगा।

भङ्गी खड़ा-खड़ा उन लोगो की मूर्खता को धिक्कारता था, जो राजा का मूल्य अधिक बताकर चले गये थे। वह, इस बात का निश्चय न कर सका, कि यह दास मेरे साथ चलेगा, या नहीं? चले या न चले, मैं तो अपनी ओर से पूछ लूँ, ऐसी दृढ़ता धारण करके, भङ्गी राजा के पास आ कहने लगा—महाशय, मैं भङ्गी हूँ। मेरे यहाँ श्मशान की रखवाली का काम है। यदि आप मेरे यहाँ चलना स्वीकार करें, तो मैं आपको खरीद लूँ।

भङ्गी की बात सुनकर, राजा को रानी की उन बातों का स्मरण हो आया, जो उन्होंने जाते समय राजा से कही थीं। राजा मन में कहने लगे, कि रानी मुझसे कहती ही थीं, कि यदि

मुझे भङ्गी खरीदता, तो मैं उसके यहाँ भी चली जाती। जब वह भङ्गी का दासीत्व स्वीकार करने को तैयार थी, तो मुझे भङ्गी का दासत्व स्वीकार करने में क्या हर्ज है ? मैं, सत्य के हाथ बिक रहा हूँ, भङ्गी के हाथ नहीं।

इस प्रकार विचार कर राजा ने, भङ्गी से कहा, कि मुझे आपका दासत्व स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। आप जो आज्ञा देंगे, मैं उसका पालन करूँगा। आप, मुझे खरीद लीजिये और मेरा मूल्य इन ऋषि को चुका दीजिये।

राजा को, भङ्गी के हाथ बिकने को तैयार देख, विश्वामित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनकी यह अन्तिम आशा भी निराशा में परिणत होगई। राजा का मूल्य न लगने से, विश्वामित्र विचारते थे, कि अब सूर्यास्त में थोड़ा ही समय बाकी है, राजा को कोई खरीदता नहीं है, अतः विवश होकर वह अपना अपराध स्वीकार कर लेगा। लेकिन, जब राजा भङ्गी का दासत्व करने पर भी उतारू हो गया, तब तो विश्वामित्र की सारी आशा मिट्टी में मिल गई। उन्होंने एक बार और प्रयत्न करना उचित समझा। वे, राजा से कहने लगे—क्या भङ्गी के हाथ बिकेगा ?

राजा—मुझे, इस बात को नहीं देखना है, कि मैं किसके हाथ बिक रहा हूँ। मैं तो यह देखता हूँ, कि आपके ऋण से मुक्त हो रहा हूँ। इसके सिवा—

विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शूनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात्—जो पण्डित यानी ज्ञानी हैं, उनकी दृष्टि, विद्या

और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल पर एक-सी रहती है।

इसके अनुसार ब्राह्मण हो या चाण्डाल, सत्य-पालन में मेरे समीप दोनों ही बराबर हैं।

विश्वामित्र—देख, हरिश्चन्द्र, अभी कुछ भी नहीं बिगड़ा है। अब भी समझ जा और अपनी हठ छोड़कर अपराध स्वीकार कर ले। अपराध स्वीकार करने पर, इन सब विपत्तियों से भी छुटकारा पाता है और तेरा राज्य भी तुझे वापस मिलता है।

राजा—बस महाराज, क्षमा कीजिये। आप ऐसों की कृपा से ही सत्यपालन का यह स्वर्ण-अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। ऐसे अवसर को खोने की मूर्खता, मुझ से न होगी।

राजा के इस उत्तर को सुन कर, विश्वामित्र क्रोध करते हुए बोले—अच्छा, ला मुहरें। अभी तुझे नहीं मालूम पड़ता है, लेकिन आगे मालूम होगा, कि हठ का परिणाम कितना भयङ्कर होता है।

विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की बातों से भङ्गी समझ गया, कि यह दास कोई शिष्ट-पुरुष है लेकिन किसी कारण विशेष से अपने आपको बेच रहा है। विश्वामित्र के "ला" कहते ही, उसे भी आवेश हो आया। उसने, विश्वामित्र को पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ देकर राजा से पूछा, कि क्या और दूँ? यदि और भी दिलाना चाहते हो तो अधिक भी देने को तैयार हूँ। हरिश्चन्द्र ने कहा—बस इतनी ही। विश्वामित्र जब मुहरें ले चुके, तब राजा ने हाथ जोड़कर विश्वामित्र से कहा, कि महाराज, अब तो मैं आपके ऋण से मुक्त हुआ, अब कृपा करके आशीर्वाद दीजिये। मैं,

आपसे यही आशीर्वाद चाहता हूँ, कि अवध को प्रजा को कष्ट न हो।

विश्वामित्र, राज्य लेने के समय से ऊपर से तो क्रोध प्रकट कर रहे हैं, लेकिन हृदय से तो राजा की प्रशंसा करके उसे धन्यवाद ही देते हैं। हरिश्चन्द्र की इस बात ने तो, उनके हृदय को और भी नम्र बना दिया। वे, मन-ही-मन कहने लगे—हरिश्चन्द्र, तुझे धन्य है। तूने भङ्गी का दासत्व स्वीकार किया, लेकिन सत्य को छोड़ना स्वीकार न किया। तुझे, जितना भी धन्यवाद दिया जाय कम है।

विश्वामित्र का ऋण चुकजाने पर, राजा को वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता सिर का बोझ उतरने से होती है। उन्होंने, परमात्मा को धन्यवाद दिया, कि हे प्रभो! तेरी ही कृपा से मैं सत्यपालन में समर्थ हुआ हूँ।

हरिश्चन्द्र के ऋणमुक्त होते ही, सूर्य अस्त हो गया। सन्ध्या की लालिमा चारों ओर इस तरह फैल गई, मानो हरिश्चन्द्र की कीर्ति ने अपना रङ्ग फैलाया हो। उसी समय, पश्चात्ताप करते हुए विश्वामित्र एक ओर चले गये और प्रसन्न मन से महाराजा-हरिश्चन्द्र, अपने स्वामी के साथ दूसरी ओर चल दिये।



ब्राह्मण की दासी तारा



संसार में जितने भी अच्छे कार्य हैं, वे कष्टसाध्य चाहे हों, लेकिन उनका भावी परिणाम अच्छा ही होता है। शुभ-कार्य के करने में जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट, कष्ट नहीं, वरन् उस शुभ-कार्य के सफल होने की तपस्या है। बिना कष्ट सहे, शुभ-कार्य कदापि सफल नहीं होते। तप करना, दान देना, सत्य पालना आदि कार्यों के करने में यदि कष्टों का भय किया जाय, तो कर्त्ता इन कार्यों को कभी कर ही नहीं सकता। अब यदि कोई यह कहे, कि कष्ट पाप से होते हैं, धर्म से नहीं; अतः जिन कार्यों से कष्ट हों, वे पाप हैं, तो ऐसा कहनेवाले लोग इस विषय से नितान्त अनभिज्ञ हैं, ऐसा समझना चाहिए। उन्हें इसी पर से विचार लेना चाहिए, कि यदि सद्कार्य बिनाही कष्ट सफल होते हो, तो फिर संसार में बुरे-कार्य शेष ही क्यों रह जायँ? कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो सरलतापूर्वक होनेवाले सद्कार्यों को छोड़-जिस कार्य को अपना आत्मा उचित बताकर करने की आज्ञा देता है उसे त्याग-कष्ट सहने के लिये पाप करेगा? कौन

ऐसा होगा, जो सुख मिलनेवाले अच्छे कार्यों को न करके, दुःख मिलनेवाले बुरे-कार्यों को करेगा ? इसके सिवा यदि कष्ट होने के कारण सद्‌कार्य पाप कहे जायँगे, तो उन कार्यों को, जिसमें कष्ट नहीं होता, अपितु सुख होता है, धर्म मानना पड़ेगा। लेकिन यह बात नहीं है। ससार में, बुरे कार्य भी सुख की आशा से किये जाते हैं और लोग उन कार्यों में भी सुख मानते हैं। जैसे व्यभिचार करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि दुष्कार्यों को सभी बुरा कहते हैं, लेकिन इनका करनेवाला इनमें सुख मानता है। यदि वह इनमें सुख न माने, तो इन्हें करे ही क्यों ? क्योंकि संसार में प्रत्येक प्राणी जो कुछ भी करता है, सुख के लिए ही करता है। यह बात दूसरी है, कि वह भ्रमवश दुःख के कारण को सुख और सुख के कारण को दुःख मानता हो; लेकिन उसकी अभिलाषा सुख की ही रहती है। जैसे-योगी लोग योग में सुख मानते हैं, लेकिन भोगी लोग भोग में। जिन कामो के करने में काम का करनेवाला अपने आपको सुखी मानता हो, वे काम न तो नितान्त अच्छे ही हो सकते हैं, न नितान्त बुरे ही। इसी प्रकार जिन कार्यों को करते समय कर्त्ता को दुःख होता हो वे, काम भी न तो नितान्त बुरे ही हो सकने हैं, न नितान्त अच्छे ही। कार्य की अच्छाई या बुराई उसके फल पर निर्भर है। कार्य के करते समय होनेवाले सुख-दुःख को देख या अनुमान करके कार्य की अच्छाई-बुराई नहीं कही जा सकती। जैसे, दुराचार करते समय, उसका कर्त्ता उसमें सुख मानता है, लेकिन उसका फल इस लोक में ही शरीर की दुर्बलता, हृदय की मलिनता आदि के रूप में प्राप्त होता है, और परलोक में

भी वह दण्ड पाता है। इसी प्रकार योग-साधन में, साधना के समय तो कष्ट होता है, लेकिन उसका फल इस लोक और परलोक दोनों ही जगह लाभप्रद है। साधन के पश्चात्, साधक स्वयं अपने आपको इस लोक में ही सुखी मानता है। तात्पर्य यह, कि कार्य के करते समय होने वाले सुख-दुःख से, यह नहीं कहा जासकता, कि यह कार्य धर्म है या पाप, किन्तु उसके फल के दुःख-सुख पर से इस बात का निर्णय हो सकता है।

हरिश्चन्द्र और तारा ने जो कुछ किया है, वह सुख की अभिलाषा से। अब, इस सुख की अभिलाषा में, वे लोग जो कार्य कर रहे हैं, उसमें कष्ट अवश्य हो रहा है, लेकिन इसका अन्तिम फल सुख ही है। हरिश्चन्द्र को कष्ट हो रहा है, इस कारण से उनका सत्यपालने और राज्य देने का कार्य, तथा तारा का पतिसेवा का कार्य, पाप नहीं कहा जासकता। ये कष्ट तो, सत्यपालन में उसी प्रकार के काँटे हैं, जो गुलाब का फूल प्राप्त करते समय हाथों में लगा करते हैं। अब, यदि कोई मनुष्य काँटे लगने के कारण गुलाब के उस फूल को, जिसमें सुगन्धि और कोमलता का गुण है, दुर्गन्धियुक्त और कठोर कहे, तो यह कैसे उचित कहा जासकता है? इसी प्रकार कष्ट होने के कारण, सत्य दान और पति-सेवा जिनका फल अच्छा है-पाप कैसे कहे जा सकते हैं? यदि ये पाप ही हो, तो फिर हरिश्चन्द्र को पुनः उनका राज्य मिलने और इन्द्रादि देवताओं के प्रार्थना व प्रशंसा करने आदि के सुख, किस धर्म के फल कहे जाँयगे? इससे प्रकट है, कि सद्कार्य कष्टसाध्य चाहे हों, लेकिन उनका फल सुखप्रद है, अतः सद्कार्य धर्म है और दुष्कार्यों के करने में सुख चाहे मिलता

हो लेकिन उनका फल दुःखप्रद है, अतः वे पाप हैं।

हरिश्चन्द्र और तारा, सत्यरूपी गुलाब के पुष्प के लिये ही दुःखरूपी काँटे सह रहे हैं। इसीलिये उन्होंने सहर्ष राज्य त्याग दिया, मजदूरी करने में भी उन्हें कुछ लज्जा न हुई और विकने में भी प्रसन्न ही रहे। उनका ध्येय तो सत्यपालन है। सत्यपालन में उन्हे कितने भी कष्ट हों, वे उन कष्टों को सहने के लिए तैयार हैं।

ब्राह्मण के हाथ विककर, रोहित को लिये हुए तारा उसके घर आई। ब्राह्मण ने, अपनी स्त्री, पुत्रवधू आदि से तारा को बताकर कहा, कि मैं यह दासी लाया हूँ।

ब्राह्मण के घर की स्त्रियें, तारा के रूप-सौन्दर्य को देख आश्चर्य में पड़ गईं, कि जिसकी आकृति ही उसके बड़प्पन की सूचक है, वह दासी कैसे हुई? उन्होंने इस विषय में ब्राह्मण से पूछा, लेकिन ब्राह्मण ने उत्तर दिया, कि मैं स्वयं ही इस बात से अनभिज्ञ हूँ। जो प्रश्न तुम्हारे हृदय में उठा है, वही प्रश्न मेरे हृदय में भी उठा था, और मैंने इससे पूछा भी था, लेकिन इसने अपना परिचय नहीं बताया। परिचय बतावे या न बतावे, आकृति से यह अपने घर के उपयुक्त जान पड़ी, अतः ले आया। इसके लक्षणों से जान पड़ता है, कि यह गुणवती है। इससे गृह-कार्य कराना और देखना, कि यह विश्वास करने योग्य है या नहीं।

ब्राह्मण ने, तारा को रहने के लिए एक छोटी-सी खोली बतादी और बिछाने के लिए एक छोटी-सी चटाई दे दी। घर पहुँचते-पहुँचते रात हो चुकी थी, इसलिए ब्राह्मण ने दया करके,

तारा से उस रात कुछ काम न लिया और उन्हे विश्राम करने की आज्ञा दी।

उस छोटी-सी खोली में, तारा ने ब्राह्मण की दी हुई चटाई बिछाकर रोहित को सुला दिया और स्वयं भी पतिवियोग और उनके कष्ट की चिन्ता करती हुई पड़ रहीं। वे विचार करने लगीं, कि जैसी खोली में मैं धर्मशाला में रहती थी, वैसी ही यहाँ भी है, वहाँ तो जमीन पर ही सोती थी, लेकिन यहाँ चटाई भी है। रोहित जो नित्य मेरे पास सोता था, वह भी मेरे पास ही है। सूर्य भी वही है, चन्द्र भी वही है, ग्रह, तारे, आकाश, पृथ्वी आदि भी वही हैं, और मैं भी वही हूँ. परन्तु विना पति के ये सब अच्छे नहीं लगते। मैं धर्मशाला से यहाँ किसी प्रकार दुःख में नहीं हूँ, लेकिन वहाँ नाथ थे, उनका मुखचन्द्र देखा करती थी, यह सुख था, जो यहाँ नहीं है। मैं, अपने ऋण से मुक्त होकर तो चली आई, लेकिन स्वामी पर न मालूम क्या बीती होगी। मुझ-सी अभागिनी कौन होगी, जो ऐसे समय में पति-सेवा से वञ्चित है। अबतक तो मैं स्वामी की सेवा किया करती थी, उनके भोजनादिक की व्यवस्था रखती थी, और दुःख से घबराने पर उन्हे धैर्य दिया करती थी; किन्तु अब ये कार्य कौन करेगा ?

इस प्रकार विचारते-विचारते, रानी गम्भीर चिन्ता-सागर में डूब गई। कुछ देर तो वे इसी प्रकार चिन्ता-निमग्न रहीं, लेकिन थोड़ी देर बाद उन्हें ध्यान आया, कि पति को तो मैं शिक्षा देती थी, परन्तु मुझे ही वियोगाग्नि ने जलाना प्रारम्भ कर दिया ! मैं, जिस सत्य का प्रभाव बतलाकर स्वामी को धैर्य बँधाती थी, क्या वह सत्य अब उनकी सहायता न करेगा ? ऐसा कदापि नहीं हो

सकता। यह निश्चित है, कि सत्य उनकी सहायता अवश्य करेगा। मुझे, इस प्रकार की चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। अब भी वही सत्य हम लोगों का रक्षक है। इसके सिवा-मेरे चिन्ता करने से कुछ लाभ तो होगा नहीं, हाँ, हानि अवश्य होगी। इस प्रकार चिन्ता करने से शरीर तथा बल क्षीण होगा और मेरे क्रयी को मैंने जिन कार्यों के करने का विश्वास दिलाया है, उन कार्यों को न कर सकूँगी। इस प्रकार, मैं उस सत्य से भ्रष्ट हो जाऊँगी, जिसके लिए इतने कष्ट सहे हैं।

इस प्रकार हृदय में धैर्य धारणकर, तारा उसी चटाई पर सो गई। नियमानुसार, थोड़ी-सी नींद लेकर, वे सूर्योदय से पहले ही उठ बैठीं और परमात्मा का स्मरण करने लगीं। वे कह रही हैं—हे प्रभो, तेरी ही कृपा से मुझ में इतना धैर्य है, जो मैं इन कष्टों को सहन कर रही हूँ। यदि तेरी सहायता न होती, तो इन कष्टों के समय धैर्य छूट जाना स्वाभाविक था। मैं, तुझे धन्यवाद देती और प्रार्थना करती हूँ, कि सत्य के पालन में जितने भी कष्ट हों, उनको सहन करने की मुझ में शक्ति रहे।

परमात्मा की प्रार्थना करके तारा, ब्राह्मण के घर पहुँची। ब्राह्मण के घर के किवाँड़ उस समय न खुले थे, वहाँ सब लोग अभी सो ही रहे थे। तारा के किवाँड़ खटखटाने पर उन लोगों ने किवाँड़ खोले। तारा को सामने खड़ी देख, वे लोग आश्चर्य के साथ कहने लगे, कि दासी, तू अभी से आगई? तू इतनी जल्दी उठती है?

तारा—मैं दासी हूँ। मेरा कर्त्तव्य है, कि मैं स्वामी के उठने से पहले उठकर उन कार्यों को कर डालूँ, जो पहले ही हो जाने

चाहिएँ। आपलोग मालिक हैं, आपकी समता करके यदि मैं भी देर तक सोती रहूँ, तो काम कैसे चले ?

तारा ने पहले ब्राह्मण के घर, पशु-शाला आदि को झाड़कर साफ कर दिया। पश्चात् रात का शेष पानी छानकर और पानी लाई और फिर वर्त्तन साफकर, रसोई बनाने लगीं। तारा की बनाई हुई रसोई खाकर, ब्राह्मण के घर के सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। वे कहने लगे, कि यह दासी क्या,एक लक्ष्मी आई है। घर के सब काम इसने किस चतुरता से किये हैं, और रसोई भी कैसी अच्छी बनाई है ! रसोई बनाने की सामग्री तो वही है, जिससे नित्य रसोई बनती थी, लेकिन आजकी रसोई में जो स्वाद आया है, वह कभी न आया था।

रसोई आदि कार्यों से निबटकर, तथा स्वयं भी खा-पीकर, तारा ब्राह्मण की स्त्रियों को उनके हृदय को प्रसन्न करनेवाली शिक्षाप्रद बातें और गाने सुनाने लगीं। ब्राह्मण के घर की स्त्रियें तारा के गायन तथा उनकी बातों से बड़ी प्रसन्न हुईं और तारा की प्रशंसा करने लगीं।

तारा, गृहस्थी के सब कार्यों को दक्षता पूर्वक करतीं। प्रत्येक वस्तु को स्वच्छ और यथास्थान रखतीं। पशुओं से भी वह ऐसा प्रेम करतीं, और उनकी ऐसी व्यवस्था करतीं, कि घी-दूध की भी वृद्धि होगई। इस प्रकार अपनी कार्य दक्षता से, तारा ने ब्राह्मण के यहाँ के सब लोगों की सहानुभूति प्राप्त करली।

तारा के, कुछ दिन तो ऐसी ही शांति से बीते, लेकिन अभी उनकी परीक्षा बहुत-कुछ शेष है। अभी, उन पर विपत्ति के बादल और भी मँडरा रहे हैं।

ब्राह्मण का युवक-पुत्र, तारा के सौंदर्य और उनकी चातुरी पर मुग्ध हो गया। वह विचारने लगा, कि यह दासी शृंगार के बिना ही इतनी सुन्दर जान पड़ती है, तो शृंगार करने पर कितनी सुन्दर जान पड़ेगी ? अतः इस स्त्री-रत्न को तो अपना लेना ही उचित और बुद्धिमानी है।

ब्राह्मणपुत्र के हृदय में, तारा को अपनी प्रेयसी बनाने की अभिलाषा दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। वह, तारा के साथ इसी अभिलाषा को लिये हुए बातचीत करने लगा। तारा, हज़ारों स्त्री-पुरुषों को देख चुकी थीं, इससे वे ब्राह्मण-पुत्र की दृष्टि को ताड़ गईं और उससे बचकर रहने लगीं। वे, ब्राह्मणपुत्र से न तो दृष्टि ही मिलातीं, न अनावश्यक बातचीत ही करतीं। ब्राह्मण-पुत्र ने जब देखा, कि यह दासी, मेरी ओर देखती भी नहीं है, न मुझसे बातचीत ही करती है, तब उसने तारा को लोभ द्वारा अपने वश में करने का उपाय सोचा।

संसार में, जो मनुष्य निर्लोभी है, जिसकी लोभवृत्ति शांत है, उस मनुष्य को कोई भी अपने धर्म और कर्त्तव्य से विमुख नहीं कर सकता। धर्म से हटाकर पाप में प्रवृत्त करनेवाला, लोभ ही है, फिर वह लोभ चाहे जिस प्रकार का हो। लोभ के ही कारण लोग धर्म से पतित हो जाते हैं। लेकिन वे तारा, जिन्होंने धर्म के लिये राज्य-सुख और पति-सुख का भी लोभ नहीं किया, थोड़े से लोभ पर कैसे आसक्त हो सकती थीं ? लोभ को तो उन्होंने पहले ही जीत लिया था, इसीसे वे अपने पति के सत्य की रक्षा और अपने कर्त्तव्य के पालन में समर्थ हो सकी थीं। अस्तु।

ब्राह्मणपुत्र, एक अच्छी-सी साड़ी लाकर, तारा को दे, कहने

लगा, कि तुम इस साड़ी को पहना करो, ये मोटे-कपड़े तुम्हारे शरीर पर शोभा नहीं देते। तारा, ब्राह्मणपुत्र की दृष्टि को पहले ही ताड़ चुकी थीं, इसलिये उन्होंने साड़ी लौटाते हुए उत्तर दिया, कि आप यह साड़ी मालकिन को दीजिये। हम दासी हैं, हमें महीन और अच्छे कपड़े पहनना इसलिए उचित नहीं है, कि इनसे आलस्य पैदा होता है और आलस्य से स्वामी के कार्य में बाधा होती है। हमें तो मोटा-कपड़ा पहनना ही उचित है।

तारा के उत्तर को सुनकर, ब्राह्मणपुत्र को कुछ निराशा हुई। वह विचारने लगा, कि मैं सोचता था, कि यह इस साड़ी पर ललचा जायगी, लेकिन इसने तो इस साड़ी को ठुकरा दिया।

ब्राह्मणपुत्र, निराश होकर भी, अपनी अभिलाषा की पूर्ति के उद्योग में लगा रहा। वह, कभी-कभी तारा या रोहित को अच्छे-अच्छे पकवान और कुछ रुपये पैसे देने लगता, परन्तु उन्हे न तो रोहित ही लेता, न तारा ही। पकवानादि के लिये तारा तो कह देतीं, कि हमें पकवान की जगह मोटा-अनाज खाना उचित है, पकवान आप मालकिन को खिलाइये। तथा जब आपके यहाँ से भोजन-वस्त्र मिलता ही है, तब रुपये-पैसे की हमें क्या आवश्यकता है? उधर रोहित कह देता, कि मेरा भोजन माता के ही भोजन में है, अलग नहीं। जब मैं भोजन भी नहीं ले सकता, तब रुपये-पैसे क्योंकर ले सकता हूँ?

लोभ द्वारा तारा को अपने वश करने के उपाय में भी, जब ब्राह्मणपुत्र-असफल रहा, तब उसने धर्म का आश्रय लिया। वह, एकांत में पुस्तकें खोलकर बैठ जाता और तारा से कहता, कि दासी, आओ तुम्हें धर्म सुनाऊँ।

दुष्ट लोग, धर्म को भी दुराचारों की ढाल बनाते हैं। अनेकों ऐसी घटनाएँ आज भी सुनने में आती हैं, जिनमें धर्म के नाम पर या धर्म की ओट में दुराचार किया गया हो। भोले-भाले लोग, धर्म-वेशधारी लोगों पर विश्वास करके उनके चक्कर में आजाते हैं, लेकिन केवल वेश पर विश्वास करलेना भी, बुद्धिमानी नहीं है। तुलसीदासजी ने कहा है:—

तुलसी देखि सुवेश, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकी पेख, वचन अमियसम अशन अहि॥

अर्थात्—केवल अच्छे वेश को देखकर, मूढ़लोग धोखा खाते हैं, चतुर लोग नहीं। अच्छे वेशधारियों में भी क्या दुर्गुण हो सकते हैं, इसके लिये मोर को देखो। मोर, देखने में कैसा सुन्दर होता है, उसकी वाणी भी अमृत के समान होती है, किंतु यह सबकुछ होते हुए भी उसका भोजन साँप है। अर्थात्, वह ऐसे कठोर हृदयवाला है, कि जीवित सर्प को भी खाजाता है।

सारांश यह, कि धर्म-वेशधारी का भी, परीक्षा किये बिना एक दम अविचारपूर्वक विश्वास कर लेने से, धोखा होने की संभावना रहती है। कभी-कभी ऐसे धोखे में पड़कर, मनुष्य धर्म-भ्रष्ट भी हो जाता है। अस्तु।

ब्राह्मणपुत्र, तारा को धर्म-कथा सुनाने के लिए बुलाता; लेकिन तारा उससे कह देती, कि धर्म सुनने की आवश्यकता उसके लिए है, जो धर्म न जानता हो। मेरा धर्म आप लोगों की सेवा करना है, जिसे मैं समझती और करती हूँ! मुझे धर्म सुनने की आवश्यकता नहीं है, न मेरे पास इतना समय ही है, कि मैं धर्म सुन सकूँ।

ब्राह्मणपुत्र, जब इस उपाय से भी तारा को अपनी ओर

आकर्षित करने में असमर्थ रहा, तब वह और कोई उपाय सोचने लगा। उसने विचारा, कि स्त्री का प्रेम अपने पुत्र पर अधिक रहता है। पुत्र के होते हुए, वह किसी भी बात की अपेक्षा नहीं करती। इस दासी की भी यही दशा है। इसका भी प्रेम इसके पुत्र पर ही है। मुझसे और इससे प्रेम होने देने में, यह पुत्र ही बाधा है। किसी प्रकार यह दूर हो जाय, तब मैं अपने कार्य में सफल हो सकूँगा।

रोहित को, अपने मनोरथ का बाधक समझ, ब्राह्मणपुत्र उसे कष्ट देने लगा। वह, कभी तो, रोहित से ऐसे काम करने को कहता, जिन्हें कर सकना रोहित के सामर्थ्य की सीमा से बाहर की बात होती, कभी किसी बहाने उसे इधर-उधर भटकाता, कभी धमकाता कभी मारता और कभी चुटकी काटता। रोहित, एक तो वैसे ही तेजस्वी का बालक था, दूसरे होनहार था और परिस्थिति को समझने लगा था। इसी कारण, वह ब्राह्मणपुत्र के अत्याचारों को चुपचाप सह लेता। लेकिन, तारा को अपने पुत्र पर ब्राह्मणपुत्र द्वारा अत्याचार होते देख दु:ख होता। एकदिन उन्होंने ब्राह्मणपुत्र से नम्रतापूर्वक प्रार्थना की, कि यह रोहित अभी बालक है। आप इससे जो काम कहा करते हैं, उनके करने में यह असमर्थ है। इसके सिवा, आपके यहाँ मैं काम करने आई हूँ, सो मैं काम करती ही हूँ। यह बालक, मेरे ही भोजन में से भोजन खाता है, इसकेलिए मै भोजन भी पृथक् नहीं लेती हूँ, ऐसी अवस्था में आपका इसे कष्ट देना उचित नहीं है। यह बात दूसरी है, कि रोहित अपनी इच्छा से स्वयं काम करे, लेकिन इस प्रकार इस पर अत्याचार करना, न्यायोचित-कार्य नहीं कहला सकता।

कृपा करके, आप इस बालक पर दया रखिये और इसे कष्ट न दीजिये।

ब्राह्मणपुत्र ने, तारा की इस प्रार्थना के उत्तर में कहा—मैं, जब अच्छा खाना और अच्छा कपड़ा आदि देता हूँ, तुम्हें धर्म-कथा सुनाने के लिए बुलाता हूँ, तब तो तुम अकड़ी-अकड़ी फिरती हो और अब ऐसा कहती हो ?

तारा—आप मुझे जो कुछ देना चाहते थे, वह आपकी कृपा थी, लेकिन मैंने उन्हे नहीं लिया, तो इसमें मेरी ही हानि हुई, आपकी क्या हानि हुई, जो आप क्रुद्ध हों ?

ब्राम्हणपुत्र, तारा की इन बातों से कुछ क्रुद्ध हो उठा। उसने, अपने घर की स्त्रियों से कहा, कि दासी के लिये जो भोजन दिया जाय, वह मुझे बताकर दिया जाय। यह स्वयं कहती है, कि ज्यादा खाने से आलस्य पैदा होता है, जिससे स्वामी के कार्य में बाधा पहुँचती है। अतः इसे ज्यादा और अच्छा भोजन देना ठीक नहीं है।

तारा को, अबतक एक मनुष्य के खाने इतना भोजन मिलता था और उसीमें वे पुत्र सहित अपना निर्वाह करती थीं। लेकिन, ब्राह्मणपुत्र अब इतना भोजन देने लगा, कि जिससे एक मनुष्य की क्षुधा भी पूर्णतया न मिट सके। तारा, भोजन लाकर, रोहित को खाने के लिए बैठा देतीं। रोहित, स्वभावानुसार माँ से भी खाने को कहता, परन्तु तारा उसे समझा देतीं, कि तुम खालो, फिर मैं सब भोजन खा लूँगी। कभी-कभी, जब रोहित हठ करके कहता, कि यदि तुम न खाओगी, तो मैं भी न खाऊँगा, तब

तारा छोटे-छोटे ग्रासों से खाने लगतीं। धीरे-धीरे रोहित समझता चला, कि मेरी माता मेरे लिए भूखी रहती है।

ब्राह्मणपुत्र, तारा को कम भोजन देकर भी शान्त न हुआ। वह, उनसे अधिकाधिक काम लेने लगा। एक दिन, उसने तारा को गङ्गा से जल भर लाने की आज्ञा दी। तारा, मालिक की आज्ञा उल्लंघन करना तो जानती ही न थीं, इसलिये वे घड़ा लेकर गंगा को जल भरने गईं।

जिन रानी को, पीने के लिये भी हाथ से जल नहीं लेना पड़ता था, उन्हीं रानी को, आज स्वयं नदी से जल भरने जाना पड़ रहा है। लेकिन, ये सब, वे सत्य के लिए कर रही हैं, इसलिए उन्हें इसका किञ्चित भी दु:ख नहीं है।



भङ्गी के दास हरिश्चन्द्र

संसार में, सेवा के बराबर कोई कठिन कार्य नहीं है। जो मनुष्य अपने आत्मा का अच्छी तरह दमन कर सकता है, स्वामी की इच्छा के अनुसार अपने स्वभाव को बना सकता है, वही सेवाधर्म का पालन कर सकता है, दूसरा नहीं। सेवाधर्म कितना कठिन है, इसके लिए भर्तृहरि कहते हैं.—

मौनान्मूकः प्रवचनपटूश्चाटुको जल्पको वा।
धृष्टः पार्श्वे वसतिच तदा दूरतश्चाप्रगल्भः॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभि जातः।
सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात्—सेवक यदि चुप रहता है, तो स्वामी उसे गूँगा, बोलता है तो बकवादी, पास रहता है तो ढीठ, दूर रहता है तो मूर्ख, सह लेता है तो डरपोक और नहीं सहता है तो उसे नीच-कुल का कहता है। मतलब यह, कि सेवा-धर्म बड़ा ही कठिन है, योगियों के लिए भी यह अगम्य है।

सेवा के नाम से घबराकर एक और कवि कहते हैं:—

चाहे कुटी अति घने वन में बनावे,
चाहे बिना निमक कुत्सित अन्न खावे।
चाहे कभी नये पट भी न पावे,
'सेवा' प्रभो पर न तू पर की करावे॥

अयोध्या ऐसे विशाल-राज्य के स्वामी, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा, इस समय इसी कठोर सेवाधर्म का पालन कर रहे हैं। उनके हृदय में क्या-क्या विचार होते होंगे, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन जिसके स्वयं के समीप कभी हज़ारों सेवक रहते हो और फिर उन्हे स्वयं ही सेवक बनना पड़े, ऐसी स्थिति में उनके हृदय में क्या-क्या भाव उत्पन्न हो सकते हैं, यह अनुमान से जाना जा सकता है। परन्तु, इनकी इस स्थिति के विषय में जिस कष्ट का अनुमान किया जा सकता है, इन दोनो को वह कष्ट उस रूप में अनुभव नहीं होता। वे तो यही समझते हैं, कि ये कष्ट सत्य के चले जाने के कष्ट से कहीं लाख दर्जे अच्छे हैं। हमें तो कष्ट तब हो सकता है, जब हमारा सत्य न रहे। जबतक हमारा सत्य बना हुआ है, तबतक हमें कोई कष्ट नहीं है। जिस प्रकार एक तपस्वी को तपस्या करते देख, और लोग तो समझते हैं, कि इन्हें कष्ट हो रहा है, ये कष्ट सह रहे हैं, लेकिन तपस्वी से पूछने पर वह यही कहेगा, कि मुझे कोई कष्ट नहीं है, मैं तो तपस्या कर रहा हूँ। ठीक यही बात राजा और रानी के विषय में भी है। देखने-सुनने वाले तो समझते हैं, कि इन्हें कष्ट हो रहा है, लेकिन वे कह रहे हैं, कि हमें कष्ट तब है, जब हमारा सत्य न रहे। जबतक हममें सत्य है, तबतक हमें कोई कष्ट नहीं है। अस्तु।

भंगी से विश्वामित्र को पाँचसौस्वर्ण मुद्राएँ दिला और विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होकर, महाराजा हरिश्चन्द्र, भंगी के साथ उसके घर आये। उनके हृदय में,न तो किसी प्रकार की ग्लानि है, न सङ्कोच। विश्वामित्र के ऋग मे मुक्त हो जाने के कारण, उनका चित्त प्रसन्न है और वे परमात्मा को अनेकों धन्यवाद देते हैं, कि तेरी कृपा से मेरा सत्य रह गया। तारा के हृदय में जो वीरता तथा धीरता थी, उसने मुझे जो शिक्षाएँ दी थीं, वह तेरी ही कृपा थो। तेरी ही कृपा से, तारा ऐसी स्त्री मिली, जिसने मुझे सत्य पर स्थिर रखा।

घर आकर, भगी ने अपनी स्त्री से कहा कि ये विपद्ग्रस्त सत्पुरुप अपने यहाँ आये हैं। इनको नौकर न समझकर जो कुछ बने, इनकी सेवा करना और इनके साथ कभी अनुचित व्यवहार न हो, इसका ध्यान रखना। किसी कवि ने कहा है, कि हंस का तो दुर्भाग्य है, जो उसे तलैया पर आना पड़ा, लेकिन तलैया के तो सद्भाग्य ही हैं, कि उसके यहाँ मान-सरोवर पर रहने वाला हंस मिहमान आया है। इसी के अनुसार इन सत्पुरुप के तो दुर्भाग्य हैं, जो इन्हें अपने यहाँ आना पड़ा, परन्तु अपने तो सद्भाग्य ही हैं, जो ऐसे पुरुप अपने यहाँ आये हैं।

भंगी ने, अपनी स्त्री को यद्यपि राजा के विपय में अच्छीतरह समझाया, लेकिन कर्कशा-स्त्रियों पर ऐसे समझाने का क्या प्रभाव हो सकता है? भंगिन का स्वभाव कर्कश था, इसलिए पति के समझाने पर, जहाँ उसे राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी, वहाँ वह अपने पति के समझाने का उल्टा ही अर्थ करने लगी। वह कहने लगी, कि जब इससे काम नहीं लेना था,

सो पाँचसौ मुहरें खर्च करके क्या इसे सूरत देखने को खरीदा है ? मेरे आभूषणादि के लिये तो पाँचसौ मुहरें खर्च नहीं होतीं, और इस पापी के लिये अकारण ही पाँचसौ मुहरें खर्च करदीं !

कर्कश-स्वभावानुसार भगिन, अपने पति पर क्रुद्ध हुई । भंगी ने, उसे पुनः समझा बुझाकर और डाट-फटकार दिखाकर शान्त किया ।

भंगी के यहाँ राजा के कुछ दिन इसी प्रकार बीते । राजा, अपने स्वामी भंगी से कहा करते कि आप मुझे काम बतलाइये । बिना काम किये, न तो मेरा समय ही शान्ति से बीतता है, न ऐसा करना दास-प्रथा के अनुकूल ही है । लेकिन भंगी, राजा को यही उत्तर देता, कि बस, आप बैठे रहा कीजिये और जहाँ इच्छा हो, वहाँ घूमते रहिये, तथा समय-समय पर आपके मुख से मुझे दो शब्द सुना दिया कीजिये, यही आपका काम है ।

राजा, भगिन से भी काम माँगा करते, लेकिन भंगिन काम देने की जगह और कुड़कुड़ाने लगती । एक दिन, राजा के काम माँगने पर भंगिन ने, क्रोधावेश में राजा को घड़ा लेकर पानी भर लाने की आज्ञा दी । राजा, बड़े ही प्रसन्न हुए, कि क्रोधित होकर भी मालकिन ने काम तो बताया । वे, हर्ष-सहित घड़ा उठाकर पानी भरने चलदिये और उसी पनघट पर पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणपुत्र की भेजी हुई तारा, जल भरने आई थीं ।

सच्चे-प्रेमी, कभी-न-कभी, किसी-न किसी अवस्था में मिल ही जाते हैं । यदि हृदय में सच्चा प्रेम है, तो वह प्रेमी से अवश्य मिल जाता है । परमात्मा से जिसका प्रेम सच्चा है, उसे परमात्मा न मिले, यह बात असम्भव है । सच्चे-प्रेम वाला, परमात्मा

से मिलता ही नहीं, किन्तु मिलकर उसी में लीन हो जाता है। सारांश यह कि जिस वस्तु से सच्चा और निष्काम प्रेम है, वह वस्तु अवश्य मिल जाती है। इसी के अनुसार, वे राजा और रानी, जिन्हें एक दूसरे की खबर भी न थी कि कहाँ हैं, तथा इस बात की आशा भी न थी, कि फिर कभी एक दूसरे को देख सकेंगे, आज अनायास ही पनघट पर मिल गये।

पति पत्नी ने,एक-दूसरे को देखा। प्रेमी के दर्शन होने पर कितना आनन्द होता है, इस बात को प्रेमी ही जानते हैं, दूसरा नहीं बता सकता। इसीके अनुसार राजा और रानी को भी एक दूसरे को देखकर आनन्द हुआ। इस आनन्द के साथ ही, यह विचार कर विषाद भी हुआ, कि जो राजा थे और जो रानी थीं, उन्हें आज पानी भरना पड़ रहा है। लेकिन, दर्शन के आनन्द ने इस विषाद को दबा दिया।

पति-पत्नी ने, एक-दूसरे के कुशल समाचार पूछे। रानी ने, राजा से, विश्वामित्र का शेष ऋण कैसे चुकाया, यह पूछा। राजाने उत्तर दिया, कि तुम्हारे बतलाये हुए मार्ग पर चलकर, मैंने शेष ऋण चुका दिया। तुमने, मानों भविष्य जानकर ही यह कहा था, कि सत्य के लिए मैं भगी के यहाँ भी बिक सकती हूँ। तुम्हारे निर्देशानुसार, मैंने भगी के यहाँ बिककर ऋण चुकाया है।

पति-पत्नी, दोनों के हृदय में अपार आनन्द है। वे, इस आनन्द का कारण, स्वामी-आज्ञा-पालन को मानकर,अपने-अपने क्रयी की प्रशंसा कर रहे हैं। राजा विचारते हैं, कि यदि मालकिन मुझे पानी भरकर लाने की आज्ञा न देती, तो रानी से मिलने का आनन्द मुझे कहाँ से प्राप्त होता ? इसी प्रकार रानी विचारती

हैं, कि यदि मालिक मुझे पानी भरने न भेजते, तो यह पतिदर्शन का आनन्द, जो मुझे प्राप्त हुआ है, कैसे प्राप्त होता ? और पति के विषय में—उन्होंने शेष ऋण कैसे चुकाया होगा, तथा वे कहाँ और किस दशा में होंगे—आदि जो चिन्ताएँ थीं, वे कैसे मिटतीं ? यह सब आनन्द, अपने क्रयी की आज्ञा-पालन का ही फल है।

हर्ष-विषाद मग्न दम्पति कुछ देर तक इसी प्रकार बात चीत करते रहे। पश्चात्, तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा—नाथ, यद्यपि आप से दूर होने की इच्छा तो नहीं है, लेकिन जिस प्रकार आप स्वतन्त्र नहीं, किन्तु परतन्त्र हैं, उसी प्रकार मैं भी परतन्त्र हूँ। पानी भरने के लिए आये देर हो चुकी है, अतः अब अधिक देर करना मालिक को धोखा देना है।

रानी की बात का राजा ने भी समर्थन किया और कहा, कि अच्छा, तुम भी जाओ और मैं भी जाता हूँ। यदि जीवित हैं, तो फिर कभी मिलेंगे ही।

राजा और रानी, दोनों ने अपने-अपने घड़े जल से भरे। रानी, ब्राह्मण के घड़े लेकर आई थी इसलिये पनघट पर उपस्थित स्त्रियों ने उन्हे तो घड़े उठवा दिये, लेकिन राजा भङ्गी का घड़ा लेकर आये थे, इसलिए उनका घड़ा किसी ने न उठवाया। राजा को पानी भरने का यह पहला ही दिन था। वे, घड़ा उठाने में अभ्यस्त न थे। उन्होंने, रानी से घड़ा उठवा देने के लिए कहा, लेकिन रानी ने उत्तर दिया—नाथ, मुझे आपसे किसी प्रकार की घृणा नहीं है-आप, मेरे रोम-रोम में बस रहे हैं लेकिन, मैं ब्राह्मण के घड़े लेकर आई हूँ और आप भङ्गी का घड़ा लेकर आये हैं, इसलिए, मैं बिना स्वामी की आज्ञा के, आपको

घड़ा चढ़ाने में असमर्थ हूँ। आप, इस घड़े को लिए हुए जल में चले जाइये। जल में वस्तु भारी नहीं जान पड़ती। वहाँ झुककर, आप इसे अपने कन्धे पर रख लीजिये।

रानी की बात सुनकर, राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। वे कहने लगे, यदि तुम आज मुझे सेवा-धर्म को छोड़कर घड़ा चढ़ा भी देतीं, तो मेरे लिए भविष्य का कष्ट फिर बाकी रह जाता। लेकिन यह युक्ति बताकर, तुमने इस विषय में सदा के लिये मेरा मार्ग साफ कर दिया और अपना धर्म भी बचा लिया।

पति-पत्नी, अपने-अपने घड़े उठाकर चल दिये। राजा को, आज मालकिन द्वारा कार्य मिलने और विपत्ति के समय, बहुत दिनों की बिछुड़ी हुई पत्नी के दर्शन होने से बड़ी प्रसन्नता है। लेकिन, राजा के सत्य की कसौटी होना अभी शेष है, इसलिए उनकी यह प्रसन्नता, अधिक देर तक न रही। जिस दुष्ट देव ने, राजा को-सत्य से विचलित करने के लिए-इतने कष्ट में डाला था, उसने घड़ा लेकर जाते हुए राजा को, एक ऐसी ठोकर लगने की व्यवस्था की, कि जिसके लगते ही राजा गिर पड़े और घड़ा फूट गया। घड़े के फूटते ही, राजा की सब प्रसन्नता चिन्ता में परिणत होगई। वे विचारने लगे, कि मालकिन ने, मेरे अनेक बार प्रार्थना करने पर बहुत दिनों के बाद, पहली ही मर्तबा आज यह काम बताया था, लेकिन आज ही काम बिगड़ गया। इस अपराध के कारण, वे अब न मालूम क्या कहेंगी। जो होना था सो हुआ। मैंने जान-बूझकर तो घड़ा फोड़ा नहीं, फिर भी मालकिन अपने अमृतमय-वचन द्वारा जो कुछ कहें, वह सुनना ही होगा।

राजा, खाली हाथ, भङ्गी के यहाँ आये। भङ्गिन, राजा को

देखते ही रुष्ट हो कहने लगी, कि इतनी देर कहाँ लगाई और पानी का घड़ा कहाँ है ?

राजा—मालकिन, क्षमा करिये। यह अभागा-सेवक जल का घड़ा लेकर आता तो था बड़ी सावधानी से, लेकिन मार्ग में ठोकर लगजाने के कारण, घड़े सहित गिर पड़ा, इससे घड़ा फूट गया।

घड़े का फूटना सुनकर, भङ्गिन की क्रोधाग्नि भभक उठी। उसने, कर्कश-स्वर में राजा को अनेक दुर्वाक्य कहे, लेकिन राजा उनको चुपचाप सहते रहे।

धर्मपालन के समय, यदि मनुष्य मानापमान का विचार करे, तो वह धर्मपालन में समर्थ नहीं हो सकता। धर्म का पूर्णतया पालन वही मनुष्य कर सकता है, जो कष्ट सहने में धीर और बात सुनने के लिए गम्भीर हो, तथा जिसे मानापमान का विचार न हो। हरिश्चन्द्र, सत्यपालन के लिए यदि मानापमान का विचार करते, अयोध्या को ही न छोड़ते, भङ्गी के यहाँ न बिकते, या भङ्गिन की बात को न सह सकते, तो कभी से सत्य-भ्रष्ट होगये होते। लेकिन, धैर्यवान् पुरुष न तो सुखको सुख ही समझते हैं, न दुःख को दुःख ही। वे, प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं। किसी कवि ने कहा है:—

> क्वचिद्भूमौ शय्या, क्वचिदपि च पर्य्यंक शयनं।
> क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः॥
>
> क्वचिद् कंथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
> मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर-पलँग पर सोते हैं। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते है। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते हैं और कभी दिव्य सुन्दर-वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओं में से, किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुष सुख या दुःख नहीं गिनते। अर्थात्—प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं है, उन्हें तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते हैं, कि चाहे जितनी गालियें सुननी पड़ें, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे भङ्गिन के कटु-शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि मालकिन की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय भङ्गिन क्रोधित होकर राजा को दुर्वाक्य सुना रही थी, उसी समय भंगी भी बाहर से आगया। राजा के प्रति, अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार उसे असह्य हो उठा। वह डण्डा लेकर अपनी स्त्री को मारने दौड़ा और कहने लगा, कि मैंने तुझे इतना समझाया, फिर भी तू नहीं समझी, अत: मैं तुझे घर से ही निकाले देता हूँ।

स्वामिनी पर स्वामी को क्रुद्ध देख, राजा दोनों के बीच में खड़े हो कहने लगे—स्वामी, आप इन्हें कुछ न कहिये। मैं, आपसे सदा काम माँगा करता था, लेकिन आपने आजतक कभी

काम न बताया। आज, इन्होंने कृपाकरके काम बताया, तो उस काम के लिए जहाँ मैं गया था, वहाँ मुझे जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह मैं किसी प्रकार भी वर्णन नहीं कर सकता। अब, यदि ये मुझपर क्रुद्ध हो रही हैं, तो इसमें इनका कोई दोष नही है। यदि, मैं घड़ा न फोड़ आता, तो ये क्रुद्ध क्यो होती ? मैं घड़ा फोड़ आया, मैंने सावधानी नहीं रक्खी इसके बदले में यदि ये कुछ कहे, तो अनुचित ही क्या है ? आप मुझपर दया करिये और मेरी प्रार्थना स्वीकार करके इन्हे कुछ न कहिये।

भगी और भंगिन, राजा की बात सुनकर आश्चर्य चकित रह गये। भगिन विचारने लगी, कि मैंने इसे इतनी गालियाँ दीं, इतने दुर्वाक्य कहे, फिर भी यह मेरी प्रशंसा ही कर रहा है। उधर भगी विचार रहा है, कि ये अपनेको गाली देनेवाली का भी पक्ष कर रहे हैं, कैसे विचित्र मनुष्य हैं !

राजा का कहना मानकर, भंगी ने अपनी स्त्री को पीटने तथा निकालने का विचार छोड़ दिया और राजा की प्रशंसा करता हुआ, वह उनसे कहने लगा—महाराज, यह दुष्टा आपको सदा दुर्वाक्य कहा करती है। इधर आप सदैव काम भी माँगा करते हैं। अतः आप इसके समीप न रहकर, श्मशान भूमि को चले जाइये। वहाँ आप उसकी रखवाली करते रहिये और वहाँ आनेवाले मृतक का अग्नि-संस्कार होने के पहले, मृतक को लानेवाले से लकड़ी के मूल्य-स्वरूप एक टका कर ले लिया कीजिये और उसे श्मशान में से लकड़ी आदि दाह सामग्री देकर, अग्नि-संस्कार होने दिया कीजिए। मरघट पर चले जाने से, आपको कार्य भी मिल जायगा और इस कर्कशा के पजे से भी आप बच जावेंगे।

स्वामी की आज्ञा पाकर, राजा श्मशान-भूमि को चले गये और वहीं रहकर स्वामी की आज्ञा का पालन करने लगे।





स्वतन्त्र-रोहित



प्रत्येक प्राणी में, स्वतन्त्रता की भावना भी एक प्रकृतिदत्त श्रेष्ठ-गुण है। इसी कारण, स्वतन्त्रता का अधिकार सब को प्राप्त है। लेकिन, परतन्त्रता के संस्कारो से, यह गुण धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है और ऐसे परतन्त्र-प्राणी परतन्त्रता में ही आनन्द मानने लगते हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता अच्छी और परतन्त्रता बुरी है, लेकिन परतन्त्रता के सस्कारो के कारण, यह अच्छाई-बुराई नहीं दीखती, और ऐसे जीव परतन्त्रता को ही अच्छी समझते है। उदाहरणार्थ—भारत को ही देखिये। इतिहासानुसार, भारतवासी एक विशेष-समयसे परतन्त्रता या गुलामी की जंजीर में जकड़े हुऐ हैं। इस संस्कारवश, यहाँ के निवासियों में से अधिकांश लोग ऐसे सुने जाते हैं, कि देश मे स्वतन्त्रता की लहर दौड़ जाने पर भी, वे लोग स्वतन्त्रता के विरोधी और परतन्त्रता के समर्थक हैं। उनके संस्कार ही ऐसे हैं, कि वे परतन्त्रता में दुःख का अनुभव ही नहीं करते। इसके विरुद्ध, जो मनुष्य स्वतन्त्रता का तनिक आभास भी पाजाता है,उसके लिये गुलामी नर्क के समान दुःखदायी होजाती है। अस्तु।

राजा हरिश्चन्द्र और रानी तारा, यद्यपि इस समय परतन्त्र हैं, दास हैं, लेकिन उनकी भावना स्वतन्त्र ही है। वे, सत्य न छूटे, इसलिए विवश होकर परतन्त्र हुए हैं! लेकिन रोहित तो परतन्त्र रहने के लिये बाध्य न था, अतः उसने स्वतन्त्रता देवी की उपासना छोड़नी स्वीकार न की।

रोहित, अपनी माता के भोजन में से भोजन करता हुआ विचारता, कि मेरे लिए मेरी माता भूखी रहती है, ऐसी दशा में मुझे उसके भोजन में से भोजन करना उचित नहीं है। मुझे, यदि अधिक नहीं, तो कम-से-कम अपने उदरपोषण के लिए तो भोजन उपार्जित कर ही लेना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके, रोहित ने तारा से कहा—माता, अब मैं आपका लाया हुआ भोजन न करूँगा, मैं, अपने लिए स्वयं ही भोजन उपार्जन कर लिया करूँगा। आपके लाये हुए भोजन में से खाकर काम भी करूँ और फिर अत्याचार भी सहूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं है। मैं, कल से अपने लिए भोजन ले आया करुँगा और फिर थोड़े दिन बाद, आपको भी इस कष्ट से छुड़ा लूँगा तथा पिताजी को भी ढूँढ़ लाऊँगा।

पुत्र की बात सुनकर, माता गद्‌गद्‌ हो उठीं। अपने पुत्र के ऐसे स्वतन्त्र-विचार सुनकर, कौन माता ऐसी होगी, जो प्रसन्न न हो? उन्होंने, प्रसन्नता प्रकट करते हुए रोहित से कहा—बेटा तुम्हारा यह विचार है तो उत्तम, लेकिन तुम अभी बालक हो। जब तुम बड़े होजाओ, तब चाहे ऐसा करना।

रोहित—नहीं माता, अब मैं आपका लाया हुआ भोजन भी नहीं करूँगा, इस घर में काम भी नहीं करूँगा और अत्याचार भी

नहीं सहूँगा। मैं, यदि छोटा हूँ, तो मेरा पेट भी छोटा है। मैं, अपने इस छोटे से पेट को भरने इतना भोजन तो, अपने इन छोटे-छोटे हाथों से उपार्जन कर ही लूँगी। जब मैं, आपके भोजन में से भोजन करता हूँ, तो फिर अत्याचार क्यों सहूँ और काम क्यों करूँ ? इस घर में बिकी आप हैं, इसलिये आप इनके अधीन रहिये, मैं इनके अधीन नहीं रह सकता। मैं तो स्वतन्त्र रहूँगा।

रोहित की इस बात का, तारा कुछ भी उत्तर न दे सकीं। उन्होंने कहा—अच्छा, तुम जो लाओ, वह लाया करो, उसे हम तुम दोनों मिलकर खाया करेंगे।

एक तो वह बालक रोहित है, जिसके हृदय में स्वतन्त्रता की उपासना के भाव पैदा हो रहे हैं, जो अपनी माताके भोजन में भोजन करके फिर परतन्त्र नहीं रहना चाहता और एक आज के वे वृद्ध हैं, जो भारत की ही वस्तु खा-पहनकर भी परतन्त्र रहना चाहते हैं। भारत में ही उत्पन्न हुई रुई का कपड़ा पहनें, भारत का ही उत्पन्न अनाज खावें, फिर भी विदेशियो के अधीन रहने में अपना गौरव मानते हैं। यूरोप, न तो अपने यहाँ का उत्पन्न अन्न ही भारत को देता है, न वस्त्र ही। फिर भी अधिकांश भारतीय उसके गुलाम बनकर रहने में, अपना सौभाग्य मानते हैं। इस अन्तर का कारण, गुलामी के संस्कार हैं। देश के, अधिक समय तक गुलामी के बन्धन में जकड़ा रहने के कारण, यहाँ के अधिकांश निवासियों के संस्कार ही ऐसे हो गये हैं, कि वे गुलामी में ही सुख अनुभव करते हैं, स्वतन्त्रता में उन्हें सुख का लेश भी नहीं दिखाई देता। अस्तु।

दूसरे दिन सवेरे ही, रोहित वन को चल दिया। प्राचीन

शिक्षणप्रथा–अनुसार रोहित को वृक्षों पर चढ़ना-उतरना भी सिखाया गया था, अतः वह वृक्षों पर चढ़ने-उतरने में प्रवीण था। उसने, वृक्ष पर चढ़कर अच्छे-अच्छे फलादि तोड़े। उनमें से कुछ तो उसने स्वयं खाये और कुछ माता के लिए रख लिये।

प्राचीन समय के राजा लोग, वन पर अपना अधिकार न रखकर, उसे प्रजा के लिये छोड़ दिया करते थे। प्रजा में से बहुत से मनुष्य, वन के द्वारा ही अपनी जीविका चलाते थे। कोई, उसमें से घास या लकड़ी काटकर अपना निर्वाह करता, कोई गौ आदि पशु उसमें चराकर अपनी जीविका चलाता, और कोई उसमें उत्पन्न फलफूलादि खाकर अथवा बेंचकर अपने दिन व्यतीत करता। वन पर, किसी व्यक्ति-विशेष का नियन्त्रण न था, किन्तु उसपर सबको समानाधिकार प्राप्त था। बहुत से तपस्वीलोग भी, उन्हीं वनों में तपस्या किया करते थे। वन के होने से वर्षा बहुत होती थी, अन्न तथा घृत-दूध अधिक उत्पन्न होता था। और मनुष्य को शुद्धवायु भी खूब मिलती थी। लेकिन जब से वन पर राज्य का नियन्त्रण होगया है, वे कटवा डाले गये हैं, तब से प्रजा, देश और पशुओं के कष्ट भी बढ़ गये हैं। आज, पशुओं की जो क्षति और दुर्बलता दिखाई देती है, अनाज की उत्पत्ति जो कम सुनी जाती है, इसके कारणों में से एक कारण, वन का कटना या उस पर राज्य का नियन्त्रण होना भी है।

फल खाकर और कुछ फल माता के लिए लेकर, रोहित घर आया। उसे, माता की चिन्ता का ध्यान हो ही रहा था, कि माता मेरे लिए चिन्ता करती होगी। इधर, तारा, रोहित की चिंता

कर रही थीं. कि आज वह न मालूम कहाँ चला गया। रोहित को देखते ही, तारा की यह चिन्ता मिट गई। उन्होंने रोहित से पूछा-बेटा, तुम आज कहाँ चले गये थे ?

रोहित —माँ, मैं आज वन को गया था। वहाँ, प्रकृति की रचना देखकर मैं प्रसन्न हो उठा। जिस तरह आप मेरी माता हैं, उसी तरह वह प्रकृति सारे संसार की माता है। जिस तरह आप स्वयं कष्ट उठाकर मुझे भोजन देती हैं, उसी प्रकार वह भी संसार को भोजन देती । इन फलों को देखो। ये फल, आज मैं उसी प्रकृति-माता से लाया हूँ। इन फलों से मेरा भी पेट भर जायगा और आपकी भी क्षुधा मिट जायगी। अब, मैं आपके लाये हुए भोजन में मे भोजन न करूँगा, किन्तु आपका लाया हुआ भोजन आप किया कीजिये और मेरा लाया हुआ भोजन मैं किया करूँगा। मै आपके भोजन में से भोजन करूँ और फिर दूसरे के अधीन रहकर बात सुनूँ यह अब मुझसे न होगा। अब, मैं अपना स्वतंत्र-जीवन व्यतीत करूँगा और बड़ा हो जाने पर आपको भी इस दुःख से छुड़ा लूँगा।

पुत्र की बातें सुनकर, तारा को जो प्रसन्नता हुई, उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो केवल अनुमान से ही जानी जा-सकती है। उन्होने समझ-लिया, कि रोहित क्षत्रिय-पुत्र है, वीर-बालक है, यह अकारण ही पराधीन रहने वाला नहीं हो सकता।

तारा ने रोहित से कहा—वत्स, केवल फलो के आधार पर शरीर सशक्त नहीं रह सकता। यदि तुम केवल फलों के ही आधार पर रहोगे, तो तुम में शक्ति कहाँ से आवेगी ? और बिना शक्ति के, तुम कैसे तो मुझे इस परतन्त्रता से छुड़ा सकोगे

और कैसे अपने पिता को ढूँढकर ला सकोगे ? इसलिए, तुम इस मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन किया करो।

रोहित—यदि आप मेरे लाये हुए फलों को खाना स्वीकार करें, तो मैं आपके भोजन में से भोजन कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।

तारा ने, रोहित की बात स्वीकार की। दोनों—माता तथा पुत्र—ने, ब्राह्मण के यहाँ से लाये हुए भोजन और फलों को खाया।

रोहित को न देखकर, ब्राह्मण पुत्र ने तारा से पूछा, कि आजकल तुम्हारा पुत्र कहाँ रहता है ? तारा ने उत्तर दिया, कि अब वह अपना स्वतन्त्र-जीवन व्यतीत करता है। तारा के इस उत्तर को सुनकर, ब्राह्मणपुत्र साश्चर्य विचारने लगा, तो इन्हें कम भोजन देकर अपने वश करना चाहता था, लेकिन ये लोग तो और भी स्वतन्त्र हो गये। यह स्त्री, एक विचित्र-स्त्री है, अब इससे बचकर रहना ही उचित है, अन्यथा किसी दिन अनर्थ हो जायगा। इस प्रकार विचार कर, ब्राह्मणपुत्र ने, तारा से किसी प्रकार की अनुचित आशा छोड़ दी, और कष्ट देना बन्द कर दिया।

रोहित, इसी प्रकार नित्य वन से फल ले आता। उसके लाये हुए फलों में से, तारा कभी-कभी थोड़े फल ब्राह्मण-पुत्र को देकर कहतीं, कि आप इन फलो को खाकर देखिये कि ये कैसे अच्छे हैं। कभी, इन हाथों से मैंने बहुत कुछ दान किया है, लेकिन अब तो मैं स्वयं ही आपका दिया हुआ भोजन करती हूँ, दान कहाँ से करूँ। यह बालक, अपने उद्योग से फल लाता है,

इसलिये इन फलों में से मुझे दान करने का भी अधिकार है, अतः आप इन्हे खाइये।

ब्राह्मणपुत्र, तारा के दिये हुए फलो को लेता, ऊपर से प्रसन्नता भी प्रकट करता, किन्तु भीतर से उसे, वालक की इस स्वातंत्र्यप्रियता पर डाह होता।

तारा और रोहित, इसी प्रकार प्रसन्नता-पूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे।



निर्भीक-रोहित



संसार में, मनुष्यों का जीवन विशेषत. आशा पर निर्भर है। यदि, आशा एक चण के लिये भी मनुष्य का साथ छोड़ दे, तो सम्भवत. मनुष्यों की जीवन-नौका पार लगना कठिन हो जाय। अँधेरे के पश्चात् प्रकाश, विपत्ति के पश्चात् सम्पत्ति और दुःख के पश्चात् सुख की, प्रत्येक मनुष्य आशा करता है। यदि यह आशा न हो, यदि उन्हें प्रकाश, सम्पत्ति और सुख की ओर से एक दम निराश हो जाना पड़े, तो उनका जीवन भार-रूप हो जाय। संसार में, बहुत कम मनुष्य ऐसे निकलेंगे, जो आशावादी न हों। जो आशावादी नहीं हैं, निराशावाद ही जिनके जीवन का मूल-मन्त्र बन गया है, ऐसे मनुष्यों को प्रत्येक-कार्य में, निराशा ही निराशा दिखाई देती है; इस कारण, वे निरुद्योगी, भीरु और आलसी बन जाते हैं। उनका जीवन दु.खमय हो जाता है और वे, किसी भी सद्कार्य के प्रारम्भ का साहस नहीं कर सकते। लेकिन जो आशावादी हैं, वे अनेक विपत्ति पड़ने पर, घोर दुःखों का सामना होने पर भी, निराश नहीं होते। कदाचित, वे किसी कार्य में असफल भी रहें, तब भी निराशा को पास नहीं आने

देते और आशा के सहारे उद्योग करते ही रहते हैं। तारा, आज परतन्त्र हैं, दासी हैं, पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ देकर उन्हे कोई छुड़ावेगा, इस बात पर विश्वास करने के लिए उनके पास यद्यपि कोई खास कारण नहीं है, फिर भी उन्हें अपने पुत्र से इस बात की आशा है, कि वह बड़ा होकर, अपने उद्योग से मुझे तथा पति को दासत्व से छुड़ावेगा। इसी आशा पर, वे अपने पुत्र का मुख देखती हुई अपने दिन व्यतीत करती हैं। इस आशा के सहारे ही, वे दासीपने में भी प्रसन्न हैं।

तारा, यद्यपि इसी आशा से अपने दिन व्यतीत कर रही हैं, लेकिन, अभी उनके सत्य की खास कसौटी तो शेष ह' है। अभी, उनको कठिन से कठिन सङ्कट के समय, अपने सत्य की परीक्षा देनी है। इसी कारण, उनकी यह आशा भी अधिक दिन न टिक सकी। विपत्ति, अपने नियमानुसार आशा पर ही आघात करती है और उसी का नाश करती है। यदि वह आशा का नाश न करे, तो फिर कोई भी मनुष्य अपने आपको विपत्ति में न समझे और विपत्ति से न घबराय।

नियमानुसार, रोहित नित्य वन में जाता और वहाँ से फल लाकर आप भी खाता तथा माता को भी देता। तारा, अपने पुत्र के लाये हुए फलों में से आप भी खातीं, तथा दूसरों को देकर अपनी उदारता तथा दान-शीलता का परिचय भी देतीं। दासीत्व के बन्धन में जकड़ी हुई होने पर भी, तारा इस प्रकार सुख से अपना जीवन व्यतीत कर रही थीं, लेकिन वह दुष्ट देव—जिसने हरिश्चन्द्र को सत्य भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी—तारा के इस सुख को भी न देख सका। उसने, तारा से उसका पुत्र-रत्न छीनने

और इस प्रकार का कष्ट देकर, दम्पत्ति को सत्य-भ्रष्ट करने की चेष्टा करने का पुनः विचार किया।

नित्य की तरह, रोहित एक दिन वन में गया। उसने, वन का प्रत्येक-वृक्ष देख डाला, लेकिन उस दुष्ट-देव की माया से, उसे एक भी फल न मिला। वह, फलों की आशा से वन में बहुत घूमा, किन्तु सब निष्फल। रोहित मन ही मन कहने लगा—क्या आज वन-देव मुझसे रुष्ट हो गये है? क्या प्रकृति-देवी ने अपनी वत्सलता आज छोड़ दी है? हो न हो, यही कारण है, जो आज मुझे फल नहीं मिल रहे हैं। जो वनदेव, मुझे नित्य अधिकाधिक फल देते थे, जिस प्रकृति-देवी ने अपनी गोद में आये हुए बालक को कभी भूखा न रखा था, वे आज अवश्य ही मुझसे क्रुद्ध हैं। अन्यथा, जो वृक्ष फल से सदा लदे रहते थे, वे आज फल-विहीन क्यों हो जाते?

रोहित को, वन में फल ढूँढ़ते अधिक समय व्यतीत हो चुका था। फलाहारी को, समय पर भूख लगती ही है, इस नियम के अनुसार रोहित को भी भूख लग चुकी थी और अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी। उसने, वृक्षों के कुछ पत्ते खाये, परन्तु पत्तों से भूख न मिटी। भूख की अधिकता से, रोहित विकल हो गया। इधर, माता की चिन्ता उसे और थी, कि वे मेरे लिये भूखी होंगी और मेरी प्रतीक्षा करती होंगी। लेकिन, नित्य तो फल लेकर जाता था और मैं स्वयं खाता तथा माता को भी खिलाता था, परन्तु आज फल नहीं मिले हैं, इसलिये यदि मैं बिना फल लिये जाऊँगा, तो मुझे माता के भोजन में से ही भोजन करना पड़ेगा और उन्हें भूखी रहना पड़ेगा। मैं, माता के भोजन में से

भोजन करूँ और माता को मेरे लिये भूखो रहना पड़े, यह मेरे लिए सर्वथा अनुचित है।

इस विचार से, रोहित घर न गया और वन मे ही फल ढूँढ़ता रहा। रोहित, भूख से नितान्त विकल हो चुका था। भूख के मारे, उसके नेत्रो के सन्मुख अंधेरा आने लगा था। अन्त में, विकल होकर वह एक वृक्ष के नीचे पड़ गया। भूख के मारे उसे नींद तो आई नही, अतः वह परमात्मा का स्मरण करने लगा। वह कहने लगा— प्रभो, मैं तो तुझे नहीं जानता, लेकिन मेरी माताजी तुझे जानती हैं। वे, मुझे उपदेश दिया करती हैं, कि दु.ख में परमात्मा का स्मरण किया करो। वे, स्वयं तेरा ही स्मरण करके अपने दुःख के दिन निकाल रही हैं, इसी तरह मैं भी तेरा ही स्मरण करके, अपनी भूख के दुःख का समय निकालता हूँ।

रोहित, इस प्रकार परमात्मा का स्मरण कर ही रहा था, कि उसके समीप ही किसी वस्तु के गिरने की आवाज़ सुनाई दी। रोहित का ध्यान भंग हुआ। उसने उठकर आस-पास देखा, तो उसे एक पका हुआ आम का फल दिखाई दिया। रोहित ने, फल को उठा लिया और प्रसन्न हो विचारने लगा, कि क्या यह फल मेरी माता के बतलाये हुए उस परमेश्वर ने ही दिया है, जिसका कि मैं स्मरण कर रहा था? अवश्य, उसने ही दिया होगा, अन्यथा यहाँ के तो सभी वृक्ष मैं ढूँढ़ चुका था, फिर यह फल कहाँ से आया?

रोहित ने, परमात्मा को धन्यवाद देकर, उस आम्र-फल को चसा। वह फल, उसे इतना स्वादिष्ट जान पड़ा, कि जैसा स्वादिष्ट

फल उसने पहले कभी न खाया था। एक तो उस समय वह भूखा भी था और भूख में वस्तु स्वादिष्ट लगती ही है, दूसरे, फल भी कुछ अधिक स्वादिष्ट था। रोहित की भूख,उस फल के खाने से बहुत कुछ मिट गई और उसे शान्ति मिली।

रोहित ने, जब फल खा लिया, तब उसे विचार आया, कि ऐसा अच्छा फल बिना माता को दिये, मैं अकेला ही क्यों खा गया ? यदि इस फल को मैं माता के पास ले जाता, तो कैसा अच्छा होता ? लेकिन धिक्कार है भूख को, जिसने इस समय मुझे माता का, ध्यान न रहने दिया। अब, मैं इस फल के वृक्ष को ढूँढ़, उसमें से फल तोड कर माता के पास ले जाऊँगा।

इस प्रकार विचार करके, रोहित इधर-उधर उस फल के वृक्ष को देखने लगा। उसे, पास ही आम का एक वृक्ष दीख पड़ा, जो ऐसे ही फलो से लदा था। फल लगे हुए वृक्ष को देख कर वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ और विचारने लगा, इन वृक्षो को मैं अच्छी तरह देख चुका था, लेकिन मुझे एक भी फल न दिखाई दिया था। अब, फलों से लदा हुआ पूरा वृक्ष मिला है, यह उसी परमात्मा की कृपा है। मानो उस परमात्मा ने मेरे लिए ही यह फल लदा हुआ वृक्ष भेजा हो।* अब, मैं इस वृक्ष में से बहुतसे फल लेजाकर अपनी माता को दूँगा, तो वे इन्हें खाकर तथा दूसरों को देकर बहुत प्रसन्न होगी।

---

* बालक का यह कथन, निमित्त को कर्त्ता मानने से सिद्ध हो सकता है। निमित्त रूप से सभी सम्प्रदाय वाले परमात्मा को दाता मानेंगे।

—सं०

यह सोचते हुए, रोहित ने उस वृक्ष पर चढ़ने की तैयारी की। वह, ऊपर चढ़ने के विचार से, जैसे ही वृक्ष के समीप पहुँचा, वैसे ही उसकी दृष्टि वृक्ष से लिपटे हुए एक काले तथा भयावने साँप पर पड़ी। वह साँप, अपनी लाल-लाल आँखों से रोहित की ओर देख रहा था, तथा जीभ निकालकर फुफकार रहा था। आज के बालक तो क्या, यदि युवक भी होते, तो सम्भवतः उस विकराल साँप को देखकर, भाग जाते। क्योंकि आज की शिक्षा ही ऐसी है, जिसमें भय को प्रथम स्थान दिया जाता है, लेकिन, रोहित वीर-बालक था और ताराने अपनी शिक्षा द्वारा उसकी रग-रग में वीरता भर दी थी। वह, साँप से किञ्चित भी भयभीत न हुआ, वल्कि स्वयं भी अपनी आँखें लाल करके उस साँप से कहने लगा—ओ विषधर! तू इस वृक्ष को घेर कर क्यों बैठा है? फल तो तू खाता नहीं है, यह तो मनुष्यों का आहार है और मेरी प्रार्थना पर यह वृक्ष न मालूम कहाँ से और कैसे आया है, फिर तूने इस वृक्ष पर क्यों अधिकार कर रखा है? इस वृक्ष के फलों का अधिकारी मैं हूँ, अतः तू यहाँ से चला जा।

रोहित की बातों को सुन, साँप ने उसकी ओर देखकर, एक ऐसी फुफकार छोड़ी, जैसे रोहित को उत्तर दिया हो, कि यदि तुझे अपना प्राण प्रिय है, तो यहाँ से चला जा। लेकिन रोहित ऐसी फुफकार से कब डरनेवाला था? उसने कहा—फल तेरे काम की वस्तु नहीं है, इसलिए मैंने तुझसे वृक्ष छोड़ देने को कहा, लेकिन तू अपने विष के अभिमान में सुनता ही नहीं है? मैं, अब भी तुझसे कहता हूँ, कि तू इस वृक्ष को छोड़कर चला जा। मैं, अपने अधिकार की वस्तु को, इस प्रकार तेरे डराने से

कदापि न छोड़ूँगा। मेरी माता, मेरी प्रतीक्षा कर रही होंगी, वे मेरे लिए भूखी होंगी, मैं इन फलों को उनके लिए ले जाऊँगा तो वे बड़ा आनन्द मानेंगी, इसलिये तू वृक्ष को छोड़ दे, अकारण ही देर न कर।

रोहित की इन बातों को सुनकर भी, साँप न हटा, बल्कि उसने एक और फुफकार छोड़ी। रोहित कहने लगा—मैं तुमसे कह चुका, कि मैं अपने अधिकार की वस्तु को किसी प्रकार भी न छोड़ूँगा, फिर भी तू मुझे डरा रहा है? यदि तू नहीं हटता है, तो मत हट, मैं दूसरी तरह से वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ लूँगा।

रोहित के इस कार्य का नाम सत्याग्रह है। भय या आपत्ति से न डरकर, अपने अधिकारों पर स्थिर रहना, या अपने अधिकारों की प्राप्ति एवम् रक्षा का उपाय करना ही सत्याग्रह है। रोहित के इस सत्याग्रह से प्रकट है, कि उस समय बालक भी सत्याग्रह करना जानते थे, लेकिन आज के तो अधिकांश वृद्ध भी, सत्याग्रह के नाम को सुनकर ही डरते सुने जाते हैं। इस अन्तर का कारण, शिक्षा का अन्तर ही है। पहले के बालकों को वीरता की शिक्षा दी जाती थी, लेकिन आज कल के बालकों को कायरता की शिक्षा दी जाती है। जहाँ, पहले के बालकों को यह सिखाया जाता था, कि वे किसी से भय न करें, वहाँ आज के बालकों को, भूत-प्रेत के झूठे भय से डराया जाता है। इस तरह, आज के बालकों में कायरता की भावना भरी जाती है, अब वे सत्याग्रह करें तो कैसे? क्योंकि सत्याग्रह वीर ही कर सकता है, कायर नहीं। अस्तु।

साँप ने, जब रोहित को मार्ग न दिया, तब रोहित वृक्ष के आसपास फैली हुई डालियों में से एक को पकड़कर, वृक्ष पर चढ़ने लगा। वह, जैसे ही वृक्ष पर चढ़ने लगा, तैसेही सर्प ने दौड़कर, अपने दाँतो से उसका पैर काट खाया। साँप के काटते ही बालक रोहित छटपटाकर भूमि पर गिर पड़ा। एक क्षण में ही उसके छोटे और कोमल-शरीर में भुजङ्ग का विष फैल गया।

वृक्ष से गिरकर रोहित, आप ही आप कहने लगा—माता तारा! आज तुम्हारा रोहित, सर्प के काटने से विनष्ट होता है। तुम्हारे समीप कोई नहीं है, तुम्हें माता कहने वाला, आज इस संसार में कोई न रहेगा, यह विचार कर हृदय दुःख से फटा जाता है। पिताजी इस समय न मालूम कहाँ हैं और तुम दासीत्व के बन्धन में जकड़ी हुई हो। मैं विचारता था, कि मैं अपने उद्योग से तुमको दासीत्व के बन्धन से मुक्त कराऊँगा और पिता जी को भी खोज लाऊँगा, परन्तु यह मेरी आशा आज निराशा में परिणत होकर, मेरे ही साथ, काल के भयंकर गाल में जा रही है। माता, मेरा मृत्यु-समाचार तुम्हें कौन सुनावेगा और उसे सुनकर, तुम जीवित रह सकती हो? जीवित रहो या न रहो, लेकिन अब तुम अपने अमूल्य-रत्न रोहित को न देखने पाओगी। माता! माता तारा! तुम मेरी मृत्यु की चिन्ता इसलिए न करना, कि मैं कायरों की तरह प्राण नहीं खो रहा हूँ, किन्तु उसी प्रकार वीरों की तरह प्राण-त्याग रहा हूँ. जैसा कि तुमने अपनी शिक्षा में मुझे सिखाया था। तुमने, मेरे लिए अनेक कष्ट सहे, तुम मुझे अपना हृदय-धन, जीवन-सुख और प्राणों का आधार बताती थीं, लेकिन मैं बीच ही में तुम्हारा साथ छोड़कर जा रहा हूँ। तुम

मुझे धैर्य रखने की शिक्षा दिया करती थीं, लेकिन इस समय तुम्हारे धैर्य की परीक्षा है। तुम, मेरे मृत्यु समाचार को सुनकर, धैर्य रखना और "मेरा पुत्र वीरगति को प्राप्त हुआ है," यह विचार कर सन्तोष लाना। पिता! तुम्हें बिछुड़े विशेष-समय हुआ है। एक बार आकर देखो तो, कि तुम्हारा प्यारा रोहित, आज किस प्रकार मृत्यु का आलिंगन कर रहा है। आप, मुझे अपने प्राणों से अधिक प्रिय समझते थे, परन्तु मैं आज आप लोगों को सदा के लिए विषाद-सागर में छोड़कर जा रहा हूँ। आपके न होने से, माता जब मेरे लिए विलाप करेंगी, तब उनका विलाप कौन सुनेगा और कौन उन्हें धैर्य प्रदान करेगा? कुछ भी हो, अब मुझे इस समय इन बातों की चिन्ता न करके, उस परमात्मा का स्मरण करना चाहिए, जिसके स्मरण की माता ने शिक्षा दी है। प्रभो! मेरी माता के बताये हुए प्रभो! यह तुच्छ सेवक आपकी शरण है। आप, इसे अपनी शरण में स्थान दीजिए। मैं तो आपको जानता नहीं हूँ, मैंने कभी आपको देखा भी नहीं है, लेकिन माता की शिक्षा पर भी अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। मैं, अपनी माता के बताने से ही तुम्हारा स्मरण करता हूँ और तुम से प्रार्थना करता हूँ, कि इस अधम का हाथ पकड़िये।

ईश्वर-प्रार्थना के पश्चात्, वह फिर कहने लगा—माता! यद्यपि आप लोगों को मेरा यह अन्तिम-प्रणाम सुनानेवाला कोई नहीं है, लेकिन मैं पुत्र के कर्त्तव्यानुसार आपको प्रणाम करता हूँ और इस संसार से सदा के लिए विदा होता हूँ। यह कहते-कहते रोहित, विष के प्रभाव से बेहोश हो गया।

कुछ लोगों ने, रोहित को साँप के काटने से गिरते देखा था। वे दौड़कर रोहित के पास आए। रोहित को देखकर, वे लोग आपस में विचार करने लगे, कि यह सुन्दर-बालक न मालूम किसका है। इसका कोमल-शरीर, देखते ही देखते विष के मारे हरा हुआ जा रहा है। यह, माता शब्द का उच्चारण करने के साथ ही, तारा नाम का भी उच्चारण करता है, इससे जान पड़ता है, कि इसकी माता का नाम तारा है। लेकिन, तारा न मालूम कौन और कहाँ रहती है! यदि यह मालूम होता, कि तारा कौन है और कहाँ रहती है, तो उसे समाचार दे दिया जाता। इतने में उन्हीं लोगों में से एक ने कहा, कि अमुक ब्राह्मण के यहाँ तारा नाम की एक दासी है। इस बालक को भी उसी ब्राह्मण के यहाँ देखा है। सम्भव है, कि यह बालक उसी तारा का हो। उन्हीं लोगों में से एक ने कहा, कि यद्यपि यह बहुत थोड़ी देर का मिहमान है, इसके मरने में अब देर नहीं है, लेकिन इस समय भी यदि इसकी माता को कोई सूचना दे देता, तो वह बेचारी अपने पुत्र का मुख तो देख लेती! कुछ बालक, जो वहीं आ खड़े हुए थे, उन्होंने यह कार्य करना स्वीकार किया और वे दौड़कर उस ब्राह्मण के घर की ओर चले, जिसके यहाँ तारा रहती थीं।



विपत्ति-वज्र



सांसारिक-मनुष्य, और सब दुःखों के सहन करने में धैर्य-वान् हो सकते हैं, परन्तु सन्तति-वियोग का दुःख उन्हें असह्य हो उठता है। कई सन्तानों के होने पर भी, किसी एक के वियोग का दुःख सहन करने में जब उनका धैर्य छूट जाता है, तब यदि एक ही सन्तान हो, तथा उसका वियोग हो जावे, तो धैर्य न रहना स्वाभाविक है।

रोहित, तारा का एकमात्र पुत्र था। उसी रोहित के सहारे, वे अपने दिन व्यतीत करती थीं। उसीका मुख देखकर वे प्रसन्न रहतीं और उसीसे उन्हें सुन्दर-भविष्य की आशा थी। वे, इस विपत्ति के समय भी, अपने इस पुत्र-रत्न को सुरक्षित रखतीं, उसके खाने-पीने की चिन्ता रखतीं और उसके लिए आप स्वयं भूखी भी रहतीं। परन्तु दुष्ट-दैव ने, तारा से उसका यह पुत्र रत्न भी छीन लिया। पुत्रवियोग के दुःख का, तारा के हृदय में कैसा आघात हुआ होगा, यह अनुमान से ही जाना जा सकता है। अस्तु।

जिस समय, रोहित का समाचार लेकर, बालकगण ब्राह्मण के यहाँ आये, उस समय तारा रोहित की ही चिन्ता कर रही थीं। नित्य के समय से, बहुत-अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी, उसके न आने से, तारा नितान्त-विकल थीं। वे, मन-ही-मन अनेक प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प कर रही थीं। इसी अवस्था में, बालकों ने पहुँचकर उनसे कहा, कि तुम्हारा पुत्र तुम्हें पुकारता हुआ, मूर्छित होकर गिर पड़ा है। तारा ने, घबरा कर पूछा—वह कहाँ है? मैं तो उसकी प्रतीक्षा कर रही हूँ।

बालक—यद्यपि है तो दु:खद-समाचार—उनके सुनने से तुम्हें बहुत दु:ख होगा, इसलिये न सुनाना ही उचित है—परन्तु न सुनाने से तो और भी अधिक हानि है और आखिर कबतक न सुनावेंगे? इसलिये सुनाये ही देते हैं। तुम्हारा बालक एक वृक्ष पर चढ़ रहा था। उसे ऊपर चढ़ते समय, एक साँप ने काट खाया, इससे वह बेहोश पड़ा है। उसके सारे शरीर में विष छा गया है और हमारे यहाँ पहुँचने के पहले ही, उसने अपनी संसार-यात्रा समाप्त करदी होगी।

बालकों ने, तारा को यह समाचार क्या सुनाया, मानों उन पर वज्र प्रहार किया हो। तारा, अपने पुत्र का यह समाचार सुनते ही, इतनी अधिक अधीर हो उठीं, कि तत्क्षण मूर्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। पुत्र के वियोग का दु:ख, तारा के लिए अत्यधिक-असह्य था, इसलिये यह मूर्छा की अवस्था, उन्हें थोड़ी देर के लिए सुखदात्री सिद्ध हुई। वे, जितनी देर मूर्छित रहीं, उतनी देर पुत्र के दु:ख से बची रहीं, लेकिन, उन्हें तो पुत्रवियोग सहकर, अपने सत्य की परीक्षा देनी है, अतः यह मूर्छावस्था-

भी उनके समीप अधिक देर तक न ठहरी।

जिस समय, तारा मूर्छित पड़ी थीं और बालकगण उनके आसपास खड़े थे,उसी समय ब्राह्मण भी वहाँ आगया। तारा को पड़ी और बालकों को खडे देखकर, ब्राह्मण ने बालकों से पूछा, कि क्या बात है? बालकों ने, रोहित के सर्प से डसे जाने का वृत्तान्त सुनाकर कहा, कि इस समाचार के सुनते ही, ये मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं। ब्राह्मण ने विचारा, कि इसका लड़का तो मर ही चुका है, परन्तु उसके दुःख से कहीं यह भी न मर जाय! नहीं तो मेरी पाँचसौ स्वर्ण मुद्राएँ यो ही जावेंगी। इस प्रकार विचारकर, ब्राह्मण ने, तारा की मूर्छा हटाने के लिये उनके मुख पर जल छींटा।शीतल-जल के लगने से, तारा की मूर्छा दूर हुई और वे रोहित-रोहित करके विलाप करने लगीं। ब्राह्मण ने, तारा को ताड़ना-पूर्वक कहा, कि जब मैं कहता था, कि अपने बालक को कहीं न जाने दे, तब तो तूने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया और अब उसके लिए विलाप करती है! क्या उसके साथ तू भी रो-रोकर अपने प्राण देगी और इस प्रकर मेरी मुद्राएँ डुबावेगी? अब, रोने से क्या लाभ है, जा और उसका जो कुछ करना हो, सो करके वापिस जल्दी आ।

ब्राह्मण के, इन पशुतापूर्ण शब्दों से,दुःखित-तारा के हृदय में कैसी चोट पहुँची होगी, इस बात को प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है। लेकिन तारा विवश थीं, अतः वे इन्हें सुन-लेने के सिवा और क्या कर सकती थीं? इन कठोर-शब्दों के लिए भी, ताराने अपने मन में उसे धन्यवाद दिया, कि इन्होंने कम-से-कम बिना माँगे ही,पुत्र के अंतिम-संस्कार के लिए मुझे समय तो दिया!

संसार का नियम है, कि दुःख सहानुभूति से भी कम होता है और ताड़ना से भी। कहीं-कहीं सहानुभूति और ताड़ना दोनो से ही दुःख बढ़ जाता है, किन्तु अधिकतर कम ही होता है। ब्राह्मण की ताड़ना से, तारा अपने पुत्र के दुःख को, एक क्षण के लिये भूल-सी गईं। उन्होंने, धैर्य धारण करके ब्राह्मण से कहा—पिताजी, जो होना था सो तो हुआ, परन्तु अब मैं अबला अकेली वहाँ जाकर क्या कर सकूँगी? दया करके, या तो आप चलिये, या और किसी को मेरे साथ भेज दीजिये, जिसमें उसे देखकर यदि हो सके, तो उसका कोई उपचार किया जावे।

तारा के, इस समय के शब्दों का, एक सहृदय-मनुष्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ सकता है, परन्तु उस ब्राह्मण में सहृदयता नाममात्र को भी न थी। उसने, तारा की इस विचलित कर देने-वाली प्रार्थना के उत्तर में कहा—वह तो मर ही गया है, अब उस मरे हुए का क्या करना? वन के मरे हुए को ग्राम या घर में तो लाना ही नहीं है, फिर हम तेरे साथ-साथ कहाँ घूमते फिरें? जा जल्दी जा। देर मत कर और उसे जला कर फिर जल्दी आ जाना। देर मत करना।

जिन तारा की सेवा में, सदा सैकड़ों हजारों सेवक और सेविकाएँ उपस्थित रहती थीं, जिनके मुख से आज्ञा निकलते ही काम होता था, जो स्वयं दूसरे को दुःख के समय सहायता दिया करती थीं, उन्हीं तारा को आज, उपरोक्त उत्तर सुनना पड़ रहा है और वह भी ऐसे समय मे, जब कि उनका प्रिय पुत्र मरा हुआ पड़ा है। लेकिन तारा, इस उत्तर से उतनी दुःखित न हुईं, जितना दुःख उन्हे पुत्र का है। उन्होंने, ब्राह्मण का उत्तर सुनकर और

उसकी ओर से निराश होकर बालकों से कहा—भाइयो, वह कहाँ पड़ा है, चलकर दिखा तो दो ! बालकों ने, तारा की बात मान ली। विलाप करती हुई तारा, उन बालकों के साथ हो लीं और जहाँ रोहित पड़ा था, वहाँ चलीं।

बालकों ने, वहाँ पहुँचकर विष के प्रभाव से मृत रोहित का शव, तारा को दिखा दिया। तारा ने दौड़कर, रोहित के शव को उठा लिया और विलाप करने लगीं।

रोहित के शव को गोद में लेकर, विलाप करती हुई तारा कहने लगीं—रोहित! बेटा रोहित ! तुम किस नींद में सोये हो ? तुम्हारी अभागिनी-माता, तुम्हारे समीप बैठी रो रही है, फिर तुम चुपचाप क्यों पड़े हो ? सदा तो तुम अपनी माता के दुःख को दूर कर दिया करते थे, अनेक प्रकार की बातें करके आश्वासन दिया करते थे, फिर आज निठुर क्यों बन गये हो ? वत्स रोहित! क्या यह समय सोने का है ? क्या यह समय अपनी माता को छोड़ने का है ? क्या यही अवस्था तुम्हारे पर-लोक गमन की है ? फिर क्यो पड़े हो ? तुम्हारे नेत्र और तुम्हारी आकृति तो वैसी ही है, जैसे सदा मेरी गोद में सोने पर रहा करती थी; फिर आज बोलते क्यों नहीं हो ? क्यो प्रभात के चन्द्रमा के नाईं मलीन हो ? क्या मुझ से रूठ गये हो ? मेरे जीवन धन ! यदि तुम रूठ जाओगे, तो इस ससार में इस समय मेरा कौन है, जो मुझे आश्वासन देगा ? तुम, सदा तो कहा करते थे, कि मैं बड़ा होकर तुम्हें दासीत्व से मुक्त करूँगा, और पिता को भी ढूँढलाऊँगा, परन्तु आज तो बोलते भी नहीं हो। अबतक तो तुमसे यह आशा थी कि तुम बड़े होकर अपने माता-पिता

को दुःख-मुक्त करोगे, परन्तु अब तुम्हारे विना यह आशा कौन पूरी करेगा ? अब कौन मुझे माता-माता कहकर पुकारेगा ? अब, कौन मेरी आँखों के आँसू पोंछकर, अपनी तोतली बातों से मुझे हँसावेगा ? अब मैं किसका मुख देखकर अपनी आँखें ठण्डी करूँगी और अपने दुःख को भूलूँगी ? तुम भूखे रहने पर भी, कभी मुझ से न कहते और बिना मुझे साथ लिए न खाते, परन्तु अब तो कोई मेरी बात पूछने वाला भी न रहा। पुत्र रोहित ! मैंने तुम्हारे पिता के पुत्र-रत्न को खो दिया। अब, जब वे तुम्हारे विषय में मुझसे पूछेंगे; कि रोहित कहाँ है, तब मैं उन्हे क्या उत्तर दूँगी ? मैं, किस हृदय से कहूँगी, कि आपका जीवन-धन और सूर्यवंश का एकमात्र-रत्न अब संसार में नहीं है ? वत्स रोहित ! क्या मैंने इसी दिन के लिए तुम्हें पाल-पोसा था ? क्या दुष्ट साँप के लिये तुम्हीं डसने योग्य थे ? उस दुष्ट ने तुम्हारे बदले मुझे क्यों न डस लिया, या अब क्यों नहीं डस लेता है ? मुझे, उसने किस सुख के लिए छोड़ रखा है ? मेरे प्राण ! तुम इस शरीर में किस सुख की आशा से ठहरे हुए हो ? जहाँ रोहित गया है, वहाँ क्यों नहीं चलते ? क्या अभी कोई और दुःख देखना शेष है, जिसके लिए तुम ठहरे हुए हो ? इस दुःख, पुत्रशोक के भयङ्कर दुःख से बढ़कर, और कौन सा दुःख है, जिसे अभी और सहना है ? इस दुःख से बढ़कर तो संसार में और कोई दुःख नहीं है, फिर तुम इस शरीर को क्यों नहीं छोड़ते ? पुत्रशोक के भीषण-दुःख से छुटकारा क्यों नहीं लेते ? चलो, तुम भी वहीं चलो, जहाँ रोहित गया है। मैं, अबतक सत्य के लिए सब दुःखों को सहती रही, लेकिन यह कष्ट मेरे लिए असह्य है। मेरा रोहित जहाँ गया है,

वहीं मैं भी जाऊँगी और अवश्य जाऊँगी। अब, इस संसार में मैं किस आशा से रहूँ ? पुत्र की आशा से ही, अबतक हम सब कष्ट सहते रहे; लेकिन आज तो यह आशा भी न रही। जिस पुत्र की आशा के सहारे अबतक मैंने अपने दिन व्यतीत किये, वह पुत्र भी आज स्वप्न के रत्न की नाईं छिप गया। मेरे लिए तो आज सारा संसार शून्य है। अब, मुझे इस संसार में रहने की भी क्या आवश्यकता है।

तारा के इस करुण-क्रन्दन को सुनकर, उनके समीप बहुत-से लोग एकत्रित हो गये। तारा के हृदय विदारक-विलाप को सुनकर, उन लोगों के भी आँसू बहने लगे। सब लोग, तारा से सहानुभूति प्रकट करने लगे। तारा का विलाप सुनकर, वन के पशुपक्षियों ने भी खाना-पीना छोड़ दिया और तारा का अनुकरण करने लगे। यह सब कुछ हुआ, किन्तु रोहित के मृत-शरीर में जीवन का सञ्चार न हुआ। तारा, उसी प्रकार विलाप कर रही थीं, इतने में ही, वहाँ एक सज्जन आ गये।

सज्जनों की वाणी में, न मालूम कौनसी शक्ति होती है। वे, संसार के कठिन से कठिन दुःख को भी, बात की बात में कम कर देते हैं। उनकी वाणी, दुःखरूपी रोग के लिए रामबाण–औषधि के समान होती है। दुःख में सुख, निराशा में आशा, और विपत्ति में सम्पत्ति का सञ्चार कर देना ही, सज्जनों की विशेषता है।

वे सज्जन, तारा के समीप आकर कहने लगे—देवी तारा ! पुत्रशोक से विह्वल होकर, यदि कोई दूसरी स्त्री रोती, तब तो आश्चर्य की बात न थी, परन्तु तुम्हारे समान सत्यधारिणी, पुत्र

के शोक से विकल हो, यह आश्चर्य की बात है। यदि तुम भी कष्ट सहन में अधीर हो उठोगी, तो फिर दूसरा कोई कैसे धैर्य रख सकता है? यह शरीर, जिसको लिए हुए तुम विलाप कर रही हो, अनित्य तथा क्षणभंगुर है और आत्मा अमर है। फिर तुम शोक किसके लिए कर रही हो? इस नाशवान शरीर से जितना सुकृत्य हो जाय, वही अच्छा है। इस बालक ने भी, अपने जीवन का अन्त वीरों की तरह किया है और तुमने भी सत्य को इस प्रकार पाला है, कि आज सारे संसार में तुम्हारी कीर्त्ति छारही है। अब, क्या पुत्रशोक से व्यथित हो, अपने उस सत्य और धर्म को छोड़ना चाहती हो, जिसकी रक्षा तुमने इतने कष्ट सहकर की है? जिस सत्य के लिए तुमने राज्य-पाट छोड़ दिया, जिस सत्य के लिए तुमने मजदूरी की, जिस सत्य के लिए बिककर तुमने दासीपना किया, क्या उस सत्य को अब पुत्रशोक से कातर हो छोड़ दोगी? तुम बिकी हुई हो, तुमको उस ब्राह्मण ने पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ देकर मोल लिया है। यदि तुम, पुत्रशोक से कातर हो अपने प्राण त्याग दोगी, तो उस ब्राह्मण की स्वर्ण-मुद्राएँ यों ही जावेंगी, या नहीं? ऐसी अवस्था में, तुम्हारा मरना विश्वासघात कहलावेगा और तुम अपने प्रिय धर्म से पतित हो जाओगी। अबतक, तुमने धर्म की रक्षा की है, अब उसे छोड़ना उचित नहीं है। भद्रे! तुम मरने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं हो। अतः अपने इस विचार का परित्याग करो और कातरता को छोड़, धर्म पर ध्यान दो। तुम्हे, तुम्हारे स्वामी ने कुछ ही समय का अवकाश दिया है। उस समय को, यदि पुत्रशोक के विलाप में ही व्यतीत कर दोगी, तो फिर तुम स्वामी-आज्ञा-उल्लंघन

की पातकिन पो जाओगी। इसलिए धैर्य धारण करके, पुत्र की अन्त्येष्ठि क्रिया करने का विचार करो। वीर क्षत्राणी, अपने वीर-पुत्र के लिए, कभी कातर नहीं होती। उसमें भी, तुम सूर्यवंश की कुलवधू, दानवीर महाराजा-हरिश्चन्द्र की धर्मपत्नी और रोहित ऐसे वीर तथा स्वतन्त्रता-प्रिय बालक की माता हो। तुम्हें इस प्रकार शोक करना शोभा नहीं देता। इसके सिवा, शोक करने से, दुःख मिट भी तो नहीं सकता। युगयुगान्तर तक शोक करने से भी कष्ट निवारण नहीं होता, फिर शोक करने से ही क्या लाभ ? अतः वीर-क्षत्राणी की तरह, धैर्य धारण करके अपने कर्त्तव्य का विचार करो।

सज्जन के इस उपदेश ने तारा के हृदय में विद्युत का सा प्रभाव किया। वे, साश्चर्य विचारने लगीं, कि ये सज्जन मुझे कैसे पहचानते हैं ? इन्होंने, जितनी भी बातें कही हैं, उनसे प्रकट है, कि ये मुझे अवश्य ही पहचानते हैं। इनका उपदेश भी उचित ही है। वास्तव में, मैं दूसरे के यहाँ दासी हूँ। बिना क्रयी की आज्ञा के, मैं थोड़ा भी समय व्यय नहीं कर सकती, फिर मरने के लिये कैसे स्वतन्त्र हो सकती हूँ ? जिस सत्य की अबतक रक्षा की है, वह सत्य, मेरे आत्मघात करने पर कदापि नहीं बच सकता। अब, मेरा कर्त्तव्य यही है, कि मैं रोहित की अपेक्षा सत्य को अधिक समझ, रोहित की चिन्ता न करूँ, बल्कि सत्य की चिन्ता करूँ और वे ही कार्य करूँ, जिनके करने से सत्य न जाय।

सज्जन के समझाने से, तारा अपने हृदय में धैर्य लाई। उन्होंने, अपने हृदय के दुःख को दबाकर, रोहित की अन्त्येष्ठि-

क्रिया करने का विचार किया। लेकिन उन्हें ध्यान हुआ कि बिना किसी की सहायता के, मैं अकेली-स्त्री क्या कर सकूँगी ? श्मशान कहाँ है, अन्त्येष्टि-क्रिया कैसे की जाती है, आदि बातों से मैं अनभिज्ञ हूँ, अतः यदि इन्हीं सज्जन से इस कार्य में सहायता लूँ, तो मेरा कार्य अच्छी तरह चल सकता है।

तारा तो अपने मन में, उन सज्जन से सहायता लेने का विचार कर रही हैं, लेकिन दुष्ट-दैव ने यहाँ भी तारा का पीछा न छोड़ा। उसने, ऐसी माया रची, कि तारा के समीप जितने भी लोग अबतक खड़े थे, वे सब अपनी-अपनी ओर चल दिये। तारा, उन सबको आवाज देती ही रहीं, लेकिन उनकी पुकार पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया सभी अपनी-अपनी ओर चल दिये। तारा अकेली ही रह गई।

तारा के विलाप करने और उन सज्जन के समझाने में ही, संध्या हो गई थी। सूर्य, अपनी प्रकाशमयी किरणों को अस्ताचल की ओट में छिपा चुका था। अमावस्या की रात्रि, अपना प्रभाव जमाने के लिए, भयङ्कर-अन्धकार फैलाती जारही थी। गीदड़-उल्लूकादि, अपना डरावना शब्द सुना रहे थे। आकाश मे बादल छारहे थे, जिन्होंने टिमटिमाते हुए तारो को इस प्रकार छिपा लिया था, मानो वे रानी तारा के सत्य का प्रकाश भली-भाँति देखने के इच्छुक हों। ऐसी भयानक और अँधेरी रात में, वन के मध्य तारा, अपने मृत, पुत्र को लिये हुए अकेली बैठी हैं। प्रार्थना करने पर भी, समीप के लोगों के चले जाने से, तारा के हृदय में कितना दुःख हुआ होगा, यह बात अनुमान से ही जानी जा सकती है।

तारा की इस विपदावस्था की ओर, संसार के स्त्री-पुरुषों का ध्यान आकर्षित करते हुए, बुद्धिमान लोग कहते हैं—ऐ संसार के स्त्री-पुरुषो ! यदि तुम्हें धन, जन, रूप, यौवन, कार्यक्षमता आदि का अभिमान हो, तो तुम तारा की ओर देखो। तारा, उस समय के धनवानों, रूपवानों, यौवनवानों, बुद्धिमानों और क्षमता-वानों में एक ही थीं। लेकिन उन तारा पर भी विपत्ति पड़ी है, तो तुम किन कारणों से इन नाशवान् चीजों पर गर्व करते हो ? तारा, इसी जन्म में कुछ दिन पहले, एक विशाल-राज्य की रानी थीं और रोहित राजकुमार था। लाखों मनुष्य, इनकी रक्षा के लिए सदा तैयार रहते थे। लेकिन, आज वही राजकुमार, वन के मध्य मरा हुआ पड़ा है और वेही रानी, उसके पास अकेली बैठी हुई दुःख कर रही हैं। इस समय उन्हें कोई आश्वासन देनेवाला तक नहीं है, न उनके पास अपने पुत्र का अग्नि-संस्कार करने के लिए एक पैसा ही है। बल्कि कोई ऐसा सहायक-मनुष्य भी नहीं है, जो रोहित के शव को श्मशान तक पहुँचा दे, या तारा को श्मशान का मार्ग ही बता दे। अतः यह ध्यान रखो, कि आज तुम जिस धन पर गर्व करते हो, जिसके उपार्जन में न्याय और अन्याय का भी विचार नहीं करते, वह धन स्थायी नहीं, अस्थायी है ! यह सदा बना रहेगा, यह बात कोई नहीं कह सकता। फिर इसके लिए अन्याय क्यों करते हो ? इससे वृथा मोह क्यों करते हो ? और संसार में इसे ही उत्कृष्ट-वस्तु क्यों समझते हो ? इसका होना तभी अच्छा है, जब इससे किसी प्रकार का सुकृत्य कर लिया जाय। अन्यथा, सिवा पश्चात्ताप के कुछ शेष

नहीं रहता। हरिश्चन्द्र का राज्य, यदि किसी दूसरे राजा की चढ़ाई के कारण चला जाता, तो उन्हें सदा पश्चात्ताप रहता, कि मैंने अपने राज्य का कोई सदुपयोग नहीं किया। लेकिन उन्होंने राज्य को दान में दे दिया, इससे उन्हे अत्यधिक सन्तोष है। सारांश यह, कि अभिमान बुरा है, किसी वस्तु विशेष पर अभिमान न करके, यदि उससे कोई सुकृत्य कर लिया जावे, तो अच्छा है। अस्तु।

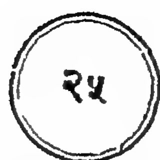
भयानक– अँधेरीरात में तारा, वन के मध्य अपने पुत्र क शव की अन्त्येष्टि-क्रिया की चिन्ता में बैठी हैं। उन्हे, श्मशान का मार्ग भी मालूम नहीं है। क्यी यानी वह ब्राह्मण, जिसने तारा को मोल लिया था, इतना निठुर निकला, कि न तो तारा को इस दु:ख के समय सहायता देने वह स्वयं ही आया, न किसी और को ही भेजा। सांसारिक-व्यवहार के अनुसार, श्मशानभूमि तक साथ देना उसका कर्त्तव्य था, परन्तु उसने इस कर्त्तव्य की भी उपेक्षा की। बल्कि, उसने तारा को, अपने पुत्र का अग्निसंस्कार करने के लिए, एक टका भी न दिया, जिसे देकर तारा अपने पुत्र का अग्निसंस्कार कर पातीं।

उस अँधेरी-रात में, वन के मध्य, अपने पुत्र-शव को अकेला पड़ा देख और पास में किसी के न होने से, तारा के हृदय में क्या-क्या भावनाएँ उत्पन्न हुई होंगी, यह कौन कह सकता है? लेकिन तारा क्षत्राणी थीं। विपत्तियो को सहन करने में अभ्यस्त हो चुकी थीं। सज्जन के समझाने से भी, उन्हें धैर्य मिला था और अपने कर्त्तव्य का भान भी हो चुका था। इसलिये, उन्होंने साहसपूर्वक रोहित के शव को अपने कन्धे पर उठा लिया और

जिस ओर वे मृतकों के शव को जाते देखती थीं, उसी ओर को चल दीं।

शव को लिये हुए, लथड़ाती और ठोकरें खाती हुई तारा, काशी की संकुचित गलियों में होती हुई श्मशान के पास पहुँचीं। पुत्र का अग्निसंस्कार, बिना लकड़ियों के कैसे करूँगी, इस चिन्ता से तारा का हृदय अधीर हो उठा। उनका साहस इस समय छूट गया और वे पुत्र के शव को भूमि पर रख, विलाप करने लगीं। तारा, अपने विलाप में पुत्र के पूर्व सुख और इस समय के भीषण दुःख का तुलनात्मक वर्णन करती हुई कहती हैं—हाय बेटा! तुम एक विशाल-राज्य के भावी स्वामी माने जाते थे, परन्तु आज तुम्हारा कोई सहायक भी नहीं है। और तो और, आज तुम्हारे अग्निसंस्कार के लिए लकड़ियें भी नहीं। अपने पुत्र की यह दशा, इस अभागिनी-माता को, न मालूम किन पाप-कर्मों के फल-स्वरूप देखनी पड़ रही है।

तारा इसी प्रकार अनेक बातें कहती हुई विलाप कर रही हैं। उनके हृदय-विदारक विलाप को सुनकर, गीदड़ों ने अपना स्वर भी बन्द कर दिया। इस आपत्तिकाल में तारा के हृदय की क्या दशा हुई होगी, इस बात को प्रत्येक सहृदय मनुष्य अनुमान से ही जान सकता है। लेकिन, इस कष्ट में भी तारा को अपने धर्म का विचार है। धर्म के विचार ने ही, वन में भी उन्हें पुत्रशोक से छुड़ाया था।



श्मशान में



अमावस्या की, घोर अन्धकारमय रात्रि का समय है। आकाश में, चारो ओर से मेघ घिर रहे हैं। एक भी तारा नहीं दिखाई देता। निविड़-अन्धकार से सारा श्मशान, साँय-साँय कर रहा है। निर्वाणप्राय चिताओ के प्रकाश से, अन्धकार की प्रत्यक्ष मूर्त्ति और भी स्पष्ट दिखाई देती है। श्मशान मे, स्थान-स्थान पर, श्वेत-नर-कपाल और अस्थियाँ विखरी हुई पड़ी हैं। चारों ओर सन्नाटा है। हाँ, गीदड़ों के वीभत्स-शब्द और वृक्षों की मुरमुराहट कभी-कभी अवश्य सुनाई देती है। इसी भयानक-श्मशान मे, एक पुरुष लँगोटा कसे, और हाथ में लट्ठ लिये, इधर-उधर चक्कर लगा रहा है। उसका शरीर विशाल, भुजाएँ प्रलम्ब और वक्ष-स्थल दीर्घ है। श्मशान की चिताओ का धुआँ लगने से, उसका शरीर काला हो रहा है। सिर और दाढ़ी के वाल बढ़े हुए और रूखे हैं। पाठकगण! यही पुरुष आपके पूर्व-परिचित महाराजा-हरिश्चन्द्र हैं, जो सत्य के लिए, भङ्गी के दास बनकर, उसकी आज्ञा से, श्मशान की रखवाली कर रहे हैं।

हरिश्चन्द्र, इधर से उधर घूमते हुए कह रहे हैं—"आह!

इस स्वर्णमण्डित मनुष्य देह का, अन्तिम-परिणाम भी कैसा भीषण है ! यह, या तो जलकर राख हो जाती है, या कुत्तों और गीदड़ों आदि का भोजन बन जाती है। एक समय, जो कान्ति अत्यन्त सुन्दर देख पड़ती है, जिसपर मनुष्य अभिमान करता है, वही कान्ति कुछ ही समय पश्चात्, चिता के धुएँ में मिलकर नष्ट हो जाती है। मनुष्य, अपने जीवन की बड़ी-बड़ी आशाओं को लिये हुए, यहाँ आकर चुपचाप सो जाता है। दीन से दीन और सम्पन्न से सम्पन्न के लिए, एक यही मार्ग है। मैं, नित्य यही देखता हूँ। ऐसा होते हुए भी, संसार के लोग, इस शरीर की अनित्यता का विचार नहीं करते। सैकड़ों पिता-माता और भाई अपने प्रिय से प्रिय स्वजन को यहाँ लाकर फूँक जाते हैं। वे रोते भी हैं, उनके हृदय में वैराग्य का सञ्चार भी होता है, लेकिन उतनी ही देर, जबतक कि चिता की आग बुझ नहीं जाती। उसके पश्चात, वही आशाएँ, वही हास्य-विलास और वही सुन्दर-सुन्दर कल्पनाओं का दौर-दौरा होने लगता है। फिर, वह एकदिन भी यह विचारने की आवश्यकता नहीं समझता, कि जिस तरह मैं अपने पुत्र मित्र या भाई को, श्मशान में जलाकर भस्म कर आया हूँ, उसी तरह एक दिन मुझे भी, उसी श्मशान का आश्रय लेना पड़ेगा, एक दिन, इस शरीर का भी अन्तिम-शयन चिता पर ही होगा और मैं भी इसी तरह भस्म कर दिया जाऊँगा।"

"श्मशान भूमि में आने पर, मनुष्य के हृदय में जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन भावनाओं को यदि वह अपने हृदय में, सदा के लिए रहने दे, तो इस नश्वर-शरीर से, वह न मालूम कौन-कौन से सुकृत्य कर डाले।"

"श्मशान ! तुम मनुष्य को कितनी उत्तम शिक्षा देते हो ! यदि मनुष्य, तुम्हारी दी हुई शिक्षा को, अपने हृदय में सदा के लिए प्रविष्ट करले, तो वह जीवन-मुक्त होजाय, इसमें सन्देह नहीं। तुम, मूर्त्तिमान गाम्भीर्य हो। तुम, निरन्तर कितने ही दुःखियों के गर्म-गर्म आँसू और उनके चीत्कार-हाहाकार आदि को, सहज ही में छाती तानकर सह लेते हो। कितने ही राजा-महाराजा आकर तुम्हारे वक्षस्थल पर सदा के लिए अनन्त-निद्रा में सो जाते हैं। एक चाण्डाल को भी तुम अपने हृदय में उसी प्रकार स्थान देते हो जैसे एक राजा को। राजा हो या प्रजा, ब्राह्मण हो या चाण्डाल और कोढ़ी हो या दिव्यशरीरधारी, तुम्हारे समीप सभी समान हैं। तुम, किसी से भेद-भाव नहीं रखते, सबको समान समझते हो। यदि, मनुष्य भी तुम्हारे समान समदृष्टि बनजाय, तो फिर उसे संसार में जन्म-मरण करने की आवश्यकता ही न रहे। तुम जड़ हो, फिर भी तुममें यह ज्ञान है, परन्तु मनुष्य, चैतन्य-शक्ति सम्पन्न होने पर भी, यह ज्ञान नहीं रखता। इसी कारण, उसे पुनः-पुनः तुम्हारी शरण में आना पड़ता है, परन्तु फिर भी वह तुम्हारी शिक्षाओं का मनन नहीं करता, न तदनुसार आचरण ही करता है।"

हरिश्चन्द्र, इस प्रकार कहते-कहते इधर-उधर घूम रहे थे, कि सहसा उनके कान में, किसी स्त्री के रुदन की आवाज पड़ी। वे विचारने लगे, कि इस अँधेरी-रात में यहाँ आकर रोनेवाली स्त्री कौन है? वे उसी ओर चल दिये, जहाँ अपने पुत्र के शव के पास बैठी हुई तारा रो रही थीं। हरिश्चन्द्र ने, तारा के समीप जाकर उनसे पूछा—भद्रे! तुम कौन हो, जो इस भयावनी रात्रि

के समय श्मशान में अकेली बैठी रो रही हो? हरिश्चन्द्र का शब्द सुनते ही तारा चौंक उठीं। अपने सामने एक विशालकाय, परन्तु भयावने-पुरुष को लँगोटा लगाये और हाथ में लट्ठ लिये खड़ा देख, तारा कुछ सहमीं। वे, भयभीत हो विचारने लगीं, कि रात्रि के समय यह कृतान्त के समान कौन पुरुष आ खड़ा हुआ! तारा ने साहस-पूर्वक राजा से पूछा—तुम कौन हो, जो इस भयावनी-रात्रि में एक अनाथ, अकेली और दुःखिनी-स्त्री के समीप आखड़े हुए हो? क्या तुम यमदूत हो? क्या तुम मेरे बालक को मेरी गोद से छीनने के लिये आये हो? परन्तु तुम्हारी क्या शक्ति है, कि तुम मेरे रहते, मेरे बालक को ले जाओ। मैं, अपनी गोद कदापि सूनी न होने दूँगी, प्रत्येक सम्भव-उपाय से अपने प्यारे बालक की रक्षा करूँगी।

तारा की बातों को सुनकर, हरिश्चन्द्र आश्चर्य चकित हो विचारने लगे, कि यह कौन स्त्री है, जो अभी तो रो रही थी और अभी ऐसी साहसिन बन गई? उन्होंने तारा से कहा—देवी! जैसी तुम विपद्ग्रस्त हो, वैसा ही मैं भी विपद्ग्रस्त हूँ। मैं, यमदूत नहीं हूँ, बल्कि मनुष्य ही हूँ और इस श्मशान की रक्षा करता हूँ। क्या तुम्हारा पुत्र मर गया है और तुम उसी के लिए शोक कर रही हो? लेकिन, इसके लिए तुम्हारा शोक वृथा है। संसार में जो आता है, उसे इस मार्ग से निश्चय ही जाना पड़ता है। यह तो अटल नियम ही है। यहाँ रहते हुए, मैं ऐसी घटनाएँ नित्य देखा करता हूँ। उन घटनाओं को देखते-देखते, मेरा हृदय वज्र हो गया है और वह ऐसा दुःख देखकर द्रवित नहीं होता। इस श्मशान मे, हजारो मनुष्य मेरे देखते-देखते जल चुके हैं।

उनमें बालक, युवा और वृद्ध सभी अवस्था के शामिल हैं। तुम्हारा पुत्र भी उसी प्रकार का एक है, अतः लाओ इसे भी जला दें। बादल उमड़ रहे हैं, यदि वर्षा हो जायगी तो फिर लकड़ियें भली प्रकार न जलेंगी और तुम्हारा पुत्र अधजला रह जायगा।

राजा की बातचीत सुनकर, तारा विचारने लगीं, कि यह कौन पुरुष है? इसका स्वर तो परिचित-सा जान पड़ता है! तारा, इस प्रकार विचार ही रही थीं कि आकाश में बिजली चमकी। बिजली के प्रकाश में, राजा के मुख को देखकर, रानी ने अनुमान किया, कि यद्यपि यह पुरुष है तो दीन वेश में, लेकिन इसकी आकृति सज्जनता की परिचायक है। निश्चित ही, यह कोई बहुत सज्जन पुरुष हैं। तारा, यह विचार कर उनसे कहने लगीं—महाशय, आप बातचीत से तो बहुत सज्जन मालूम होते हैं, कहीं आप कोई देव तो नहीं हैं और इस रात्रि के समय मेरी परीक्षा लेने या मेरी सहायता करने तो यहाँ नहीं आये हैं? यदि ऐसा हो, तो कृपा कर मेरे पुत्र को जिला दीजिये। मैं, आयु-भर आपका आभार मानूँगी और आपको अनेकानेक धन्यवाद दूँगी।

हरिश्चन्द्र—मैं, पहले ही कह चुका हूँ, कि मैं मनुष्य हूँ और इस श्मशान-भूमि की रक्षा करता हूँ। तुम्हारा यह अनुमान, कि मैं कोई देव हूँ, नितान्त निर्मूल है।

तारा—यदि आप देव नहीं हैं और मनुष्य ही हैं, तो कृपा करके मेरे पुत्र का सर्प-विष उतार दीजिये। मैंने सुना है, कि साँप के काटे हुए मनुष्य का प्राण शीघ्र नहीं निकलता और यह

भी सुना है, कि लोग साँप के विष को मन्त्र द्वारा उतार देते हैं। यदि आप साँप उतारना जानते हों और इस दुःखिनी के एकमात्र पुत्र को जीवित करदें, तो बड़ी कृपा होगी।

राजा—मैं, विष उतारना भी नहीं जानता और न अब मृत-पुत्र जीवित ही हो सकता है। इस प्रकार की अनावश्यक-बातचीत में समय जा रहा है, फिर कहीं वर्षा हो गई, तो तुम्हारे पुत्र का जलना कठिन हो जावेगा। इसलिए लाओ, इसे जला दें। विशेष बातचीत से लाभ नहीं, किन्तु हानि ही है।

तारा के स्वर को सुनकर राजा और राजा के स्वर को सुनकर तारा, हृदय में यह तो विचार करते हैं, कि यह स्वर परिचित है, परन्तु संसार में एक ही स्वर के कई मनुष्य हो सकते हैं, यह विचार कर कोई भी एक-दूसरे से नहीं पूछता। राजा की अन्तिम-बात से, तारा को अपने पुत्र की ओर से निराशा हो गई। उन्होंने राजा से कहा, यदि मेरा दुर्भाग्य ऐसा ही है, यदि मैं अपने पुत्र को किसी प्रकार भी फिर जीवित नहीं देख सकती, और तुम्हारी इच्छा इसे जला देने की ही है, तो लो, जला दो।

राजा—यहाँ जो शव जलाये जाते हैं, उनके जलाने में व्यय होनेवाली लकड़ी के मूल्य-स्वरूप, एक टका कर देना पड़ता है। तुम भी एक-टका कर लाओ, तब तुम्हारा पुत्र जलाया जावेगा।

तारा—मेरे पास एक टका तो क्या, एक कौड़ी भी नहीं है, जो कर-स्वरूप दे सकूँ। मैं विवश हूँ। आप मुझ पर दया करके, इसे बिना कर लिए ही जला दीजिये।

समय! तेरी गति बड़ी विचित्र है। तू संसार के सब प्राणियों की स्थिति को, गाड़ी के पहिये की तरह घुमाया करता

है। जो रानी, नित्य हजारों का दान करती थीं, वही आज एक टका कर के लिए, दया की भिक्षा माँग रही हैं। तेरा यह नियम ही है, कि जो आज कङ्गाल दिखाई देता है, वही कल दर-दर भीख माँगता नज़र आता है। ऐसा होते हुए भी। तुझ में इतनी शक्ति जानते हुए भी, संसार के लोग तेरी प्रतिष्ठा नहीं करते और तेरी सदा उपेक्षा ही किया करते हैं। अस्तु।

रानी की बात सुनकर, राजा कहने लगे—मैं, यहाँ अनेक स्त्री-पुरुषों को अपने स्वजन का शव लेकर आते देखता हूँ, परन्तु तुम एक विचित्र-स्त्री जान पड़ती हो, जो अपने पुत्र को जलाने की लकड़ी के लिए, एक टका भी न देकर, उसके लिए भी दया की भिक्षा चाह रही हो! क्या तुम्हारा कोई भी साथी नहीं है, जो तुम्हें एक टका देता? क्या तुम विधवा हो?

तारा—महाशय, ऐसा न बोलिये, मैं विधवा नहीं, सधवा हूँ।

हरिश्चन्द्र—फिर क्या तुम्हारा पति इतना निठुर है, जो न तो तुम्हारे साथ ही आया, न तुम्हें कर के लिये एक टका ही दिया? क्या वह इतना निर्दयी है? उस पति को धिक्कार है, जो ऐसे समय में भी अपनी स्त्री की सहायता नहीं करता। ऐसे लोग, जो अपनी स्त्री की सहायता नहीं कर सकते, किसी स्त्री के पति क्यों बन जाते हैं और क्यों पति नाम को लजाते हैं?

राजा की इस बात को सुनकर, तारा को बहुत ही दुःख हुआ। वे, मन ही मन कहने लगीं—हाय, जो बात आजतक न हुई थी, वह भी आज हो गई। मैंने, विश्वामित्र ऐसे ऋषि से भी पति की निन्दा न सुनी थी, लेकिन आज मैं अपने उन्हीं कानों से पति की निन्दा सुन रही हूँ। यह पति की महिमा से अनभिज्ञ

हैं, इसी से इसने पति के लिए ऐसे अशिष्ट-शब्दों का प्रयोग किया है। यदि यह, पति की महिमा जानता होता, तो ऐसा बोलने का साहस कदापि न कर सकता। फिर राजा से बोली—कृपाकर आप पति की निन्दा न कीजिये। आपको यह नहीं मालूम है कि मेरे पति कैसे हैं और वे किस कारण मुझ से पृथक् हुए हैं। मेरे पति न तो निठुर ही हैं, न निर्दयी ही। वे, बड़े ही दयालु हैं। सत्य-धर्म की रक्षा के लिए, अपना सब सुख त्यागकर, वे आप स्वयं घोर कष्ट उठाने को तैयार हुए हैं। मैं, उन्हें आँखों की पुतली के समान और यह पुत्र पुतली के तारों के समान प्रिय है, परन्तु धर्म-पालन के लिये, वे हमें त्यागकर, इस समय हम से दूर हैं।

तारा की बात सुनकर, हरिश्चन्द्र विचारने लगे, कि ये सब बातें भी मुझही पर घटती हैं, इसका स्वर भी तारा के स्वर-सा प्रतीत होता है, तो क्या यह तारा है? क्या तारा पर आज इतनी विपत्ति है? लेकिन तारा पर ऐसी विपत्ति का होना सम्भव नहीं। उन्होंने, तारा से पूछा—क्या स्त्री, पुत्र और राज्य का त्यागी तुम्हारा पति हरिश्चन्द्र ही है? क्या तुम हरिश्चन्द्र की पतिव्रता-स्त्री तारा हो?

राजा की इस बात को सुनकर, तारा साश्चर्य विचारने लगीं, कि यह श्मशान-रक्षक पति को और मुझ को कैसे जानता है? वे इस प्रकार विचार कर ही रही थीं, कि मेघाच्छन्न आकाश में बिजली चमकी। बिजली के प्रकाश से, दम्पति ने एक-दूसरे को पहचाना। पति को देखकर, रानी को धैर्य हुआ, कि अब पति के आजाने से मेरी चिन्ता कम हुई। अब मेरी दु:ख नौका को सहायता मिल गई और रोहित के अग्नि-संस्कार का भार, दो भागों में विभक्त हो गया।

संसार का यह नियम है, कि दुःख के समय किसी स्वजन के मिलने पर जहाँ हर्ष होता है, वहीं दुःख भी उमड़ पड़ता है। इसी के अनुसार, रानी को पति के मिलजाने से, इस समय जहाँ आनन्द हुआ, वहीं रोहित की मृत्यु के शोक ने भी उन्हें जोर से घर दबाया। इसी प्रकार, राजा को भी, रानी के मिलने का हर्ष होने के साथ ही, रोहित की मृत्यु का दुःख भी हुआ। वे, मन ही मन कहने लगे—हाय! आज रोहित चल बसा! तारा की यह दशा है!

पति को पहचानकर, तारा रोती रोती उनके पास पहुँची। उनके मुख से, नाथ, नाथ के सिवा कुछ भी न निकलता था। उधर, राजा भी दुःख से अधीर हो उठे। उनके मुख से भी केवल तारा ही तारा निकला, और कुछ नहीं। दुःखावेश में, दम्पति एक दूसरे से लिपट गये और पुत्र के लिए विलाप करने लगे।

राजा कहने लगे—हा रोहित! हा पुत्र! हा हृदयसर्वस्व! तुम मुझे अकेला छोड़कर कहाँ चले गये? बेटा! मेरी तृषा के जल! रोग की औषधि! स्वास्थ्य के पथ्य! दुर्भावना की शान्ति! हमें विपत्ति में छोड़कर तुम कहाँ चले गये? तुम्हारी ही आशा से, हम अबतक अनेक विपत्तियें सह रहे थे, परन्तु आज तुमने हमें निराश क्यों कर दिया? पुत्र! क्या तुम्हारी मृत्यु का यही समय था? हा! कुसुमवत् सुकुमार देह आज स्थिर पड़ी है! खंजन का मद भंजन करने योग्य तुम्हारे नेत्र, आज अधखुले दिखाई देते हैं! आज पृथ्वी पर मुझे पिता कहनेवाला कोई न रहा! हाय! आज मैं निःसन्तान हो गया! बेटा! उठो, उठकर एक-बार अपने पिता से तो कुछ कहो! वत्स! तुम्हारा पिता, तुम्हारे

बिना कितना व्याकुल है यह तो देखो ! उसे कुछ शान्ति तो दो !

राजा और रानी, पुत्र शोक से इतने अधीर हो उठे, कि विलाप करते-करते मूर्छित होगये। इस मूर्छा के कारण, वे पुत्र शोक की वेदना से यद्यपि मुक्ति पागये, तथापि यह स्थिति अधिक देर तक न ठहर सकी। जल-कण मिश्रित शीतल-पवन ने, उनके शरीर को स्पर्श करके, उनकी मूर्छा को दूर कर दिया। मूर्छा के दूर होते ही, पुत्रशोक के दुःख ने, उन्हें पुनः घेर लिया और वे फिर विलाप करने लगे।

विलाप करते-करते, राजा कहने लगे—प्रिये तारा ! अब हमलोग संसार में किस आशा से जीवित रहें ? आजतक तो यह आशा थी, कि पुत्र रोहित बड़ा होकर हमारे दुःख दूर कर देगा, हमें दासत्व से मुक्त करेगा, परन्तु आज यह आशा भी न रही। इस रोहित के सहारे से ही, मैं प्रसन्नतापूर्वक भङ्गी का सेवक बना हुआ था और तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना करती थीं, परन्तु आज इस आशा का स्तम्भ ही टूट गया। अब, हम लोगों को संसार में रहने से लाभ ही क्या है ? दिनरात पुत्र-शोक के दुःख से क्यो दग्ध हों ? इसलिए यही उचित है, कि रोहित के साथ ही हम लोग भी प्राण त्याग कर, रोहित का अनुकरण करें। लेकिन प्राण-त्याग के पहले यह उचित है, कि हमलोग अपने धर्मपालन की आलोचना कर डालें, कि उसमें किसी प्रकार की कोई भूल तो नहीं हुई !

सांसारिक-मनुष्य, जब दुःख से घबरा उठते हैं, तब वे दुःख-मुक्त होने के लिए, आत्मघात का उपाय विचारते हैं और समझते हैं, कि ऐसा करने से हम दुःखमुक्त हो जावेंगे। इसी के अनुसार

राजा और रानी ने भी आत्मघात करने का विचार किया और दोनों अपने-अपने धर्मकार्यों की आलोचना करने लगे। अपने धर्मकार्यों की अलोचना करते हुए राजा को ध्यान आया, कि मैं अपने धर्मकार्यों में छोटी-छोटी गल्तियें तो ढूँढ रहा हूँ, परन्तु उसमें जो हिमालय के समान भारी और भयङ्कर भूल हो रही है, वह मुझे दिखाई ही नहीं देती ! मैं, विका हुआ।दूसरे का दास हूँ। स्वामी ने मुझे श्मशान मे रहकर, यहाँ आने वाले शव के अभिभावकों से कर वसूल करने और जिस शव का कर न प्राप्त हो, उसे न जलाने देने की आज्ञा दे रखी है। फिर मुझे रानी के साथ चिपटने और आत्महत्या का विचार करने का क्या अधिकार है ? रानी भी, दूसरे के यहाँ बिकी हुई दासी है। उसे भी क्या अधिकार है, कि वह मेरी आज्ञा मानकर आत्महत्या करे ? इसके सिवा, यह शरीर प्रकृति का बनाया हुआ है। हम, इसके किसी छोटे से छोटे भाग को भी बनाने में समर्थ नहीं हैं। जब हम इसे बना नहीं सकते, तो प्रकृति के नियम के विरुद्ध इसे नाश कैसे कर सकते, हैं! हमें, दोनों प्रकार से इसके नाश करने का अधिकार नहीं है। ओह ! आत्महत्या और विश्वासघात, ये दोनों ही महापाप हैं, यह जानकर भी हम इस पाप मे कैसे लिप्त हो रहे हैं ?

यह विचार आते ही, राजा खड़े होगये और तारा से कहने लगे—अभागिनी तारा ! हमलोग मरने के लिए भी स्वतन्त्र नही हैं। तुम और मैं, दोनों ही दूसरे के क्रीत-दास हैं। इस प्रकार दुःख से व्यथित होकर आत्महत्या करना और क्रयी-स्वामी को धोखा देना, अपना कार्य नहीं है। इसलिए मरने का विचार त्याग-

कर, धैर्यपूर्वक इस कष्ट को सहन करो और अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहो।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगी—नाथ ! इसी कारण मैंने रोहित की मृत्यु के स्थान पर प्राणत्याग नहीं किया था, अन्यथा अबतक कभी से रोहित का अनुकरण करचुकी होती। परन्तु दुःखावेश में, इस समय मुझे यह ज्ञान न रहा और मैं आपकी आज्ञा मानकर, मरने के लिए तैयार होगई। अब परमात्मा की कृपा से, आप ही के हृदय में यह बात आगई, जिससे हमलोग आत्महत्या के पाप से भी बचगये और स्वामी के साथ विश्वासघात करने के पाप से भी।



अन्तिम-कसौटी



यह विचारकर, कि आत्महत्या करना महान् पाप है और हम आत्महत्या करने के लिए स्वतन्त्र भी नहीं हैं, राजा-रानी ने मरने का विचार त्याग दिया। अब, उनके सामने फिर रोहित के दाह-संस्कार की समस्या आखड़ी हुई। राजा कहने लगे—तारा, जो होना था, वह हो चुका, अब एक टका कर लाओ, तो रोहित को जला दें। मेरे क्रयी-स्वामी की आज्ञा है, कि विना टका लिए शव जलाने को लकड़ी न दी जाय।

तारा—नाथ, आप टका किससे माँग रहे हैं? क्या दुःख के कारण इस समय आप अपने आपको भी भूल गये? यदि नहीं, तो फिर आप मुझसे टका कैसे माँग रहे हैं? मैं, आपकी वही अर्द्धांगिनी-स्त्री हूँ, जिसका विवाह आपके साथ विधिवत हुआ था और यह शव आपके उसी पुत्र रोहित का है, जिसे आप प्राणों से भी अधिक प्रिय समझते थे। मै, इसके शव को न मालूम किन-किन कष्टों को सहकर यहाँ तक लाई, अब इसके पिता होने के कारण आपका कर्त्तव्य है, कि आप इसका अन्तिम-संस्कार करें, उसकी जगह आप और मुझही से, कर माँग रहे

हैं ? नाथ, क्या आप से यह बात छिपी है, कि मैं दूसरे की दासी हूँ और मेरे पास एक पैसा भी नहीं है ? ऐसी दशा में आप मुझसे टका माँगे, यह कहाँ का न्याय है ?

ऐसी विकट परिस्थिति में पड़ कर, साधारण-कोटि के मनुष्यों का धैर्य छूट जाता है, परन्तु जो महापुरुष हैं, वे कठिन से कठिन सङ्कट पड़ने पर भी अपना धैर्य नहीं छोड़ते। किसी कवि ने कहा है:—

कदार्थितस्यापि हि धैर्य वृत्तेर्न शक्यते धैर्य गुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वन्हेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

अर्थात्—धैर्यवान पुरुष, घोर-दुःख पड़ने पर भी, अपने धैर्य को नहीं छोड़ता। क्योंकि अग्नि को उल्टी कर देने पर भी उसकी शिखा ऊपर ही को रहती है, नीचे की ओर नहीं जाती।

इसी के अनुसार, हरिश्चन्द्र, यहाँ भी धैर्य से विचलित न हुए और कहने लगे—तारा, यद्यपि तुम्हारा यह कथन अनुचित नहीं है, परन्तु यह तो बताओ कि तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना क्यों कर रही हो ?

तारा—सत्य और धर्म की रक्षा के लिए।

हरिश्चन्द्र—जिस सत्य और धर्म की रक्षा के लिए राजपाट छोड़ा, मज़दूरी की, तुम ब्राह्मण के यहाँ और मैं भङ्गी के यहाँ बिका, जिस सत्य के लिए इतने कष्ट सहे, क्या उस सत्य और धर्म को केवल एक टके के लिए चला जाने दें ? तुमने, एक-सहस्र स्वर्णमुद्राओं के समय भी धर्म छोड़ने को न कहा, अपितु

धर्म रक्षा के लिए पहले स्वयं ही बिकीं, क्या उसी धर्म को केवल एक टके के वास्ते छोड़ देने को तुम कहती हो ? मुझे अपने स्वामी की आज्ञा है, कि विना कर लिए श्मशान की लकड़ी से, किसी शव का अग्निसंस्कार न होने दिया जाय, ऐसी दशा में, मैं तुम्हारे या पुत्र के मोह में पड़कर, विना टका लिए श्मशान की लकड़ी से अग्निसंस्कार कर दूँ, तो क्या धर्म न जायगा ? मैं, भङ्गी का दास हूँ, उन्हीं की आज्ञा से मैं श्मशान की रखवाली और लकड़ी के मूल्य स्वरूप एक टका कर वसूल करता हूँ, ऐसी दशा में चाहे मेरा पुत्र हो, या दूसरे का; मैं विना कर लिए कदापि लकड़ी नहीं लेने दूँगा। मैं, सारे संसार को छोड़ सकता हूँ, परन्तु सत्य को नहीं छोड़ सकता। तुम्हींने मुझे शिक्षा दी है, कि सत्य की प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए। तुम्हारी इस शिक्षा के धारण करने से, अब मैं सत्यपालन में इतना दृढ़ होगया हूँ, कि संसार का कोई पदार्थ मुझे सत्य से विचलित करने में, समर्थ नहीं हो सकता। ये सांसारिक-पदार्थ अनित्य हैं और सत्य नित्य है। नित्य को छोड़कर, अनित्य को अपनाने की मूर्खता, कोई भी बुद्धिमान नहीं कर सकता। यदि मैं, इस समय केवल एक टके के लिए कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो जाऊँ, तो सत्य की रक्षा के लिए; अबतक जो कष्ट सहे हैं, वे सब निष्फल हो जावेंगे। तथा इतने कष्ट सहकर भी, जिस सत्य की रक्षा की है, उस सत्य से मैं और तुम दोनों ही दूर हो जावेंगे। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी; जब हमलोग नहीं घबराये और उन्हें धैर्य पूर्वक सहते हुए सत्य की रक्षा की, तो अब इस एक टके की बात से घबराकर; सत्य को त्याग देना कैसे उचित होगा ? तारा !

तुम्हारी रक्षा करना और पुत्र का अन्तिम-संस्कार करना यद्यपि मेरा कर्त्तव्य है, तथापि मैं विवश हूँ। मुझे, बिना कर वसूल किये, शव जलाने देने का किञ्चित भी अधिकार नहीं है, इसलिये, मुझसे बिना कर लिये जलाने देने की आशा छोड़ो और कर चुकाने का कोई उपाय करो।

पाठकगण! कहाँ तो आज के वे लोग हैं, जो अकारण ही या थोड़े से लोभ में पड़कर, दिनदहाड़े लोगों की आँखों में धूल झोंकते और झूठी सौगन्दें खा-खाकर सत्य का त्याग करते हैं, और कहाँ सत्यमूर्ति महाराजा हरिश्चन्द्र हैं, जो आधी और अँधेरी-रात में भी, अपनी स्त्री पर दया करके, अपना सत्य छोड़कर, अपने ही पुत्र को जलाने की—बिना कर लिए—स्वीकृति नहीं देते। कहाँ तो आज के वे लोग हैं, जो सत्य बात को झूठ और झूठ को सत्य बना देते हैं, स्वामी क्या, अपने ही स्त्री-पुत्र और धर्म को धोखा देने में भी नहीं हिचकिचाते, और कहाँ हरिश्चन्द्र हैं, जो स्वामी के उचित कर को, अपने पुत्र के लिये, इस विपदावस्था में भी नहीं छोड़ रहे हैं। इस अन्तर का कारण, केवल सत्य पर विश्वास न होना और होना है। आज के ऐसे लोगो को, सत्य पर विश्वास नहीं है। वे विचारते हैं, कि यहाँ कौन देख रहा है? या हमारे झूठ को कौन समझ सकता है? परन्तु हरिश्चन्द्र को सत्य पर विश्वास था। वे, इस बात को खूब समझते थे, कि सत्य सर्वत्र व्यापक है, यह किसी समय भी छिपाने से नहीं छिप सकता और इसे छिपाने की चेष्टा करना भी पाप है।

आज की, अधिकांश—स्त्रियो के विचारानुसार, हरिश्चन्द्र के उपरोक्त कथन पर, तारा को दुःख होना स्वाभाविक था, परन्तु

तारा के विचार, ऐसी स्त्रियों के विचारों से सर्वथा विपरीत थे। उन्हें, सत्य और धर्म उसी प्रकार प्रिय थे, जैसे कि वे हरिश्चन्द्र को प्रिय थे। वे, महान् से महान् दुःख में भी, अपने स्वार्थ के लिए भी, पति से सत्य छोड़ने का आग्रह करना न जानती थीं। अस्तु।

पति की बात सुनकर, तारा कहने लगीं—नाथ! आपका कथन यथार्थ है। दुःख के आधिक्य से मेरी बुद्धि अस्थिर थी, इसी कारण मैंने आपसे, बिना कर लिये पुत्र का अग्निसंस्कार करने की प्रार्थना की थी। स्वामी की आज्ञा का पालन करना, आपका कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य पर स्थिर न रहना ही, धर्म का त्याग है। इसलिये, आप अपने स्वामी की आज्ञा, उल्लंघन न करिये। परन्तु प्रश्न यह है, कि मेरे पास कर देने को टका नहीं है, तो क्या पुत्र का शव बिना जलाये यों ही पड़ा रहेगा?

हरिश्चन्द्र—प्रिये! तुम्हीं विचारो, कि बिना टका दिये, अग्निसंस्कार कैसे हो सकता है? सौभाग्य से स्वामी (भङ्गी) यहाँ आजावें और वे दया करके बिना कर लिये अग्निसंस्कार करने की स्वीकृति दे दें, तो यह दूसरी बात है, अन्यथा बिना कर दिये, पुत्र का अग्निसंस्कार होना सर्वथा असम्भव है।

राजा का यह उत्तर सुन, तारा को बहुत ही दुःख हुआ। वे, अपने पुत्र के पास गिरकर रुदन करने लगीं और कहने लगीं—हाय! आज यह पुत्र ऐसा अभागा होरहा है, कि एक टके के बिना इसका शव योंही पड़ा है! जिसके जन्मोत्सव में हजारों-लाखों रुपये व्यय किये गये थे, आज उसी की मृत्यु होने पर

लकड़ी के लिये एक टका भी नहीं है, जो देकर इसका अग्नि-संस्कार करूँ।

रानी, इस प्रकार करुणापूर्ण विलाप कर रही थीं, कि सहसा उन्हें ध्यान आया, कि इस प्रकार। रुदन और विलाप से पुत्र के अग्निसंस्कार में न तो किसी प्रकार का लाभ ही हो सकता है, न कहीं से किसी प्रकार की सहायता मिलने की ही आशा है। मेरे पास यह जो पहनने की साड़ी है, क्या इसमें की आधी-साड़ी, एक टके मूल्य की भी न होगी? एक टके की ही नहीं, यह तो एक टके से बहुत अधिक मूल्य की होगी, फिर इसमें से आधी साड़ी फाड़कर, एक टके के बदले क्यों न दे दूँ और इसे देकर अपने पुत्र का अग्निसंस्कार क्यों न करूँ? यदि ब्राह्मण को मेरी दशा पर दया आवेगी और वे मुझे कोई दूसरा वस्त्र दे देंगे, तब तो अच्छा ही है, अन्यथा आधी-साड़ी से ही मैं अपना तन ढाँके रहूँगी। लेकिन पुत्र को बिना अग्निसंस्कार किये पड़ा रहने देना, मातृ-कर्त्तव्य के विरुद्ध है।

इस प्रकार विचारकर, रानी ने अपनी साड़ी में से आधी साड़ी फाड़ी और राजा से कहने लगीं—आप एक टका कर के बदले में यह वस्त्र, जो एक टके से अधिक मूल्य का है, ले लीजिये। अब तो आपको पुत्र का अग्निसंस्कार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है?

पाठकगण! साधारण मनुष्य का ऐसी अवस्था में सत्य से विचलित हो जाना, आश्चर्य की बात नहीं है; लेकिन हरिश्चन्द्र असाधारण पुरुष हैं, जो इस दशा में भी सत्य से विचलित न हुए। स्त्री की ऐसी दशा देखकर, पुरुष का हृदय पसीज उठना

स्वाभाविक है, लेकिन सत्यपालन के लिए, राजा का हृदय न मालूम कैसा वज्र का बना हुआ है, जो इस समय भी न-पसीजा। अस्तु।

रानी की बात के उत्तर में, राजा ने कहा—तुम्हारे समान सत्य पालनेवाली स्त्री वास्तव में धन्य है, जो सत्य की रक्षा के लिए, अपने पहने हुए वस्त्र में से भी, आधा फाड़कर दे देने में संकोच नहीं करती। इस वस्त्र को। लेकर अग्निसंस्कार करने में मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

"लीजिये नाथ, यदि लज्जा ढाँकने का वस्त्र सत्य की रक्षा के लिए न दूँगी, तो फिर कब दूँगी" ?—यह कहकर, जैसे ही रानी ने अपने पहनने के वस्त्र में से आधा वस्त्र राजा को दिया और जैसे ही रानी के दिये हुए वस्त्र को राजा ने अपने हाथ में लिया, वैसे ही आकाश में, एक दिव्य प्रकाश प्रकट होने के साथ ही देव-दुन्दुभी बजने लगी। देवतागण, हरिश्चन्द्र और तारा पर पुष्प वर्षाने लगे, तथा दोनों के जयघोष के साथ ही साथ कहने लगे, कि तुम्हारे सत्यपालन के व्रत को, तुम्हारे माता-पिता को, तुम्हारे मनुष्य-जन्म को, तुम्हारे धैर्य और साहस को, तथा तुम्हारी धर्मभीरुता को धन्य है। घोर अँधेरी रात में, अन्य किसी की अनुपस्थिति में और अपने पुत्र के अग्निसंस्कार के कार्य में भी सत्य पर दृढ़ बना रहे, तथा धर्म को दगा न दे, ऐसा मनुष्य हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त कौन होगा ? कौन ऐसी स्त्री होगी, जो ऐसे विकट समय में भी, अपने पति से धर्म छोड़ने का आग्रह न करे ?

आकाश के प्रकाश, पुष्पवृष्टि, और वहाँ के शब्दों को सुनकर

राजा-रानी आश्चर्य चकित रह गये। उसी समय, एक दिव्य-शरीरधारी देव, आकाश से उतरकर राजा और रानी के पास आखड़ा हुआ। यह वही देव है, जिसने हरिश्चन्द्र को सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी। इसी देव ने, इन्हें इतने कष्ट में डाला था और अपनी माया से, रोहित को साँप से डसाकर, उसे निर्जीव-सा कर दिया था। इस अन्तिम कसौटी में भी, राजा को सत्य पर दृढ़ देख, उसका अभिमान काफूर की तरह उड़-गया। अब उसने दीनता धारण की और अपने किये पर पश्चा-ताप करने लगा। श्मशान मे आकर, सबसे पहले उसने रोहित पर से अपनी माया हटाई। माया हटते ही, रोहित उठकर उसी प्रकार खड़ा होगया, जैसे सोकर उठा हो।

अपने समीप, एक दिव्य-शरीरधारी देव को खड़ा, तथा रोहित को इस प्रकार जीवित होजाते देख, राजा और रानी का आश्चर्य अत्यधिक बढ़ गया। वे, इस बात को न समझ सके, कि यह सब क्या होरहा है, हमारे समीप यह कौन आखड़ा हुआ है और मृत रोहित जीवित कैसे होगया? इतने ही में वह देव नम्रता दिखाता हुआ, राजा और रानी से कहने लगा—आप लोग मुझपर दया करके मेरा अपराध क्षमा कीजिये।

देव की इस क्षमा-प्रार्थना से तो, राजा-रानी के आश्चर्य का और भी ठिकाना न रहा। राजा ने देव से कहा—मैं, नहीं जानता कि आप कौन हैं और आपने मेरा क्या अपराध किया है। कदाचित् आपने मेरा कोई अपराध किया भी हो, तब भी मुझे आप पर किसी प्रकार का क्रोध नहीं हो सकता।

राजा की बात के उत्तर में, देव अपना परिचय देकर उनसे

कहने लगा—महाराज, इन्द्रसभा मे इन्द्र के मुख से आपके सत्य की प्रशंसा सुन, मुझे अपने स्वभावानुसार क्रोध हो आया। मैंने विचारा, कि इन्द्र, हम देवों के सामने मनुष्य की प्रशंसा कैसे करते हैं! मुझे, इन्द्र द्वारा की गई आपकी प्रशंसा असह्य हो उठी और मैंने आपको सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए ही, मैंने अप्सराओं को भेजकर, विश्वामित्र का उपवन ध्वंस कराया था और इस तरह विश्वामित्र को कुपित कराकर, आप लोगों को कष्ट में डाला था। रोहित को भी, मैंने ही सर्प बनकर डसा था, तथा उसे माया से निर्जीव-सा बना दिया था। मैंने, अब उसपर से अपनी माया उठाली, इसी से वह उठ खड़ा हुआ है। ये सब कार्य, मैंने आपको सत्य से विचलित करने के लिए ही किये थे, परन्तु आप इस घोर-दुःख के समय भी सत्य से विचलित न हुए। अब, मेरा अभिमान दूर हुआ है। मैं, आपकी सत्यवीरता को समझ चुका हूँ। मैंने, अभिमानवश अकारण ही आपको इतने कष्ट दिये हैं, इसके लिए मैं आपसे क्षमा प्रार्थी हूँ। यदि आप, मेरे अपराधों को क्षमा कर देंगे, तब तो ठीक है, अन्यथा मेरे ये पाप मुझे सदा दग्ध करते रहेंगे और मेरी आत्मा को कभी शान्ति न मिलेगी।

देव की बात सुनकर, राजा-रानी को वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता, विद्यार्थी को परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर होती है। राजा ने देव से कहा— मेरे क्षमा करने से, यदि आपको शान्ति मिलती है, तो मैं आपको क्षमा करता हूँ। लेकिन आप जिन कार्यों के लिए मुझसे क्षमा चाहते हैं, उन कार्यों के करने से, आप मेरे अपकारी नहीं, किन्तु उपकारी हैं। यदि, आपके

द्वारा मेरे सत्य की परीक्षा न होती, तो मैं न समझता, कि मैं कहाँ तक सत्य का पालन करसकता हूँ। आपने, मेरे सत्य की परीक्षा के लिए, स्वर्गसुख छोड़ कर कष्ट उठाया, इसके लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं।

देव—आपका यह कथन भी, आपकी महानता का परिचायक है; लेकिन वास्तव में उपकारी मैं नहीं, किन्तु आप हैं। यदि आप इन कष्टों को सहन न करते, तो मुझ में जो अभिमान था, वह भी नष्ट न होता और सत्य पर भी मुझे अश्रद्धा हो जाती। मुझ में अवतक बहुत ही अभिमान था। मैं, अभिमानवश इन्द्र को भी कुछ न समझता था; लेकिन आपने कष्ट सहन करके, मेरे अभिमान को नाश कर दिया। अब, मुझ में वह अभिमान किंचित्मात्र भी नहीं रहा, जो कुछ समय पूर्व था। आपने जो कष्ट सहे हैं, वे सब मेरा उपकार करने के लिये ही। आपकी इस कष्ट सहन की तपस्या से ही, मेरा वह अभिमान नष्ट हुआ है, जो और किसी तरह नष्ट नहीं हो सकता था। मैं, आया तो था आपको कष्ट देने, लेकिन मैं उसी प्रकार शुद्ध होगया, जैसे पारस को काटनेवाली छुरी, पारस के स्पर्श से स्वयं ही सोने की बन-जाती है। मेरे द्वारा, इतने कष्ट पाने पर भी, आपने मेरे अपराध क्षमा कर दिये, यह आपकी महान् उदारता है। आपके क्षमा करने से, मेरा अज्ञान भी मिट गया और मेरा आत्मा भी पवित्र होगया।



विश्वामित्र और अवध

परिवार सहित महाराजा हरिश्चन्द्र के अवध से चले जाने पर, अवध की दुःखी-प्रजा, विवश हो नगर को लौटी। इस समय सब के मुखपर उदासी छाई हुई है। सब, अपने नेत्रों से आँसू बहा रहे हैं और मन ही मन, हरिश्चन्द्र के चले जाने से दुःख अनुभव कर रहे हैं। वह नगर, जो कल तक रमणीय दिखाई देता था, आज भयङ्कर जान पड़ता है। वहाँ के वे निवासी, जो प्रसन्न चित्त रहते थे, आज चिन्तित और दुःखित दिखाई पड़ रहे हैं। जिस बाजार में, नित्य व्यापार होता था, वहाँ आज झुण्ड की झुण्ड प्रजा एकत्रित होकर, यही दुःख-चर्चा कर रही है। सारांश यह कि महाराजा हरिश्चन्द्र के चले जाने से, उनके साथ ही अवध नगर की सुन्दरता और प्रजा की प्रसन्नता भी चली गई है। प्रजा, दिनरात हरिश्चन्द्र के चले जाने की चिन्ता में ही निमग्न रहती है, दूसरा कार्य न तो उसे सूझता ही है, न उसके करने में मन ही लगता है।

प्रजा के मुख्य-मुख्य मनुष्य, एक तो हरिश्चन्द्र के चले जाने

से चिन्तित थे ही, दूसरे प्रजा की इस अवस्था की चिन्ता ने उन्हें और भी घेर लिया। वे विचारने लगे, कि यदि प्रजा की यही दशा रही, तो सारी प्रजा थोड़े ही दिनों में हरिश्चन्द्र की विरहाग्नि में जल मरेगी। हरिश्चन्द्र ने, चलते समय जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार हमारा कर्त्तव्य है, कि प्रजा की इस चिन्ता को दूर करके, उसे अपने कर्त्तव्य पर पुनः आरूढ़ करें।

इस प्रकार विचार कर, वे मुखिया, प्रजा को समझाने लगे। उन्होंने, प्रजा का ध्यान हरिश्चन्द्र के उपदेश की ओर आकर्षित किया और उसे समझाया, कि इस प्रकार हरिश्चन्द्र की चिन्ता करके यदि आप लोग प्राण भी छोड़ दें, तब भी कोई लाभ नहीं है। अतः यही उचित है, कि महाराजा हरिश्चन्द्र के आदेशानुसार रहकर, जीवन व्यतीत करें।

मुखियों के, इस प्रकार समझाने-बुझाने पर, प्रजा को कुछ धैर्य हुआ। उधर विश्वामित्र, प्रजा के हृदय में हरिश्चन्द्र के प्रति जो सद्भाव हैं, उन्हें मिटाकर अपना प्रभाव जमाने के लिए, कठोरतापूर्वक शासन करने लगे। उनके शासन से, सभासद्गण रुष्ट हो गये और विश्वामित्र के इस कठोर शासन का प्रतिकार करने के लिए, उन्होंने एक प्रजा-परिषद् स्थापित की। विश्वामित्र, प्रजा पर अपना प्रभाव जमाने के लिए जो भी कठोर नियम प्रचलित करते, यह परिषद् उनका विरोध करती, तथा सत्याग्रह द्वारा उनके नियम को कार्यरूप में परिणित न होने देती। प्रजा के इस कार्य से, विश्वामित्र दिन प्रति दिन और भी अधिक चिढ़ते जाते। चिढ़-चिढ़कर, वे प्रजा पर अपना आतङ्क जमाने के लिए, विशेष अत्याचार करने लगे। प्रजा, उनके अत्याचारों को धैर्य-

पूर्वक सहन करती रही। उसने अपने सत्याग्रह-अस्त्र को न त्यागा और न विश्वामित्र के ऐसे कार्यों से सहयोग ही किया।

प्रजा के हृदय से, हरिश्चन्द्र के प्रति सद्भाव निकालकर उनकी जगह अपना प्रभाव जमाने के इस प्रयत्न में, विश्वामित्र निरन्तर असफल होते रहे। वे, इसके लिए जो भी कार्य करते, सत्याग्रह द्वारा प्रजा उसका विरोध करती।

विश्वामित्र, सत्य को समझते हुए, हृदय में तो प्रजा की सराहना करते हैं, परन्तु अपनी हठ पूरी करने के लिए, प्रकट में प्रजा पर अन्याय करते ही जाते हैं। कभी-कभी वे, बहुत पश्चात्ताप करने लगते हैं और कहते हैं, कि मैंने यह क्या किया? अपने आपको ही मैंने इस जाल में फँसा लिया और अब जैसे-जैसे हठ-पूर्वक इससे निकलने की चेष्टा करता हूँ, वैसे-ही-वैसे और भी फँसता जाता हूँ। मुझे, क्रोध करने का फल पूर्णरूप से मिल रहा है। यदि, मैं क्रोधी न होता, अपने ऊपर क्रोध का आधिपत्य न होने देता, तो आज मेरी यह दशा क्यों होती?

चाहे जैसा अन्यायी मनुष्य हो, उसपर सत्य का प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सकता। हरिश्चन्द्र के सत्य से, प्रभावित होकर विश्वामित्र अपने आप ही पश्चात्ताप करते हैं, कि मैंने हरिश्चन्द्र के साथ बहुत ही अन्याय किया है। जिसको सत्य से विचलित करने के लिए, मैंने अपनी तपस्या का सम्पूर्ण बल लगा दिया, फिर भी जो अपने सत्य से नहीं डिगा, वह अवश्य ही महान्-पुरुष है। ऐसे महान्-पुरुष के साथ, मैंने जो व्यवहार किया है, वह नितान्त निन्द्य है! इधर प्रजा पर वे जो कुछ अत्याचार कर रहे हैं, उसका भी उन्हें समय-समय पर पश्चात्ताप हो ही जाता है।

विश्वामित्र, जब किसी प्रकार भी प्रजा के हृदय पर से, हरिश्चन्द्र का आधिपत्य मिटाकर, अपना आधिपत्य न जमा सके और इस ओर से निराश हो गए, तब विवश हो, उन्होंने प्रजा को राजसभा में आमन्त्रित किया। प्रजा के आजाने पर, वे कहने लगे—मैंने, आपके राजा को तथा आपको, बहुत ही कष्ट दिया है। राजा, राजपरिवार और आप लोगों की सहनशीलता अग्नि बन-कर मुझे जलाये दे रही है। मैं, अपने कार्यों के लिए हृदय से पश्चात्ताप करता हूँ और आप लोगों से क्षमा चाहता हूँ। अब, मैं राज्यकार्य छोडता हूँ और आपलोगों के प्रिय राजा को भी, बहुत शीघ्र खोज लाता हूँ। आप लोग, उन्हें पुनः अपना राजा बनाकर प्रसन्नता से रहें।

विश्वामित्र की इन बातों को सुनकर, प्रजा वैसे ही प्रसन्न हो उठी, जैसे खोया हुआ धन पुन' मिलने की आशा हो गई हो। सारी प्रजा, विश्वामित्र के इस विचार की प्रशंसा करने लगी और उन्हें धन्यवाद देने लगी।

हरिश्चन्द्र को लाकर, पुनः राजसिंहासन पर आरूढ़ करने की अभिलाषा को, कार्यरूप में परिणत करने के विचार से, विश्वा-मित्र अयोध्या से काशी की ओर चले। मार्ग में, उनके हृदय में अनेक सङ्कल्प विकल्प होते जा रहे हैं। उनके चित्त में, रह-रह कर यह शङ्का होती है, कि मेरी प्रार्थना पर हरिश्चन्द्र अवध को लौट आवेंगे या नहीं? किन्तु जैसे भी होगा, वैसे उनको लाऊँगा अवश्य, यह निश्चय करके, विश्वामित्र अपना मार्ग काटने लगे।



श्मशान में सभा



अत्याचार की भी सीमा होती है। जब अत्याचार सीमातीत हो जाता है, तब वह स्वयं अत्याचारी को ही दुःख देने लगता है। जिस अत्याचार का प्रतिकार सहनशीलता द्वारा किया जाता है, वह अत्याचार, अत्याचारी के लिए ही दुःख देनेवाला बन जाता है। हरिश्चन्द्र को उस देव ने अनेक कष्ट दिये, इन पर बड़े से बड़े अत्याचार किये, परन्तु हरिश्चन्द्र उन अत्याचारों को धैर्यपूर्वक सहन करते रहे। यही कारण है, कि वे अत्याचार अब उस अत्याचारी-देव को ही दुःख दे रहे हैं। वह, अपने अत्याचारों का स्मरण करके, आप ही जला जारहा है और हरिश्चन्द्र से क्षमाप्रार्थना कर रहा है।

हरिश्चन्द्र ने, अपने कष्टदाता देव को, जैसे ही क्षमा प्रदान की, वैसे ही आकाश में पुनः हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष के साथ देव-दुन्दुभी बजने लगी। देखते ही देखते, सारा श्मशान, देव-देवियों से भर गया और श्मशानभूमि सभाभूमि के रूप में परिणत हो गई। देवदेवियों ने, उसी समय हरिश्चन्द्र, तारा तथा रोहित को स्नान करा, वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया। इसके

पश्चात्, उन्हें सभा के बीच में रखे हुए रत्न-सिंहासन पर बैठाया और इन्द्र तथा सब देवी-देवता, उनकी स्तुति करने लगे।

पाठकगण! कुछ ही देर पहले हरिश्चन्द्र और तारा, अन्धकारमयी-रात्रि में, श्मशान के मध्य अपने प्रिय-पुत्र के शोक से दु:खित थे। अब, इनको दासत्व से मुक्त होने की, कोई आशा न थी। परन्तु थोड़ी ही देर बाद, अन्धकार की जगह प्रकाश और शोक की जगह हर्ष प्राप्त हुआ है। यदि इस समय, राजा और रानी अपने सत्य पर स्थिर न रहते, यदि वे बिना कर लिए-दिये ही पुत्र का अग्निसंस्कार करने के लिए तैयार होजाते, तो न तो उन्हें यह प्रकाश ही मिलता, न आनन्द ही। सारांश यह, कि सत्यपालन में इन्होंने जितना कष्ट उठाया है, वह कष्ट सत्यपालन की तपस्या थी और उस तपस्या के फल-स्वरूप ही यह प्रकाश और आनन्द प्राप्त हुआ है। सत्यपालन में, कष्ट को धैर्यपूर्वक सहने और उन कष्टों से भयभीत हो सत्य न छोड़ने का ही यह परिणाम है। किसी शायर ने कहा है:—

सब तलखिस्त च लेकिन बरें शीरीं दादरा।

अर्थात्—सन्तोष कड़ुआ अवश्य है, लेकिन फल मीठे ही देता है।

इसीके अनुसार, सत्यपालन में कष्ट चाहे सहने पड़ें, परन्तु उन कष्टों को धैर्यपूर्वक सहलेने और सत्य से विचलित न होने पर, वह स्थायी आनन्द प्राप्त होता है, जो झूठ द्वारा प्राप्त हुए अस्थायी आनन्द से असंख्य गुना बढ़कर है। सत्यपालन करने वाले के कष्ट भी, सदा नहीं रहते। वे, क्षणभर के बाद ही सुख

के रूप में परिणत हो जाया करते हैं। इसके लिये भर्तृहरि कहते हैं:—

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥

अर्थात्—जिस तरह हाथ से गिरने पर गेंद ऊपर ही उठती है, उसी तरह न्यायवृत्ति पर चलनेवालों की विपत्ति भी सदा नहीं रहती। यानी जिस तरह गेंद नीचे गिरकर ऊपर की ओर ही उछलती है, उसी प्रकार न्यायवृत्तिवाले मनुष्य भी, आपत्ति मे गिरकर ऊपर की ओर उठते हैं।

थोड़ी ही देर में यह परिवर्तन देख, हरिश्चन्द्र तारा से कहने लगे—प्रिये तारा! आज यह जो परिवर्तन तुम देख रही हो, यह सब तुम्हारी ही कृपा का फल है। यदि तुम मुझे उस विषय-कूप से न निकालतीं, यदि तुम मेरा साथ न देतीं, यदि तुम मुझे समय-समय पर धैर्य न बँधाती रहतीं, और स्वयं विककर मेरे लिये आदर्श न स्थापित करतीं, तो मैं निश्चय ही सत्य से पतित होगया होता। सत्य से पतित होने पर, यह आनन्द, जो अबतक पाया है और अब भी पा रहे हैं, कदापि नहीं पा सकते थे।

पति की बात के उत्तर मे, तारा ने कहा—नाथ, इसमे मेरी किंचित भी विशेषता नहीं है। मैंने जो कुछ भी किया है, वह करना मेरा कर्त्तव्य था। मैंने, अपने कर्त्तव्य से अधिक कुछ भी नहीं किया है। यह तो सब आप ही का प्रताप है। यदि आप, राज्यदान देकर, अपने सिर पर दक्षिणा का बोझ न लेते, तो मुझे यह आनन्द कहाँ से मिलता?

श्मशान में, अभूतपूर्व प्रकाश देख और कोलाहल सुन,काशी-निवासी, आश्चर्यसहित विचारने लगे, कि आज श्मशान में यह प्रकाश और कोलाहल कैसा है ? बहुत से लोग, श्मशान की ओर इस प्रकाशमय दृश्य को देखने के लिये दौड़े । महाराजा हरिश्चन्द्र का क्रयी भंगी भी, यह विचारकर श्मशान मे दौड़ा हुआ आया, कि आज मेरे श्मशान में क्या गड़बड़ है । भङ्गी, जैसे ही श्मशान में पहुँचा और राजा की दृष्टि उसपर पड़ी, वैसे ही राजा सिंहासन पर से उतर पड़े । उन्होंने, भङ्गी का सत्कार करते हुए कहा, कि स्वामी ! यह सब आप ही के चरणों का प्रताप है । आप ही ने, मुझे खरीदकर, मेरे सत्य की रक्षा की थी, यह उसी का फल है ।

भङ्गी, हाथ जोड़कर राजा से कहने लगा—आप मुझे क्षमा कीजिये । आप के साथ, मैंने तथा मेरी स्त्री ने, बहुत अभद्र व्यवहार किया है ! मैं, उस पाप से दबा जा रहा हूँ । अतः आप मुझे क्षमा करके मेरा उद्धार कीजिये ।

राजा—नहीं स्वामी, आपकी ओर से मेरे साथ सदा सहृदयता का ही व्यवहार हुआ है । मालिकिन भी बड़ी कृपालु हैं । उन्हीं की कृपा से, मुझे श्मशान-रक्षा का कार्य मिला था, जिसका फल आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं ।

सज्जन मनुष्य, अपकारी के अपकार को तो भूल जाते हैं, परन्तु उपकारी के उपकार को, किसी समय भी नहीं भूलते । किसी उच्च-स्थिति पर पहुँच जाने पर भी, वे उपकारी के उपकार को याद रखते और कृतज्ञता प्रकट करते रहते हैं । इसी के अनुसार,इस समय देवताओं से सेवित होने पर भी, हरिश्चन्द्र ने,

भङ्गी को अपना उपकारी जान, उसके सन्मुख नम्रता प्रकट की। अस्तु।

हरिश्चन्द्र ने, सब देवों को भङ्गी का परिचय कराते हुए कहा, कि ये ही मेरे स्वामी हैं। मैं, इन्हीं की कृपा से सत्यपालन में समर्थ हो सका हूँ। मेरा मूल्य न लगने के कारण, मैं सत्य-भ्रष्ट हो रहा था, उस समय इन्हीं ने मुझे खरीदकर, मेरे सत्य की रक्षा की थी। मैं इनकी जितनी भी प्रशंसा करूँ, वह कम है। इनके उपकार से, मैं कभी उऋण नहीं हो सकता।

हरिश्चन्द्र की बात सुनकर, सब देवों ने उस भङ्गी की बहुत प्रशंसा की और सत्कार किया।

बात की बात में, यह समाचार सारे नगर में फैल गया, कि अयोध्या के भूतपूर्व महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा, आज श्मशान में प्रकट हुए हैं। यह समाचार सुनते ही सारे नगर-निवासी श्मशान में एकत्रित होगये। काशी-नरेश भी श्मशान की ओर चले। वे, मन ही मन पश्चात्ताप करते जाते थे, कि पत्नी-पुत्र सहित महाराजा हरिश्चन्द्र मेरे ही नगर में इतने दिन रहे और मुझे इसका पता भी नहीं लगा, यह मेरे लिए लज्जास्पद बात है।

महारानी तारा का क्रयी ब्राह्मण भी, उनकी चिन्ता कर रहा था, कि दासी अबतक अपने पुत्र की अन्त्येष्टि-क्रिया करके क्यो नहीं लौटी? कहीं वह मर या भाग तो नहीं गई? इतने में ही उसने, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के श्मशान में प्रकट होने की बात सुनी। 'एक पन्थ दो काज' की कहावत को विचार कर ब्राह्मण भी श्मशान मे आया, कि हरिश्चन्द्र और तारा

को भी देखता आऊँगा, तथा अपनी दासी की खोज भी करता आऊँगा। श्मशान में आकर जब उसने यह देखा, कि दासी तो यहाँ रानी बनी हुई बैठी है, तब तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह, मन ही मन पछताने लगा, कि अवध की महारानी तारा ही मेरे यहाँ दासी बनकर रहती थीं। उनसे मैंने बहुत ही निकृष्ट सेवाएँ कराईं और बहुत ही कठोर-व्यवहार किया है। अब, मैं किस मुख से उनके सन्मुख जाऊँ?

उधर रानी भी चिन्तित थीं, कि मालिक ने मुझे कुछ ही समय का अवकाश दिया था, परन्तु मुझे बहुत देर हो गई। अब भी मैं इस झंझट में फँसी हूँ, इसके लिए स्वामी न मालूम क्या कहेंगे! इतने में, रानी की दृष्टि ब्राह्मण पर पड़ी ही तो। ब्राह्मण को देखते ही, रानी सिंहासन से उतर पड़ीं, और हाथ जोड़कर ब्राह्मण से कहने लगीं—महाराज, मेरा अपराध क्षमा कीजिये। मैं, अन्य प्रपंच में पड़ गई थी, इसी कारण अब तक नहीं आ सकी।

तारा की प्रार्थना के उत्तर में, ब्राह्मण तारा के पैरों पर गिरकर कहने लगा—महारानीजी, मैंने अज्ञानवश आपसे दासी का काम कराया और निकृष्ट सेवाएँ लीं तथा आपके साथ अमानुषिकता-पूर्ण कठोर-व्यवहार किया। अब, मेरा वह अज्ञान नाश हो चुका है, अतः मैं आपसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। आप मुझे क्षमा कीजिये।

ब्राह्मण को उठाते हुए, तारा कहने लगीं—आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है। आप ही की कृपा से, मैं आधा-ऋण चुका सकी थी। यदि, उस समय आप न होते, तो मेरे पति निःसन्देह

सत्य-भ्रष्ट होजाते। आपकी यह कृपा, कभी भूलने योग्य नहीं है।

ब्राह्मण ने, तारा के साथ बहुत ही दुर्व्यवहार किया था। लेकिन तारा ने उसके दुर्व्यवहार का जिकर तक न किया और उसने जो सद्व्यवहार किये थे, उन्हीं की प्रशंसा करती रहीं।

सज्जनों में, स्वाभाविक ही यह गुण होता है, कि वे दुर्व्यवहार पर ध्यान न देकर, केवल सद्व्यवहार पर ही ध्यान देते हैं। जहाँ दुर्जन-मनुष्य, किसी के द्वारा किये गये अनेक सद्व्यवहारों पर दृष्टि न देकर, अपवाद स्वरूप जो एक-आध दुर्व्यवहार हो-जाता है, उसी का वर्णन किया करते हैं, वहाँ सज्जन-मनुष्य, अनेक दुर्व्यवहारों की भी उपेक्षा करके, जो एक-आध सद्व्यवहार हुआ होता है, उसी को महत्व देते हैं और उसी की प्रशंसा करते हैं। इसी के अनुसार, रानी भी अपने क्रयी के अनेक-दुर्व्यवहारों पर ध्यान न देकर, उसके थोड़े-से सद्व्यवहार को ही बड़ा रूप दे रही हैं। अस्तु।

रानी के द्वारा, ब्राह्मण के प्रति प्रकट किये गये कृतज्ञतापूर्ण-भावों को सुनकर, देवताओं ने, ब्राह्मण की प्रशंसा करते हुए उस-का भी सत्कार किया।

वे सेठ साहूकार लोग, जिनके पास महाराजा हरिश्चन्द्र नौकरी के लिये गये थे, और जिन्होंने उनकी बात भी न सुनी थी—या सुनकर टरका दिया था—महाराजा हरिश्चन्द्र को देखकर, बहुत ही लज्जित हुए। वे, राजा के सन्मुख पश्चात्ताप प्रकट करते हुए, अपने अपराध की क्षमा माँगने लगे। महाराजा ने, उन्हें आश्वासन देते हुए कहा, कि आप लोगों ने कोई अपराध नहीं किया है। आप लोग, साधारण-बुद्धि से पहिचानने वाले

हैं, ऐसी अवस्था में, बिना परिचय प्राप्त हुए मुझे कैसे पहिचान सकते थे ? यदि इस पर भी आप अपने को अपराधी समझते हैं, तो इसका प्रायश्चित्त यही है, कि भविष्य में अपने यहाँ आये हुए किसी दीन-दुःखी का अपमान करके, उसे दुतकारिये नहीं, किन्तु उसका दुःख दूर करने की चेष्टा कीजिये।

काशी-नरेश, श्मशान में पहुँचकर महाराजा हरिश्चन्द्र से कहने लगे, कि मैं नितान्त-अज्ञानी और हतभाग्य नरेश हूँ। आपने इतने दिन मेरे नगर में रहकर कष्ट उठाये, लेकिन मुझे इसकी खबर तक नहीं, इससे अधिक अज्ञानता क्या होगी ? आप, मेरे अपराध को क्षमा कीजिये और कृपा करके यह बतलाइये, कि मैं इस अज्ञानता तथा अपराध का क्या प्रायश्चित्त करूँ ?

हरिश्चन्द्र ने, काशीनरेश का सत्कार करके उन्हें आश्वासन दिया, और कहने लगे, कि आप अकारण ही पश्चात्ताप करते हैं। यदि आपको, मेरे आने की सूचना मिली होती, तो आप मुझसे अवश्य ही मिलते। लेकिन, जब मैंने किसी को अपना परिचय ही नहीं दिया, और परिचय न देने के कारण आपको सूचना ही नहीं मिली, ऐसी अवस्था में आपका क्या अपराध है ? मैंने, किसी को अपना पता नहीं दिया, इसका कारण स्पष्ट है। परिचय देने से, आप निश्चय ही मुझे अपने महल को लिवा लेजाते और मेरा ऋण चुकाकर, मुझे अपना अतिथि बनाते। ऐसी दशा में, आज आप जो रचना देख रहे हैं, यह रचना कैसे होती ? इसलिये आप इस विषय में खेद न कीजिये। खेद की बात यह अवश्य होसकती है, कि जिस काशी की भूमि पवित्र मानी जाती है, जिस काशी में अयोध्या से आकर मैंने लाभ

उठाया है, जिस काशी की भूमि में मैं अपने सत्यपालन में समर्थ होसका हूँ और सत्यपालन के लिए विकने में भी मुझे लज्जा न आई, आपलोग उसी काशी के निवासी होकर, वहीं रहते हुए, सत्य का पालन न कर सकें। काशी की भूमि, तभी लाभदायक होसकती है, जब यहाँ सत्य का पालन हो। बिना सत्यपालन किये, काशी की भूमि उसी प्रकार लाभप्रद नहीं होसकती, जैसे खेत उपजाऊ होने पर भी, उसमें बीज न बोने से, वह लाभप्रद नहीं हो सकता। यदि, केवल यहाँ रहने का ही महत्त्व होता, तो फिर मुझे विकने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन, वास्तव में किसी क्षेत्र-विशेष का महत्व नहीं है, अपितु चरित्र का महत्व है। अन्य स्थान में रहकर भी, जो चरित्रवान् है, उसके लिए वह भूमि भी काशी की भूमि से विशेष लाभप्रद है। और काशी की भूमि में रहकर भी, जो चारित्र्य का पालन नहीं करता, उसके लिए सभी भूमि समान है। अतः सत्यपालन द्वारा, इस भूमि से लाभ उठाइये और राज्य के धन को, प्रजा की धरोहर समझकर, उसे प्रजाहित के कार्यों में लगाइये। तथा ऐसा करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण चिंतन कीजिये। इस प्रायश्चित्त से, आपका खेद भी मिट जावेगा और आपको लाभ भी होगा।

इसी प्रकार सभी काशी-निवासियों ने, राजा-रानी को अपने नगर में रहने पर भी न पहचान सकने का, पश्चात्ताप किया। राजा ने, सबको आश्वासन दिया और उन्हें समझाया, कि जब मैंने अपना परिचय ही किसी को नहीं दिया, तब आप लोग अकारण ही पश्चात्ताप क्यों करते हैं। इस प्रकार, सबके हृदय को, राजा ने सहृदयतापूर्ण-भाषा से शान्त किया।

अयोध्या से चले हुए विश्वामित्र भी उसी समय काशी आ-पहुँचे, जिस समय श्मशान में यह सब लीला हो रही थी। श्मशान मे, अद्भुत प्रकाश देख, तथा हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष के साथ-साथ बहुत कोलाहल सुन, विश्वामित्र भी वहीं पहुँच गये। वहाँ जाकर देखते हैं, कि जिन राजा-रानी को खोजने वे निकले हैं, वे महाराजा हरिश्चन्द्र सिंहासन पर विराजमान हैं, उनके पास ही रोहित को गोद में लिये हुए तारा बैठी हैं और इन्द्रादि सब देव इनकी स्तुति कर रहे हैं। विश्वामित्र वहीं से उच्च-स्वर में हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष करने लगे। हरिश्चन्द्र ने, जैसे ही विश्वामित्र को देखा, वैसे ही तारा सहित सिंहासन पर से उतर पड़े। हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित ने, विश्वामित्र को प्रणाम किया। उपस्थित लोग, विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र दोनों के व्यवहार को देखकर आश्चर्यचकित रह गये और विचारने लगे, कि ये वे ही विश्वामित्र हैं, जिन्होंने हरिश्चन्द्र को इतने कष्ट में डाला था, परन्तु आज स्वयं ही, हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष कर रहे हैं। तथा ये हरिश्चन्द्र और तारा भी वे ही हैं, जिन्होंने विश्वामित्र द्वारा इतने कष्ट पाये हैं, फिर भी अपने कष्टदाता-विश्वामित्र का सत्कार कर रहे हैं।

विश्वामित्र ने, राजा और रानी से कहा, कि आपलोग सिंहा-सन पर ही बैठिये। आपलोगों की महिमा, अब मेरी समझ में आई है। अब तक, मैं समझता था, कि मेरा क्रोध ही अपार है, परन्तु अब मैं इतने अनुभव के पश्चात् यह बात स्वीकार करता हूँ, कि आपलोगों का सत्य और धर्म मेरे क्रोध से भी बढ़कर अपार है। जिस बात को, मैंने हठवश अबतक स्वीकार न की थी, वही बात

आज आपलोगों के सत्य से पराजित हो, मैं स्वीकार करता हूँ। आपलोगों ने, अपने सत्य और अपनी सहनशीलता द्वारा, मेरे तप को पराजित कर दिया, तथा इसके साथ ही मेरे क्रोध का भी नाश कर दिया है। जिस क्रोध के कारण, मैंने अनेक हानियें उठाई, जिस क्रोध ने मेरी तपस्या के बल का नाश कराया, जिस क्रोध के वश होकर मैंने निरपराधो और आप ऐसे सज्जनों को कष्ट में डाला, उस मेरे क्रोध को आपने अपनी क्षमा द्वारा जीत लिया। इस दुष्ट क्रोध से मेरा पीछा आप ऐसे सज्जनों ने ही छुड़ाया है और कोई नहीं छुड़ा सकता था। अबतक मुझे, जितने मनुष्यों से काम पड़ा था, उन्होंने मेरे क्रोध को उत्तेजना ही दी थी, लेकिन इसका नाश कराने में समर्थ न होसके थे। आपको, मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ और अपने अपराधों के लिये क्षमाप्रार्थना करता हूँ।

विश्वामित्र की बात सुन, सारी सभा दङ्ग रह गई, कि जो विश्वामित्र अपने क्रोध के लिए प्रसिद्ध थे, नम्रता या क्षमा को जो जानते ही न थे, उनमें आज इतनी नम्रता कहाँ से आगई! विश्वामित्र को क्रोधरहित बना देने के लिए, सब लोग हरिश्चन्द्र को धन्यवाद देने लगे।

विश्वामित्र की बात के उत्तर में, हरिश्चन्द्र कहने लगे—महाराज, आप ऐसे ऋषि के लिये, मुझ तुच्छ की इतनी प्रशंसा करना अशोभनीय-कार्य है। जो कुछ भी हुआ है और जो कुछ भी होरहा है, यह सब आप ही की कृपा का फल है। यदि आपकी कृपा न होती, यदि आप मुझसे राज्य लेकर मुझपर दक्षिणा का बोझ न डालते, यदि आप अपनी दक्षिणा की

वसूली में ढील करते और हमें न बिकना पड़ता, तो आज आप जो आनन्द देख रहे हैं, यह आनन्द कदापि प्राप्त न होता। आपने, यह सब करके, मेरा उपकार ही किया है, अपकार नहीं। आप, मेरे उपकारी हैं। आप ही की परीक्षा से मैं जान सका हूँ, कि मैं सत्य का कहाँ तक पालन कर सकता हूँ; अतः आप धन्यवाद के पात्र हैं। आपने, मेरा उपकार करने में, जो कष्ट सहे हैं, उनके आभार से मैं कदापि उऋण नहीं हो-सकता। आप ही की कृपा से आज यह सम्मेलन हुआ है।

राजा की, यह उदारतापूर्ण बात सुनकर, सब लोग हरिश्चन्द्र की और भी प्रशंसा करने लगे।

विश्वामित्र बोले—बस राजन्! क्षमा करो। मैं, आप ही मर चुका हूँ, अब इस प्रशंसा द्वारा मुझे और न मारो।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मैं मिथ्याभाषण तो जानता ही नहीं। मैंने, जो कुछ भी प्रार्थना की है, सत्य ही की है।

विश्वामित्र—अब, मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आप अयोध्या को चलिये और वहाँ का राज्य सम्हालकर प्रजा को प्रसन्न कीजिये। आपके बिना, अवध की प्रजा नितान्त दु:खी है।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मैंने तो वह राज्य आपको दान में दे दिया है। दान में दी हुई वस्तु को, मैं फिर कदापि नहीं ले सकता। इसके सिवाय अब मेरी राज्य करने की इच्छा भी नहीं है।

विश्वामित्र—राजन्, मैंने उस समय जो कुछ भी किया था, वह, क्रोधवश किया था। क्रोध ने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी, इसी से मैंने तुमसे राज्य माँग लिया था। तुम्हीं विचारो, कि यदि ऐसा न होता, तो मैं स्वयं तो अपने राज्य को त्याग चुका

था, फिर तुम से राज्य क्यों माँगता ? उस समय मेरी बुद्धि अस्थिर थी, इससे मैंने राज्य माँग लिया था। नीति के अनुसार बुद्धि की अस्थिरता में किये गये कार्य, प्रामाणिक नहीं माने जाते। अत: तुम्हे अपना राज्य लेने में किञ्चित् भी सकोच न करना चाहिए।

हरिश्चन्द्र—महाराज, आपकी इस युक्ति को थोड़ी देर के लिये मैं मान भी लूँ, तब भी मैं जिस राज्य को दान में दे चुका, उसे फिर नहीं ले सकता। क्योंकि क्रोध का आवेश रहा होगा तो आपको रहा होगा और बुद्धि अस्थिर रही होगी, तो आपकी रही होगी। मैं, न तो क्रोध के आवेश में ही था, न मेरी बुद्धि ही अस्थिर थी। मैंने, बुद्धि की स्थिरता में राज्यदान दिया है, अतः मेरा कार्य तो प्रामाणिक ही माना जायगा।

विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की उपरोक्त बातें सुन, वह देव कहने लगा, कि राज्य माँगने में विश्वामित्र का किंचित् भी अपराध नहीं है। राज्य माँगने आदि के समय इनकी बुद्धि पर मेरा अधिकार था, अत. आपको सत्यभ्रष्ट करने के लिए मेरी ही प्रेरणा से इन्हों-ने राज्य माँगा था, और बिकने के लिए विवश किया था।

हरिश्चन्द्र—मैं आपकी भी बात मानता हूँ, परन्तु मेरी बुद्धि पर तो किसी दूसरे का आधिपत्य नहीं था ? मैंने तो जो कुछ भी किया है, वह स्व-बुद्धि से ही किया है ? ऐसी-अवस्था में मैं दिये हुए दान को फिर वापस कैसे ले सकता हूँ ?

विश्वामित्र और उस देव को जब हरिश्चन्द्र ने निरुत्तर कर दिया, तब इन्द्रादि प्रमुख देव हरिश्चन्द्र से कहने लगे—राजन् ! यद्यपि तुम्हें राज्य करने की आकांक्षा नहीं है, तथापि जिस कार्य से

जनता का हित हो, उस 'कार्य को करना तो स्वीकार करोगे न ?

हरिश्चन्द्र—हाँ, यदि मेरे किसी कार्य से दूसरों का हित होता हो, तो मैं उसे प्राणपण से करने को तैयार हूँ।

इन्द्र—आप, विश्वामित्र की प्रार्थना स्वीकार करके अयोध्या को तो चलिये। वहाँ की प्रजा, यदि विश्वामित्र के शासन से सुखी हो, तब तो कोई बात ही नहीं है, किन्तु यदि वह विश्वामित्र के शासन से दुःखी हो और आपके शासन से उसे सुख मिलने की आशा हो, तब तो आपको शासन करना ही पड़ेगा। क्योंकि आप अभी इस बात को स्वीकार कर चुके हैं, कि 'यदि मेरे किसी कार्य से दूसरों का हित होता हो, तो उसे प्राणपण से करने को तैयार हूँ'। राज्य करते हुए राज्य-सुख भोगना एक बात है और प्रजा के हित को दृष्टि में रखकर, उसपर शासन करना तथा दुष्टों से प्रजा की रक्षा करना दूसरी बात है। अतः आप राज्य चाहे न कीजिये, परन्तु प्रजा की इच्छा होने के कारण, उसकी रक्षा का भार तो आपको ग्रहण करना ही पड़ेगा।

इन्द्र की बात के उत्तर में हरिश्चन्द्र ने कहा, कि मुझसे यह भी नहीं होसकता। एक तो जिस राज्य को मैं दान कर चुका, उस राज्य में जाने या रहने का मुझे अधिकार ही नहीं है। दूसरे महाराजा विश्वामित्र की मेरे लिए यही आज्ञा है, कि मैं अयोध्या में न ठहरूँ। इन कारणों से मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करने में असमर्थ हूँ।

इन्द्र बोले—राजन्, आप केवल अयोध्या के राज्य के स्वामी थे, इसलिये दान किये हुए अयोध्या के राज्य में नहीं जाना चाहते हो। लेकिन यदि समस्त भूमण्डल के स्वामी होते और उस समय

अपना राज्य दान कर देते, तो फिर इस प्रण का पालन कैसे करते ? क्या तब आत्म-हत्या कर डालते ? दूसरे राज्य मे रहने की आज्ञा देने का अधिकार जिन विश्वामित्र को था, क्या उन्हें अपनी आज्ञा लौटा लेने का अधिकार नही है ? इस समय आपसे वे ही तो अयोध्या चलने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं न ? फिर उनकी एक आज्ञा तो मानी जावे और दूसरी क्यो न मानी जावे ? इन बातों से आप अयोध्या चलने से नहीं छूट सकते, इसलिये आप अयोध्या चलिये। आपको अयोध्या का राज्य करना ही होगा, यह बात यहाँ कोई नहीं कह रहा है। इसका निर्णय तो परिस्थिति देखकर कीजिये।

इन्द्र के इस कथन का सबों ने समर्थन किया। सब लोग हरिश्चन्द्र से अयोध्या जाने के लिए अत्यधिक आग्रह करने लगे। सबके आग्रह को देखकर, हरिश्चन्द्र विचार में पड़ गये, कि अब मुझे क्या करना चाहिए। इतने लोगों और विशेषतः इन्द्र का आग्रह न मानना हठ कहलावेगा। अन्त में विवश होकर उनने कहा, कि रानी और मैं दोनों ही क्रीत-दास हैं। हमारे स्वामियों ने हमें पाँच-पाँच सौ स्वर्णमुद्रा में खरीदा है। जब तक हमारे लिये दी हुई स्वर्णमुद्राएँ इन्हें वापस न मिल जावें, तब तक हमें चलने की बात करने का भी अधिकार नहीं है, यहाँ से अयोध्या चलना तो दूसरी बात है।

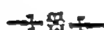
ब्राह्मण और भंगी कहने लगे, कि हम आपका मूल्य वैसे ही पा चुके। अब आप लोग हमारे दास नहीं हैं। हम, आप लोगों से कोई काम न लेंगे।

भंगी और ब्राह्मण के नाहीं करते रहने पर भी, देवताओं ने उन्हें व्यय किये हुए द्रव्य से कई गुना अधिक द्रव्य दिया।

इस प्रकार, देवताओं ने दम्पति को दासत्व से मुक्त किया। इन्द्र की आज्ञा से, देवताओ ने तत्त्तण एक सुन्दर-विमान तैयार किया। इन्द्र, विश्वामित्र आदि की प्रार्थना पर, महाराजा हरिश्चन्द्र, महारानी तारा, और कुमार रोहित, ब्राह्मण और भगी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके और उनकी स्वीकृति लेकर, तथा वहाँ के सब लोगों से विदा माँगकर विमान में विराजे। विश्वामित्र तथा इन्द्रादि देवता भी विमान में सवार हुए और विमान को अयोध्या की ओर चलाया।



पुनरागमन



विश्वामित्र ने, अयोध्या की प्रजा को, सभा में आमन्त्रित कर जैसे ही यह शुभ-समाचार सुनाया, कि हरिश्चन्द्र को मैं पुनः लाकर अयोध्या के राज्यासन पर आसीन करूँगा, वैसे ही यह समाचार विजली की नाईं सारे नगर में फैल गया। समस्त प्रजा प्रसन्न हो उठी और विश्वामित्र की दुर्बुद्धि मिट, सुबुद्धि आजाने के कारण, ईश्वर को धन्यवाद देने लगी। अस्तु।

आज, सारे नगर में यही चर्चा है। हरिश्चन्द्र का आना सुनकर, लोग प्रसन्नता से फूले नहीं समाते। सारा नगर सजाया गया है। हरिश्चन्द्र के आने का शुभ-समाचार मिलने की अभिलाषा से, स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ बैठे हैं। स्त्रियें, हरिश्चन्द्र और तारा का नाम ले-लेकर मङ्गल गारही हैं। पुरुष, हरिश्चन्द्र और तारा का जय-घोष करने के साथ ही, उनका और उनके सत्य का गुण-गान कर रहे हैं, तथा हरिश्चन्द्र की सत्य-पालन में विजय होने के कारण, प्रसन्नता प्रदर्शित कर रहे हैं। हरिश्चन्द्र के लौटकर अयोध्या आने की अभिलाषा से, सारा नगर मूर्त्तिमान आनन्द बना हुआ है। बहुत से लोग ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर चढ़कर,

काशी के मार्ग की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। सहसा, काशी की ओर से एक विमान आता हुआ उनकी दृष्टि पड़ा।

काशी की ओर से एक विमान आरहा है, और सम्भव है, कि उसी विमान में महाराजा हरिश्चन्द्र और पुत्र सहित महारानी तारा हों, इस अभिलापा से सारे नगर-निवासी, काशी के मार्ग की ओर दौड़ चले। स्त्रियें सोने के थालों में मङ्गल-द्रव्य सजा, हरिश्चन्द्र और तारा के मङ्गल गाती जारही हैं और पुरुष उच्चस्वर से जयघोष करते जारहे हैं। विमान को देख कर, सारे नगर-निवासी उसी प्रकार उमड़ पड़े और उसी प्रकार कोलाहल करने लगे, जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर समुद्र।

उधर विमान में, महाराजा हरिश्चन्द्र, इन्द्र को अयोध्यापुरी वतलाते हुए कह रहे हैं, कि यही वह अयोध्या है, जिसमें जन्म धारण करने को देवतालोग भी लालायित रहते हैं। यहाँ के नर-नारी मुझे वहुत ही प्रिय हैं। अयोध्या के सन्मुख, मेरी दृष्टि में स्वर्ग भी तुच्छ है। एकतो अयोध्या-पुरी प्राकृतिक कारणों से ही रम्य है, दूसरे, इसी नगरी में भगवान ऋपभदेव आदि तीर्थङ्करों ने जन्म धारण किया था और तीसरे यह अयोध्यापुरी उस मृत्युलोक में है, जहाँ पुण्योपार्जन के कार्य किये जा सकते हैं। इन सव कारणों से, अयोध्या वहुत ही प्रशंसनीय-स्थल है।

हरिश्चन्द्र की वात के उत्तर में इन्द्र कहने लगे, कि वास्तव में अयोध्या ऐसी ही है। अयोध्या की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह कम है। मैं, इन्द्र होकर भी इस अयोध्या का ऋणी हूँ।

इस प्रकार वातचीत करते हुए, विमान में वैठे-वैठे सव लोग

अयोध्या के समीप आये। नगर के बाहर, प्रजा को एकत्रित और विमान की ओर दृष्टि किये हुए देख, हरिश्चन्द्र, इन्द्र से कहने लगे—महाराजा, अब मेरा विमान पर रहना उचित नहीं है। अवध की प्रजा, मेरी प्रतीक्षा में भूमि पर खड़ी है और मैं उपेक्षा-पूर्वक आकाश में रहूँ, यह सर्वथा अनुचित है। इसके सिवा, हम मनुष्य नभचर नहीं, किन्तु भूमिचर हैं। हमें तो भूमि पर रहने से ही आनन्द आता है।

इन्द्र की आज्ञा से विमान भूमि पर उतरा। विमान में, हरिश्चन्द्र और रोहित सहित तारा को देखकर, प्रजा को वैसा ही आनन्द हुआ, जैसा आनन्द गोतेखोर को डुबकी लगाने पर रत्न मिल जाने से होता है। अपनी प्यारी-प्रजा को, बहुत दिनों के पश्चात् देखने के कारण, हरिश्चन्द्र और तारा को भी वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता दिनभर से बिछुड़े हुए बच्चे को पाकर, गौ को होती है।

विमान से, हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित के उतरते ही, प्रजा ने उनपर वस्त्राभूषणादि न्यौछावर किये और पुष्पों की वृष्टि के साथ-साथ गगनभेदी जयनाद किया। पुरुषों ने, हरिश्चन्द्र को, स्त्रियों ने तारा को और बालकों ने रोहित को, चारों तरफ से घेर लिया। स्त्री-पुरुष, तारा और हरिश्चन्द्र के चरणों में गिर-गिरकर उन्हें प्रणाम करने लगे। पृथ्वी पर पड़े हुए लोगों को उठा-उठा कर, राजा तथा रानी अपने कण्ठ से लगाने लगे और उनसे कुशल-प्रश्न करने लगे। परन्तु, प्रेम-मग्न प्रजा, उस समय इनके कुशलप्रश्न का उत्तर, सिवा आँखों से आँसू बहाने के, और कुछ न दे सकी। हृदयरूपी सरोवर से, प्रेमरूपी जल को, नेत्रों

द्वारा बाहर निकाल कर, सब स्त्री-पुरुष तारा और हरिश्चन्द्र के चरणों को, इस प्रकार सिंचन करने लगे, जैसे उनके द्वारा किये गये कुशलप्रश्न का उत्तर दे रहे हों।

हरिश्चन्द्र के मिलने से, प्रजा को जो आनन्द हुआ, वह अवर्णनीय है। हरिश्चन्द्र के लौट आने की खुशी में सबने यथाशक्ति दान दिया। स्त्रियें भी तारा को पाकर प्रसन्न हो उठीं और तारा से कहने लगीं, कि आपने ऐसे आपद्काल में पति के साथ जाकर, स्त्रीजाति का मुख उज्ज्वल कर दिया। वास्तव में आप, स्त्रीजाति को कलङ्क से बचाने के लिए ही, पति के साथ कष्ट सहन करने को गई थी।

प्रजा का ऐसा प्रेम देखकर, इन्द्रादि सब देवता, प्रजा और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र ने, राजा को राजमहल मे ले चलने के लिए, प्रजा को सङ्केत किया। विश्वामित्र के सङ्केतानुसार, हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित को लेकर, प्रजा राजमहल की ओर चली। इन्द्रादि सब देवता और विश्वामित्र भी साथ-ही-साथ राजमहल को चले।

हरिश्चन्द्र के आने की आशा से, नगरवासियों ने, नगर को तो पहले से ही सजा रखा था। स्थान-स्थान पर सुन्दरता बढ़ाने और स्वागत प्रदर्शित करनेवाली वस्तुएँ लगाई गई थीं। नगर में, चारों ओर सुगन्धित-पदार्थ इस तरह उड़ रहे थे, और उनसे वातावरण ऐसा हो रहा था, मानों कुहरा गिर रहा हो। इस सजाये हुए नगर में, प्रजा ने एक जलूस बनाकर, राजा, रानी और रोहित आदि को घुमाया और फिर उन्हें राजमहल को ले जाया गया। वह राजमहल, जो महाराजा हरिश्चन्द्र के बिना एक विशेष-

समय से सूना था, आज महाराजा हरिश्चन्द्र के उसमें पदार्पण करने से सुशोभित हो उठा। जिस सूने राजमहल को देख-देखकर प्रजा दुःख किया करती थी, उसी राजमहल में आज राजा, रानी और रोहित के पुनः पधार जाने से, प्रजा को अपार आनन्द हुआ।



पुनः राज्य-प्राप्ति



महाराजा-हरिश्चन्द्र और महारानी तारा आदि के, राजमहल में पहुँचने पर, विश्वामित्र ने फिर हरिश्चन्द्र से कहा, कि अब आप राज्यासन को सुशोभित कीजिए। आपके बिना, यहाँ की प्रजा बहुत व्याकुल थी। अत. आप राज्यासन पर विराजकर, इसके दुःख दूर कीजिये

हरिश्चन्द्र—महाराज, यह राज्य आपका है, मेरा नहीं ! मैं, इसे आपको दान में चुका हूँ। दान में दी हुई वस्तु पर अब मेरा कोई अधिकार नहीं है। हम, इन्द्र की आज्ञा और आपकी बात मानकर, यहाँ आये हैं, अन्यथा जिस राज्य को हम दान कर चुके थे और जिसमें न रहने की हमें आज्ञा हुई थी, उस राज्य में पैर रखने का हमें कोई अधिकार न था। प्रजा ने, मुझे देख लिया और मैंने प्रजा के दर्शन कर लिये, यही आपकी कृपा बहुत है। प्रजा यदि दुःखी है, तो राजा होने के कारण, इसका उत्तरदायित्व आप पर है, मुझ पर नहीं।

हरिश्चन्द्र का यह उत्तर सुनकर, प्रजा बहुत दुःखी हुई। वह

हरिश्चन्द्र से राज्य-भार ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी। हरिश्चन्द्र ने, प्रजा को समझाते हुए कहा, कि मैं इस राज्य का दान कर चुका हूँ, अतः फिर ग्रहण नहीं कर सकता।

अल्पबुद्धि-प्रजा, हरिश्चन्द्र के इस कथन से निरुत्तर हो, चुपचाप आँसू बहाने लगी। तब इंद्र ने हरिश्चन्द्र से कहा, कि आप मुझसे यह बात कह चुके हैं, कि "मैं दूसरे के हित के कार्य करने के लिए प्राणपण से तैयार हूँ।" अतः मैं प्रजा से यह प्रश्न करता हूँ, कि उसका हित विश्वामित्र के राजा रहने से है, या आपके?

इन्द्र के उपरोक्त प्रश्न करने पर, प्रजा ने एक स्वर से कहा, कि हमारा हित महाराजा-हरिश्चन्द्र के राज्य करने से ही होगा। हमें, जो सुख इनके राज्य में मिला था और भविष्य में मिलने का विश्वास है, वह सुख, विश्वामित्र के राज्य में कभी स्वप्न में भी नहीं मिला और न भविष्य में मिलने की आशा ही है।

प्रजा का उत्तर सुनकर, इन्द्र, फिर महाराजा हरिश्चन्द्र से कहने लगे—प्रजा आपसे प्रसन्न है और वह आपके राज्य करने से सुख की आशा करती है। ऐसी दशा में, प्रजा की इच्छा के विरुद्ध और वह भी ऐसे समय में, जब कि विश्वामित्र स्वयं ही आपसे राज्य ले लेने का आग्रह कर रहे हैं, राज्य न लेना कदापि उचित नहीं है। प्रजा, आपसे सुख की आशा करती है, अतः आपको यही उचित है, कि आप उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करें।

हरिश्चन्द्र—परन्तु आप ही कहिये, कि जो वस्तु दान में दी जाचुकी है, क्या उसे फिर लौटा लेना उचित है?

इन्द्र—आपका यह कथन यथार्थ है, परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि राज्य करके राज्य-सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन करके दुष्टों से उसकी रक्षा करना, तथा उसे सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाना, दूसरी बात है। आपको, यह दूसरी बात करने के लिये ही कहा जाता है, पहली बात के लिये राज्य नहीं सौंपा जारहा है। इसके सिवा, राज्य को दान में आपने दिया है, कुमार रोहित ने नहीं। विश्वामित्र, अपना राज्य, कुमार रोहित को देते हैं। रोहित को, विश्वामित्र का दिया हुआ राज्य लेने में कोई हर्ज नहीं है। रोहित जब तक छोटा है, राज्यभार वहन नहीं कर सकता, तबतक उसकी ओर से, उसके अभिभावक होने के कारण, आप राज्य कीजिये। और जब रोहित राज्यभार वहन करने के योग्य होजावे, तब आप उसका राज्य उसे सौंप दीजिये। सारांश यह, कि आपको दोनों तरह से राज्य लेना पड़ेगा। यदि आप यह कहें, कि हम दान में दी हुई वस्तु में से खावे-पीवें कैसे, तो उसका उत्तर यह है, कि संसार में कोई भी मनुष्य बिना खाये-पिये काम नहीं कर सकता। आप, बिके हुए थे, तब भी क्यो-स्वामी के यहाँ का अन्न खाया ही होगा। उसी प्रकार यहाँ भी काम कीजिये और खाइये-पीजिये। प्रजा, आपके बिना कितने दुःख पा रही है, इस बात को विचारिये। अब, इसे दुःख-मग्न ही रहने देना, आप ऐसे सत्यवादी के लिये उचित नहीं है।

इन्द्र, विश्वामित्र, प्रजा और अपने कष्टदाता देव आदि के समझाने-बुझाने तथा अनेक अनुनय-विनय करने पर, विवश होकर हरिश्चन्द्र ने, रोहित के वयस्क होने तक राज्य सम्हालना स्वीकार किया। ऐसा करके उन्होंने मानों भविष्य के लिये यह

आदर्श रखा हो, कि इसी प्रकार से हमारे वंशज भरत, अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी की अनुपस्थिति में, अयोध्या का राज्य सम्हालें। हरिश्चन्द्र के राज्य स्वीकार करते ही, सारी प्रजा आनन्द-मग्न हो-गई। हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष से, सारा राजमहल गूँज उठा।

अयोध्या से, काशी को रवाना होते समय ही, विश्वामित्र, मन्त्रियों को राज्याभिषेक की सामग्री प्रस्तुत रखने की आज्ञा दे गये थे। तदनुसार, राज्याभिषेक की सारी सामग्री लाकर, सिंहासन के समीप रखी गई। विधि सहित हरिश्चन्द्र, तारा और कुमार रोहित को राजसी वस्त्रालङ्कारों से अलंकृत किया गया। अवध का वह राजमुकुट, जो हरिश्चन्द्र से त्यागे जाने पर यों ही रक्खा हुआ था, हरिश्चन्द्र के मस्तक पर पुनः शोभा पाने लगा। यह सब कुछ हो-जाने पर, रानी और कुमार सहित महाराजा हरिश्चन्द्र, अवध के उस छत्रमय राज्यसिंहासन पर बैठाये गये, जो इनके बिना खाली पड़ा रहता था। विश्वामित्र ने, राजा के हाथ में राज्य-दण्ड दिया। सब लोग, महाराजा-हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहित की जय बोलने लगे, तथा बन्दीलोग उनका यश गाने लगे। विविध प्रकार के वाद्यों से, सारा नगर गूँज उठा। सब लोगों ने, यथा-विधि भेंट प्रस्तुत की और महाराजा हरिश्चन्द्र ने सबका उचित आदर-सत्कार किया।

राज्याभिषेक के, तत्कालीन सब कार्य निबट जाने पर, सब लोगों की उपस्थिति में, सभा के मध्य खड़े होकर, इंद्र कहने लगे— एक दिन वह था, जब कि मैंने अपनी सभा में महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशंसा की थी और एक दिन आज है, जब कि मैं, उनके सन्मुख ही उनकी प्रशंसा करने के लिये खड़ा हुआ हूँ।

उस समय मैंने जो प्रशंसा की थी, वह उसी प्रकार की थी, जैसे सोने को केवल रङ्ग-रूप देखकर सोना कहना और आज जो प्रशंसा कर रहा हूँ वह वैसी है, जैसे सोने को तपाकर, कूटकर और काटकर परीक्षा करने के बाद सोना कहना। आज, जो प्रशंसा कर रहा हूँ, वह महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा होजाने के बाद कर रहा हूँ। यद्यपि मैं यह जानता हूँ, कि महाराजा हरिश्चन्द्र अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर महारानी तारा की सहायता से ही स्थिर हो सके हैं, और उन्हीं की सहायता से वे सत्य-पालन में समर्थ हुए हैं, लेकिन साथ ही यह भी मुझे मालूम है, कि भारत की स्त्रियें अपने पति के होते हुए, अपनी प्रशंसा की इच्छुक नहीं रहतीं। वे, जो कुछ भी सद्कार्य करती हैं, उसका श्रेय पति को ही देती हैं और पति की प्रशंसा से ही प्रसन्न रहती, तथा पति की प्रशंसा को अपनी ही प्रशंसा समझती हैं। इसलिये मैं, महारानी-तारा की प्रशंसा पृथक् न करके, केवल उन महाराजा-हरिश्चन्द्र की ही प्रशंसा करता हूँ, जिनकी वे अर्द्धांगिनी हैं।

महाराजा-हरिश्चन्द्र के विषय में कुछ कहने से पहले मैं, इस भारत-भूमि और विशेषतः इस अयोध्या की भूमि को धन्यवाद देता हूँ, जिसमें महाराजा हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यधारी राजा विराजते है और जिनकी प्रजा सत्यपालन में उनका अनुकरण करती है। इस भारत और अयोध्या की भूमि की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है।

महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्यपालन की महिमा, पूर्णरूप से वर्णन करने को तो यद्यपि मैं समर्थ नहीं हूँ, तथापि इतना तो मैं कहना ही चाहता हूँ, कि महाराजा हरिश्चन्द्र ने धर्म का मर्म

समझकर ही इतनी कष्ट सहन की तपस्या की है। इन पर, जैसे-जैसे सङ्कट पड़े हैं, साधारण मनुष्य तो उनको सुनकर भी घबरा जायगा। परन्तु ये उन कष्टों को, धैर्यपूर्वक सहते रहे और अपने सत्य से विचलित न हुए। यही कारण है, कि आज मनुष्यलोक में ही नहीं, किन्तु देवलोक में भी इनके सत्य के साथ-ही-साथ इनकी भी प्रशंसा हो रही है। आज, सारा संसार इनके सत्य की सराहना कर रहा है। यदि महाराजा-हरिश्चन्द्र के समान सत्यधारी राजा न होते, तो मैं नहीं कह सकता, कि देवलोक में देवतालोग सत्य के लिये किसका आदर्श सन्मुख रखकर सत्य के गीत गाते। महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य पर मुग्ध होकर, मेरा हृदय यही कहता है, कि सत्यरहित राजत्व की अपेक्षा ऐसे सत्यधारी का, दासत्व भी कई गुना श्रेष्ठ है। सत्यरहित राज्य नर्क की ही प्राप्ति करावेगा, लेकिन सत्यसहित दासत्व, आत्मा को उन्नतावस्था में पहुँचावेगा।

अन्त में, मैं आशीर्वाद देता हूँ, कि महाराजा-हरिश्चन्द्र और इनके सत्य की कीर्ति वैसी ही अनन्त और अटल बनी रहे, जैसा अनन्त और अटल आकाश है। जिस सत्य पर विश्वास करके महाराजा हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे हैं, और जिस सत्य के प्रताप से आज इनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है, उस सत्य पर विश्वास करनेवाले और उस सत्य के पालन में कष्ट से भयभीत न होने वाले लोग, निश्चय ही शुभगति को प्राप्त होंगे।

इस प्रकार सत्य और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करके, हरिश्चन्द्र से विदा माँगकर, इन्द्रादि सब देवता तो देवलोक को गये और विश्वामित्र वन को चले गये।

३१

राज्य और दीक्षा

———०———

संसार का यह नियम है, कि इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर हृदय को अपार आनन्द होता है। इसी के अनुसार आज, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के प्राप्त होने से, प्रजा को भी अपूर्व आनन्द है। इस आनन्द में, सारा नगर प्रफुल्लित हो उठा और वहाँ के निवासी कई दिन तक उत्सव मनाते रहे।

सब लोगों को विदा करके, महाराजा-हरिश्चन्द्र राज्य-कार्य में संलग्न हुए। राज्य में, महाराजा हरिश्चन्द्र के नाम का ढिंढोरा पिट जाने तथा उनकी गगन-स्पर्शी ध्वजा के उड़ने से, चोर, लम्पटादि उसी प्रकार छिप गये, जैसे सूर्योदय से तारे। सब लोग, अपने-अपने कर्त्तव्य का पूर्णतया पालन करने लगे और सत्य-पालन के लिये अपने राजा को आदर्श मान, सत्य में दृढ़ रहने लगे। थोड़े ही दिनों में, सारी प्रजा पुनः सुख-समृद्धि-सम्पन्न होगई।

यद्यपि अयोध्या का राज्य पूर्ववत् ही महाराजा हरिश्चन्द्र के अधिकार में आगया, लेकिन महाराजा हरिश्चन्द्र ने राज्य की आय से स्वयं किंचित् भी लाभ नहीं उठाया। वे, अपने तथा रानी के भरण-पोषण के लिये, पृथक् उद्योग करते और उसी से अपने खाने-पीने आदि का कार्य चलाते।

महाराजा हरिश्चन्द्र ने, अत्यन्त न्यायपूर्वक राज्य किया। उनके राज्य में, अन्याय का तो कोई नाम ही न जानता था। न्यायपूर्वक राज्य करनेवाले राजा की प्रजा सुखी रहती है, अतः महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रजा भी सुखी थी। कहीं भी दुर्भिक्ष या महामारी का नाम सुनाई नहीं देता था। उनका राज्य, मानों मूर्तिमान् शान्ति था। उनकी प्रजा यह नहीं जानती थी, कि दरिद्रता का दुःख कैसा होता है। प्रायः मनुष्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी ही थी। सब जीव ऐसे निर्वैर रहते थे, कि कोई भी किसी को न सताता था।

महाराजा हरिश्चन्द्र के राज्य में, अतिवृष्टि या अनावृष्टि नहीं होती थी, समय-समय पर आवश्यकतानुसार वर्षा हुआ करती थी। सुगन्धयुक्त शीतल पवन, मन्द-मन्द गति से वहा करता था। सूर्य, मर्यादा के अनुसार ही तपता था, न्यूनाधिक नहीं। पृथ्वी सदा हरियाली-पूरित रहती थी, और प्रजा के लिये उत्तमोत्तम अन्न दिया करती थी। वन के वृक्ष, फल-फूलों से लदे ही रहते। गौ आदि दुधारू-पशु, दूध और घृत से प्रजाजनों को सदा प्रसन्न रखते। नदियें, प्रजा को सुख पहुँचाती हुई ऐसी बहतीं, मानों अमृत लेकर बह रही हों। समुद्र, समय-समय पर मणि-मुक्तादि इस प्रकार अपने किनारे डाला करता, जैसे प्रजा को उसकी सद्भावनाओं का पुरस्कार देता हो। सारांश यह, कि महाराजा हरिश्चन्द्र का राज्य, बड़ा ही सुखदायक था। दशो दिशाओं में आनन्द इस प्रकार व्याप्त था, मानों वह महाराजा हरिश्चन्द्र और उनकी प्रजा के अधीन हो। अस्तु।

पहले के लोग, अपनी सारी आयु को संसार के भ्रमजाल में

ही नहीं बिताते थे, अपितु आयु का एक भाग आत्मकल्याण में भी लगाते थे। वैसे तो गृहस्थी में रहते हुए भी, वे आत्मकल्याण की ओर लेजानेवाले कार्य किया करते थे, परन्तु आयु का अन्तिम-भाग, निरन्तर इसी कार्य में लगा दिया करते थे। इसी-लिये, उन्होंने आयु को चार-भागों में विभक्त कर रक्खा था। आयु के प्रथम भाग में, वे ब्रह्मचर्य पालन के साथ विद्योपार्जन किया करते थे। दूसरे भाग में, गृहस्थी के कार्यों का बोझ अपने ऊपर लेकर, गृहस्थाश्रम का संचालन करते थे। तीसरे भाग में, संसार-त्याग का अभ्यास करते थे। और चौथे भाग में, संसार से विरक्त हो, ईश्वर-भजन में तल्लीन हो जाते थे। इन नियमों का पालन न करनेवाला, अधम माना जाता था और सब लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसलिए सब लोग, सन्तान के गृहस्थी का भार वहन करने के योग्य होते ही, गृहस्थाश्रम का त्याग करके विरक्त हो जाते थे। घर में रहकर, सांसारिक-कार्यों में उलझे हुए ही मरना, एक लज्जास्पद और कायरोचित-बात मान जाती थी। उनका सिद्धान्त था:—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया ।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुल परितापाय मनसः ।
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

अर्थात्—विषयों को हम चाहे जितना भोगें, चाहे जितना प्यार करें, किन्तु एक दिन वे निश्चय ही हमसे अलग हो जावेंगे; तब हम स्वयं अपनी इच्छा से ही उन्हें क्यों न छोड़ दें? क्योंकि

जब वे विषय हमको छोड़ेंगे, तब हमें बड़ा दुःख और मनःक्लेश होगा और यदि हम उनको छोड़ देंगे, तो हमें अनन्त सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की, युवावस्था व्यतीत हो चुकी थी। यद्यपि, तेजस्वी होने के कारण युवावस्था के अवसान के कोई चिन्ह इनके शरीर पर दिखाई न देते थे, तथापि ये लोग आज के लोगों की तरह न थे, जो बुढ़ापे को भी जवानी मानकर गृहस्थी में ही फँसे रहते। इन्द्रियों में, किंचित भी शिथिलता आने को, उस समय के लोग वृद्धावस्था का नोटिस समझते और जहाँ आज के लोग, शिथिल इन्द्रियों को पुनः जाग्रत करने, तथा श्वेत-केशों को पुनः श्याम बनाने के लिये औषधियों का प्रयोग करते हैं, वहाँ उस समय के लोग गृहस्थी छोड़कर तपस्या में तल्लीन होजाते थे। इसी के अनुसार, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी-तारा ने भी, गृह-त्याग का विचार किया। इधर रोहित भी बड़े हो चुके थे। राज्य-कार्य सम्हालने की योग्यता भी उनमें आचुकी थी। महाराजा हरिश्चन्द्र ने, रोहित के बड़े होने तक के लिये ही, राज्य करना स्वीकार किया था, इसके अनुसार भी उन्होंने राज्य-त्याग करना उचित समझा।

राज्य-त्याग का विचार करके, महाराजा हरिश्चन्द्र ने, रोहित के राज्याभिषेक की तयारी करवाई। अपने प्रिय राजा-रानी के विचारों से, प्रजा भी सहमत हुई और प्रजावर्ग के बहुत से स्त्री-पुरुष, राजा-रानी के इस कार्य का अनुकरण करने को तैयार हुए।

'यथा राजा तथा प्रजा' इस कहावत के अनुसार, प्रजा उन

कार्यों को विशेष रूप से अपनाती है, जिन्हें राजा करता है। मनुष्य, स्वभाव से ही अनुकरणशील होता है। उसमें भी फिर राजा का अनुकरण करना तो, प्रजा अपने लिये गौरव की बात समझती है। राजा के प्रत्येक-कार्य का, प्रजा अनुकरण करने लगती है, फिर चाहे वे कार्य अच्छे हों, या बुरे। कौन-सा कार्य अच्छा अथवा बुरा है, इस बात के विचार का भार राजा के ऊपर समझकर, जिन कार्यों को राजा करता है, उन्हें करने में प्रजा किञ्चित भी नहीं हिचकिचाती। कार्य की अच्छाई-बुराई पर विचार करने की बुद्धि, प्रजा-जनों में से बहुत कम लोगों में होती है। इसलिये पहले के राजालोग, प्रत्येक कार्य ऐसे रूप में करते थे, जिनका अनुकरण करने से प्रजा को किसी प्रकार की हानि न हो। हाँ, लाभ अवश्य हो। झूठ, व्यभिचार, हिंसा, मादकता आदि बुरे कामों को, वे अपने पास भी न फटकने देते थे। यही कारण था, कि राजा के कार्यों का अनुकरण करने पर प्रजा, इहलौकिक आनन्द प्राप्त करने के साथ ही, पारलौकिक आनन्द भी प्राप्त करती थी।

निश्चित-समय पर महाराजा हरिश्चन्द्र ने, राज्यासन पर कुमार रोहित को बैठाकर उनका राज्याभिषेक किया। कुमार रोहित के राजा होने से, सारी प्रजा प्रसन्न हो उठी और महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगी। राज्याभिषेक की समस्त विधियें निपट जाने पर, रोहित को राजदण्ड सौंपते हुए महाराजा-हरिश्चन्द्र कहने लगे—"आज बड़े हर्ष की बात है, कि मैं राज्य और गृहस्थी का भार कुमार रोहित को सौंप, महारानी तारा सहित इस कार्य से मुक्त होकर, शेष जीवन ईश्वर-भजन में व्यतीत करने के लिये

वन को जारहा हूँ। रोहित, यद्यपि स्वयं एक चतुर और प्रजा-प्रिय शासक सिद्ध होंगे, तथापि पिता होने के कारण मेरा कर्तव्य है, कि मैं इन्हें सिखावन के लिये कुछ कहूँ। इसलिये मैं, रोहित को अपनी ओर से यह सिखावन देता हूँ, कि राजा के लिये प्रजा पुत्रवत है। जिस प्रकार, पुत्र के सुख-दुःख आदि का ध्यान रखना तथा दुःख दूर करके सुख पहुँचाना पिता का कर्त्तव्य है, इसी प्रकार प्रजा का भी कर्तव्य है, कि वह प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता रखकर, उसका दुःख दूर करे। जो राजा, अपनी प्रजा का दुःख दूर करने में असमर्थ होता है, या इस ओर उपेक्षा-भाव रखता है, वह अयोग्य समझा जाता है। इसलिये राजा को, प्रजा का दुःख दूर करने में कदापि शिथिलता न करनी चाहिये। प्रजा के सुखी रहने पर ही, राजा सुखी रह सकता है; अन्यथा कदापि सुखी नहीं रह सकता। इसके सिवा, प्रत्येक व्यक्ति का दान-मान से सम्मान करना भी राजा का कर्तव्य है। जो राजा, दान करना और आने-जानेवाले का सम्मान करना नहीं जानता, वह भी अ-योग्य माना जाता है।"

"अन्त में, यही कहता हूँ, कि प्राण चाहे चले जावें, परन्तु सत्य और धर्म को कदापि हाथ से न जाने देना। सत्य और धर्म के रहने पर, और सब वस्तुएँ फिर प्राप्त हो सकती है; परन्तु इनके न रहने पर, ये संसार की जड़-वस्तुएँ किसी काम की नहीं हैं। बिना सत्य और धर्म के ये सांसारिक-वस्तुएँ इस लोक में तो दुःखदाता होंगी ही, परन्तु परलोक मे भी दुःखदाता ही होंगी।"

"मैं, प्रजा को रोहित के और रोहित को प्रजा के हाथों सौंप

रहा हूँ। आशा है, कि दोनों एक-दूसरे से सहयोग रखकर, सत्य-धर्म-पूर्वक राज्य की व्यवथा करेंगे।"

राजा का कथन समाप्त होते ही, प्रजा ने हर्ष-पूर्वक हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित की जय-ध्वनि की। महल से निकलकर, प्रजा-सहित महाराजा हरिश्चन्द्र रोहित और महारानी तारा, नगर के बाहर आये। महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा का अनुकरण करने के लिये, अनेक स्त्री-पुरुष भी अपनी गृहस्थी छोड़कर इनके साथ हो लिये थे।

नगर के बाहर आकर, अनेक स्त्री-पुरुषों के साथ महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी-तारा ने दीक्षा धारण की। कुमार रोहित तथा प्रजा, इनके राजसी वेश को, साधुओं के वेश में परिणत देख, इनकी जय-ध्वनि करने तथा इन्हें धन्यवाद देने लगी। इस प्रकार वैराग्य धारण करके, अपने सहयोगी स्त्री-पुरुषो सहित, महाराजा-हरिश्चन्द्र और महारानी तारा दो भागों में विभक्त होकर, वन को चल दिये। वन में पहुँचकर, दोनों ने खूब तपस्या की। शुक्ल-ध्यान को ध्याकर, दोनों ने केवल ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में सिद्ध-गति को प्राप्त हुए।

माता-पिता आदि को, वन की ओर बिदा करके, प्रजा सहित महाराजा रोहित नगर को आये। प्रजा, महाराजा रोहित के राज्याभिषेक और महाराजा-हरिश्चन्द्र आदि के दीक्षा धारण करने के उपलक्ष्य में, कई दिन तक आनन्दोत्सव मनाती रही। महाराजा हरिश्चन्द्र के पश्चात्, महाराजा रोहित, अपने पिता की ही तरह सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए न्यायपूर्वक राज्य करने लगे। इन्होंने भी ऐसा अच्छा शासन किया, कि प्रजा को महाराजा हरिश्चन्द्र के राज्य-त्याग से, किञ्चित भी दुःख न हुआ।



उपसंहार

पाठकगण ! यह तो पहले ही कहा जा चुका है, कि चरित्र कहने-सुनने का तात्पर्य यह है, कि चरित्र में वर्णित अच्छे कार्यों का अनुसरण और बुरे कार्यों का त्याग किया जाय। इस कथन का तात्पर्य केवल यही नहीं है, कि महाराजा-हरिश्चन्द्र और महारानी-तारा के चरित्र का अनुकरण करने के लिये, आपलोग भी अपने गृहादि को दान कर दें, या दूसरे के दास होकर रहें। सत्य के लिये, यदि ऐसा हो सके, तब तो अच्छा ही है, लेकिन ऐसा न हो सकने के कारण, सत्य से ही वञ्चित रहना उचित नहीं है। जिस आकाश में गरुड़पक्षी उड़ता है, उसी में एक पतङ्ग को भी उड़ने का अधिकार है। यह बात दूसरी है, कि वह उड़ने में गरुड़ की समानता न कर सके; लेकिन समानता न कर सकने के कारण से, उड़ना बन्द नहीं करता। इसी तरह, जिस सत्य को महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के समान उच्च व्यक्तियों ने पाला है, उसी सत्य को, साधारण-से-साधारण मनुष्य भी पाल सकता है। यह बात दूसरी है, कि आज के मनुष्य महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की तरह त्याग न दिखला सकें;

लेकिन, इसी कारण से सत्य का पालन न करना, कदापि उचित नहीं कहला सकता। उन्होंने, भयङ्कर-से-भयङ्कर कष्ट सहते हुए भी सत्य न छोड़ा, तो उनके आदर्श को सन्मुख रख, कम-से-कम आप साधारण कष्टों से भयभीत हो, सत्य को नहीं छोड़ें; या जहाँ कष्ट होने का कोई भय नहीं है, वहाँ तो सत्य का त्याग न करें।

महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ने, यदि सत्य पाला था, तो उससे आपको कोई लाभ नहीं हो सकता। उसका लाभ तो उन्हीं को मिला है। आपको तो तभी लाभ हो सकता है, जब आप स्वयं सत्य का उपयोग करें। कार्यों का अच्छा या बुरा फल, कर्ता को ही प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं। यदि कर्ता ने अच्छे कार्य किये, तो उनके सुन लेने मात्र से, सुननेवाले को लाभ नहीं होता। लाभ तो उस अच्छाई के ग्रहण करने और तदनुसार आचरण करने से ही होता है। इस चरित्र का वर्णन इसी आशय से किया गया है, कि लोग सत्य के महत्व को समझ, असत्य से दूर रहें। महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ने, जिस सत्य के द्वारा अपने जीवन का कल्याण किया है, उस सत्य को अपनानेवाले का सदा कल्याण-ही-कल्याण है।



शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

क्या आप जानते हैं—

किन-किन पुस्तकों का अध्ययन लाभकारी है ?

यदि नहीं, तो

सुनिये—

अध्ययन उन्हीं पुस्तकों का होना चाहिये, जिनसे लौकिक-जीवन नीतिमय और पारलौकिक-जीवन सुखमय बने।

इसी दृष्टिकोण से—

मण्डल, पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यानों को संग्रह करा कर, उनमें से पुस्तकें प्रकाशित कर रहा है। मण्डल अपने यहाँ से प्रकाशित पुस्तकों को—

छपाई और कागज की लागत मात्र में देता है।

मण्डल की इस योजना को प्रोत्साहन देने के लिए

आप आज ही एक कार्ड लिखकर मण्डल के स्थायी ग्राहकों में अपना नाम लिखा दीजिये।

बस !

मण्डल से जो पुस्तक प्रकाशित होगी, वह तत्क्षण आपके पास पहुँच जाया करेगी। मण्डल के स्थायी ग्राहक बनने में कोई फीस नहीं देनी पड़ती।

विशेष विवरण जानने के लिये पास ही लगा हुआ—

मण्डल का परिचय पढ़िये।

मण्डल में—

निम्न पुस्तकें विक्रयार्थ तयार हैं—

(१)	श्रावक का अहिंसा व्रत द्वि० आ०	मूल्य ।)
(२)	सकडाल पुत्र श्रावक द्वि० आ०	,, ।)
(३)	धर्म व्याख्या	विना मूल्य
(४)	सत्य व्रत	मू० ≡)
(५)	सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र-तारा	,, ।)
(६)	अस्तेय व्रत	,, =)
(७)	सुवाहुकुमार	,, ।)
(८)	श्रावक का ब्रह्मचर्य व्रत छप रहा है	
(९)	पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज का जीवन-चरित्र(सजि०)	१)
(१०)	अनुकम्पा विचार	मूल्य ।।)
(११)	वैधव्यदीक्षा	,, –)
(१२)	शालिभद्र-चरित्र (तीनों भाग)	,, ।≡)
(१३)	मिल के वस्त्र और जैन धर्म	,, –)
(१४)	जैन-धर्म में मातृ-पितृ-सेवा	,, –)

यदि कोई सज्जन व्याख्यानों में से सम्पादित पुस्तकें छपाना चाहें, तो मण्डल से पत्र-व्यवहार करें।

सब प्रकार के पत्र-व्यवहार का पता—

सेक्रेटरी,

श्री साधुमार्गी जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल,

रतलाम (मालवा)।

श्री साधुमार्गी जैन,

पूज्य श्री हुकमीचन्दजी महाराज

की सम्प्रदाय का हितेच्छु

श्रावक मण्डल रतलाम

का

परिचय

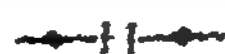


मण्डल की स्थापना।

इस मण्डल की स्थापना सम्वत १९७८ मे उक्त सम्प्रदाय के मुख्य-मुख्य हितेच्छु श्रावकों द्वारा हुई थी।

उद्देश्य।

समाज के समस्त श्रावक श्राविकाओं और साधु साध्वियो मे प्रेम-भाव की वृद्धि करना, आचार विचार को शुद्ध रखने का प्रयत्न करना तथा ज्ञान वृद्धि के कार्यों का सम्पादन करना।



वर्ग के सदस्यों को केवल द्रव्य की व्यवस्था के विषय में सम्मति देने का अधिकार न होगा। शेष अधिकार सब सदस्यों को समान होंगे।

(४) सदस्य तभी हो सकेंगे, जब मण्डल के कोश में रुपया जमा कर दें। रुपया जमा करने के पहिले सदस्यों में गणना न होगी।



व्यवस्था

(१) मण्डल के कार्य की व्यवस्था मण्डल की कमेटी द्वारा नियुक्त प्रेसीडेण्ट और सेक्रेटरी करते हैं। इस समय मण्डल का आफिस रतलाम में है और प्रेसीडेण्ट सेठ वरदभानजी पीतल्या तथा सेक्रेटरी श्री० बालचन्दजी श्रीश्रीमाल हैं। ये दोनों सज्जन अवैतनिक रूप से कार्य संचालन करते हैं।

(२) मण्डल की बैठक में स्वीकृत नियमों के अनुसार कार्य होता है।

(३) मण्डल के कोश में जमा रकम का ब्याज उपजाया जाता है। इस समय मण्डल के कोश में लगभग ३२०००) रु० हैं, जिसका ब्याज लगभग १८००) रुपया वार्षिक आता है।

(४) मण्डल की वार्षिक बैठक आश्विन या और किसी

मास में अनुकूलतानुसार भिन्न-भिन्न स्थान पर होती है। इसमें गत वर्ष का हिसाब सदस्यों को बताया जाता है और आगामी वर्ष के लिए कार्यक्रम का निर्णय होता है।

(५) मण्डल की मासिक रिपोर्ट प्रतिमास के अन्त में **'निवेदन पत्र'** नाम से प्रकाशित होती है। यह रिपोर्ट मण्डल के प्रत्येक सदस्य के पास पहुँचाई जाती है। इसमें मण्डल के कार्य के ब्योरे के साथ-साथ सन्त सतियों की तपस्या विहार उपकार आदि के समाचार भी रहते हैं। सदस्यों से इस रिपोर्ट का कोई मूल्य नहीं लिया जाता।



कार्यक्रम

(१) पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज चातुर्मास में जो व्याख्यान फरमाते हैं, उनका संग्रह कराया जाता है और शेष आठ महीनों में उन व्याख्यानों में से पुस्तकों का सम्पादन कराकर पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं। पुस्तकों की छपाई आदि तो पुस्तकों के मूल्य से निकल आती है, शेष व्याख्यान के संग्रह और पुस्तकों के सम्पादन आदि कार्य में लगभग १०००) रुपया प्रति वर्ष मण्डल के कोश से व्यय होता है।

(२) [illegible] ज्ञान पाठशाला को ३०) रुपया मासिक सहायता दी जाती है।

(३) ब्यावर विद्यालय को २००) रुपया मासिक सहायता दी जाती है। शेष २००) रु० मासिक की सहायता श्री सेठ [illegible] जी ब्यावर वाले स्वयं अपने पास से करते हैं।

ये दोनों कार्य बहुत उपयोगी हैं।

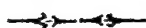


धार्मिक परीक्षा बोर्ड

इस समाज में और खासकर इस मंडल के सदस्यों की तरफ से कई एक ज्ञानोन्नति विषयक संस्थाएँ (विद्याभवन) चल रही हैं, परन्तु उनका निरीक्षण करके उत्साह बढ़ाने वाली परीक्षाबोर्ड जैसी समिति की कमी थी। वह मंडल ने "धार्मिक परीक्षा बोर्ड" कायम करके पूर्ण की है। गत वर्ष (सं० १९८६ में) इस संस्था से करीब १७५ विद्यार्थियों ने लाभ लिया था और बहुत से विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर अभ्यास में आगे बढ़े हैं। मंडल ने सभी उत्तीर्ण विद्यार्थियों को पारितोषिक व प्रमाणपत्र दिये हैं।

अपील

मण्डल के कोष में जो धन हैं, वह इतना कम है कि उसके सूद से मण्डल का व्यय पूरा नहीं पड़ता। इसलिये मण्डल के मूल धन में से लगभग ८००) रुपये प्रति वर्ष व्यय हो जाते हैं। ऐसी दशा में यह संस्था कब तक चल सकेगी, यह विवेकीजन भली प्रकार समझ सकते हैं। धन की कमी के कारण और भी कई उपयोगी कार्य रुके हुए हैं। इस समाज में अनेक धनी और उदार सज्जनों के होते हुए, उनके समाज की एक मात्र संस्था इस शोचनीय दशा में रहे, इससे अधिक खेद की बात क्या होगी। **अतः हम धर्मानुरागी सम्प्रदाय के अनुयायी एवं हितैषी सज्जनों से अपील करते हैं कि वे इस संस्था के सदस्य बन कर इसे चिरस्थायी बनाने में सहायक हों।**



मण्डल का प्रकाशन

पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानों में से अब तक निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

१ **श्रावक का अहिंसा व्रत**। इस पुस्तक में

हिंसा अहिंसा के भेद, हिंसा के कारण और उनसे बचने के उपाय तथा हिंसा के अतिचारों का भली प्रकार निदर्शन कराया गया है। मूल्य ।) मात्र

(२) सकडाल पुत्र श्रावक की कथा। इस पुस्तक में गृहस्थ श्रावक की भावनाएँ उनकी कार्यशैली आदि का ज्ञान कराया गया है। मूल्य सजिल्द पुस्तक का ।=) मात्र

(३) धर्म व्याख्या। इस पुस्तक में गृहस्थ श्रावक को उनके धर्मों का भली प्रकार ज्ञान कराया गया है और यह भी बताया गया है कि वे राजनीति में कहाँ तक भाग ले सकते हैं।

बिना मूल्य।

(४) श्रावक का सत्यव्रत। इस पुस्तक में सत्य असत्य के भेद, सत्य से क्या लाभ है और झूठ से क्या हानि है, शास्त्र के प्रमाणों सहित बताया गया है। साथ ही असत्य के अतिचार भी बताये गये हैं। मूल्य =) मात्र।

(५) हरिश्चन्द्र-तारा। इस पुस्तक की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है। ३५० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ।) मात्र।

पुस्तकें मिलने का पता—

१—सेक्रेटरी श्री साधुमार्गी-जैन पूज्यश्री हु
चन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हि
श्रावक-मण्डल रतलाम

२—पं० शंकरप्रसादजी दीक्षित (जहां पू
जवाहिरलालजी महाराज विराजमान ह

३—सेठ अगरचंदजी भैरोंदानजी सेठिया वी
